ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक-२५

सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ZINDAGI MUSKARAI
(Essays)
KANHAIYALAL MISHRA
'PABHAKAR'
Bharatiya Jnanpith
Publication
Third Edition 1964
Price Rs. 4.

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
तृतीय संस्करण १९६४
मूल्य चार रुपये

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

एकताके उन प्रथम प्रतिनिधियोंको

- मनुष्य जंगलमें जन्मा, वहीं पनपा और रहता रहा। कुछ पेड़, कुछ झरने, कुछ कन्दराएँ, बस, यही इतनी-सी उसकी दुनिया !
- गुट बने, क़बीले आये, गधे-घोड़ोंका उपयोग हुआ और मनुष्यकी दुनिया कुछ चौड़ी हो गयी !
- यों ही वह नगर और प्रदेशको पार करता देशवासी हुआ – देशकी सीमा तक फैल गया !
- भारतके भिक्षुओं, हुएनसांग-जैसे यात्रियों और कोलम्बस-जैसे वीर खोजियोंकी जय कि वे मनुष्यको विश्वका नागरिक बना गये !
- भारतके ज्योतिषाचार्योंका अभिनन्दन कि उन्होंने धरतीपर जीते-जागते मनुष्योंको आकाशका परिचय ही नहीं दिया, उसके साथ उनका जीवन-सूत्र भी जोड़ दिया !
- क्या मनुष्यकी यह यात्रा यहाँ पूर्ण हो गयी ?
- ना, यह यात्रा तब पूर्ण होगी, जब धरतीके मनुष्यका आकाशके वासियोंसे, लोकका परलोकसे सीधा, साक्षात् और साधारण – आना-जाना, मिलना-जुलना – सम्बन्ध जुड़ जायेगा !
- और तभी किसी दिन होगा यह भी सम्भव कि इस लोककी होगी कोई कन्या और उस लोकका कोई कुमार और वे दोनों परस्पर विवाह-सूत्रमें बँध लोक-परलोककी एकताके प्रथम प्रतिनिधि होंगे। तब लोकके लिए परलोक न भयका कारण रहेगा न प्रलोभनका !
- बस, मेरी यह कृति, हृदयके सम्पूर्ण प्यार और सुखके साथ उसी प्रथम अन्तर्लोक दम्पतिको सादर समर्पित !

पहली अगस्त १९५३ — क० ला० 'प्रभाकर'

तीसरे जन्मपर

- 'ज़िन्दगी मुसकराई'के तीसरे जन्मपर मैं अपने पाठकोंको अपना अभिवादन भेंट करता हूँ; क्योंकि उन्होंने इस लांछनको झूठा सिद्ध कर दिया है कि हिन्दीके पाठक ख़रीदकर पुस्तक नहीं पढ़ते ।
- कहा जाता है हिन्दीमें १००० पुस्तकोंका छोटा संस्करण भी वर्षोंमें नहीं बिकता और दूसरा संस्करण होना, दूसरा जन्म पाना ही समझा जाता है, पर दस वर्षोंमें 'ज़िन्दगी मुसकराई'के तीन मोटे संस्करण हो गये और विद्वानोंने भी उसपर भरपूर और निरन्तर अपने प्यारके फूल बरसाये – जगदीशजीके शब्दोंमें 'ज़िन्दगी मुसकराई' सचमुच ख़ूब मुसकराई ।
- प्रचार और प्यार पानेके साथ ही १९५३ में लिखा 'ज़िन्दगी मुसकराई'-का समर्पण १९६२-६३ में एक चमत्कार ही सिद्ध हुआ और जब प्रथम अन्तरिक्ष-यात्री यूरी गगारिनको भारत यात्राके समय वह सुनाया गया, तो उसकी विस्मयविमुग्ध ख़ुशी उसके होठोंसे आँखों तक फैल गयी । स्मरणीय है कि इसी समर्पणको १९५३ में कुछ लोगोंने ख़याली पुलाव कहा था ।
- 'ज़िन्दगी मुसकराई' असलमें कोई पुस्तक नहीं, जीवनकी 'रिफाइनरी' (संशोधनशाला) है, जिसमें जीवन शुद्ध हो, उद्‌बुद्ध होता है । इसीकी शाखाएँ हैं – बाजे पायलियाके घुँघरू, माटी हो गयी सोना, महके आँगन चहके द्वार, दीप जले शंख बजे और ज़िन्दगी लहलहाई ।
- हम सब इस विचारयज्ञमें भागीदार हों, अपने महान् राष्ट्रकी श्रेष्ठ नागरिकताके स्वस्थ अंग बनें, यही मेरे जीवनयज्ञकी कृतार्थता है ।

– लेखक

अनुक्रम

पृष्ठभूमि

भाई ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' जन्मजात कवि थे। वे कवि थे, गायक थे, लिखते और गाकर सुनाते। समा बँध जाता और हम लोग एक स्वर्गीय विभूतिकी तरह उन्हें टुकर-टुकर देखा करते, देखते रह जाते।

जीमें आता, एक गहरी मसमसाहट नसोंमें उठती कि काश, मैं भी लिख पाता ऐसा ही कुछ, पर कुछ लिख न पाता।

एक दिन एक सुन्दर-सी कॉपी खरीदी और उसमें शिशुजीकी कुछ कविताएँ लिख लीं। लिख नहीं सकता, तो पढ़ तो सकता था। जाने कितनी बार मैं उन्हें पढ़ता-पढ़ता झूम उठता, भूल जाता कि ये मेरी नहीं हैं और यह झूम ढीली पड़ती, तो तड़फ उठता कि हाय ये मेरी नहीं हैं। एक अजीब नशा था, जो चढ़ावमें हाथों उठाता, तो उतारमें हाथों पटकता भी।

सन् १९२४, सर्दियोंकी रात, देवीकुण्डका एक जंगल, दो बजेका समय और मैं संस्कृतकी मध्यमा परीक्षाका विद्यार्थी। सब सोये पड़े और मैं जाग रहा। उठकर बाहर आया, तो एक अजब सन्नाटा। लौटकर फिर कोठरीमें आया, तो पढ़नेमें जी न लगा। गलेमें गुनगुनाहट, दिमाग़में जाने क्या और यह मैंने लिखी आठ-दस पंक्तियाँ। लय कुछ ग़ज़लकी-सी, भाव कुछ प्रार्थनाके-से। आज सोचता हूँ, तो मामूली-सी तुकबन्दी, पर उस दिन तो उसे लिखकर, मैं कालिदास, मैं रवीन्द्रनाथ और मैं स्वर्गका इन्द्र! जाने कितनी बार मैंने उन पंक्तियोंको गाया, दोहराया, गुनगुनाया, देखा, पढ़ा, चूमा और उछाल दिया। ओह, मैं अब कवि हूँ, स्वयं कवि, मुझे क्या ज़रूरत कि भाई साहबकी कविताएँ कॉपीमें नक़ल करूँ? अब अपनी ही कविताएँ कॉपीमें लिखूँगा।

एक काग़ज़पर मैंने बहुत-बहुत साफ़ उसकी नक़ल की और एक पत्रके

साथ लिफ़ाफ़ेमें रख, वह किसीके हाथों शिशुजोके पास भेज दी। दिल धड़कता रहा, पर उसी दिन उनका पत्र मुझे मिल गया।

बहुत खुश हुए थे भाईसाहब, बहुत तारीफ़ की थी उन्होंने, मेरे भविष्यके मनसूबोंसे उनका मन भर उठा था और अन्तमें उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसका यह सार मुझे याद है : "साहित्यिककी सफलताका रहस्य इस बातमें नहीं है कि वह कितने अच्छे भाव संग्रह करता है, कितनी अच्छी तरह उन्हें लिखता है। भाव तो भगवान्के हैं, आकाशमें भरे हुए हैं। साहित्यिककी सफलताका रहस्य यह है कि वह अपनेको कितना निर्मल, कितना सरस, कितना सरल बना पाता है, जिससे वह उन भावोंको ग्रहण करनेका पात्र बन सके। गाना तो रेकॉर्डोंमें भरा ही है, जिसका ग्रामोफ़ोन जितना अच्छा होगा, उसका गाना उतना ही मधुर सुनाई देगा। तुम अपना ग्रामोफ़ोन यानी मानस अच्छा रखो, गाना तो फिर खुद ही अच्छा होगा।"

चिट्ठी पढ़कर उस दिन तो बस मैं मस्ता गया – पर आज सोचता हूँ, एक बालकको दी गयी थपथपी थी। अब मेरा हाल यह कि विद्यार्थी पढ़ा रते अपना पाठ, मैं सोचा करता कविताकी पंक्तियाँ, वे लिखते अपनो क्षाके कल्पित प्रश्नपत्र, मैं लिखता नयी कविताएँ – रात-दिन मुझे कविताकी ी। मैंने सैकड़ों शब्दोंमे-से चुनकर अपना उप-नाम भी रख लिया था– ाकर; क्योंकि मैं अपनी दृष्टिमें उन दिनों सूर्यके समान तेजस्वी था! इस ह कविताओंसे मेरी कॉपी भरती गयी, पढ़ाईका चसका कम होता गया और नेहायत शानके साथ जीवनमें पहली बार फ़ेल हो गया, पर सच कहूँ, मेरी ृष्टिमें उन कविताओंका तब इतना महत्त्व था कि अपना फ़ेल होना, मुझे ज़रा भी न अखरा और अपनी बैलेन्सशोटको मैं लाभकी ही मानता रहा।

एक दिन मैंने उन कविताओंको एक जगह करनेके लिए स्वयं एक कॉपी बनायी और रंगीन काग़ज़ोंके कई फूल काटकर उसपर चिपकाये। शिशुजी

अपनी कॉपियोंमें भूमिका भी लिखा करते थे। मैंने भी भूमिका लिखनी शुरू की, तो क़लम ऐसी चली कि पूरे आठ पेज़ लिख गया। इन पृष्ठोंमें मेरी कविताओंकी पृष्ठभूमि और जाने क्या-क्या बताया था। यह भूमिका पढ़कर मैंने स्वयं अनुभव किया कि मेरा गद्य मेरे पद्यसे तगड़ा है और इस तरह अब मैं पद्यके साथ-साथ गद्य भी लिखने लगा। इन्हीं दिनों मैंने श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'नन्दन-निकुंज' पढ़ा, तो मैं उसकी भाषा-तरंगोंमें बह-बह गया और मेरी भाषापर उसका प्रभाव भी पड़ा – वह मँज चली और मुझे तो अपने लेख बहुत ही अच्छे लगने लगे।

इस सफलताके साथ मुझपर एक मुसीबत भी आ बरसी। मैं अब अपनी दृष्टिमें एक महान् लेखक बनता जा रहा था, पर कोई सम्पादक मुझे अपने पुट्ठे हाथ न रखने देता था। मैं बहुत साफ़ लिखकर अपनी रचना उन्हें भेजता। उत्तरके लिए टिकिट रखता। साथके पत्रमें सम्पादक-जीको प्रसन्न करनेके लिए भिन्न-भिन्न प्रयोग करता।

उदाहरणके लिए, मैं पत्रकी वी० पी० भेजनेको लिखता और उनके बहुत-से ग्राहक बनानेका आश्वासन भी उन्हें देता। उनकी सम्पादन-नीति-को प्रामाणिक बताता, सम्पादनको असाधारण, दूसरे पत्रोंसे उनके पत्रकी तुलना करके उनको श्रेष्ठ सिद्ध करता, उनके ख़ास लेखों और पुरानी सम्पा-दकीय टिप्पणियोंकी प्रशंसा करता, अपने मित्रोंसे मैंने उनकी कब-क्या तारीफ़ की या अपने किस भाषणमें मैंने उनका ज़िक्र (कोरी गप्प !) किया और उसका श्रोताओंपर क्या प्रभाव पड़ा, यह सब लिखता। बिना जान-पहचान-के ही झूठ-मूठ कई सम्पादकोंको अपना मित्र बताता, वहाँ जो मेरी रचनाएँ छपनेवाली हैं, उनका नामोल्लेख करता, मैं आज-कल अपने नगरमें साहित्यिक जागरणके लिए जो रात-दिन जी-तोड़ मिहनत कर रहा हूँ, उसकी झूठी तसवीरें खींचता, सम्पादकका रोब ग़ालिब होता, तो उसकी ख़ुशामद करता, उसे ही अपना निर्माता बताता कि कैसे उनके किस लेखटिप्पणीसे मेरा मानस-कपाट खुल गया है और तब संशोधन करके अपने लेख छापनेकी

प्रार्थना करता, उनके पत्रके जो ग्राहक मैंने बनाये हैं, उनके नम्बर-पते लिखता, एजेन्सीके नियम पूछता, नये लेखकोंके सम्बन्धमें उनका कर्तव्य उन्हें बताता, अपने नगरमें होनेवाले किसी भावी महोत्सवमें उन्हें सभापति बनानेकी बात कहता, उनके नये वर्षपर उन्हें बधाई देता और संक्षेपमें उनकी हर अनुमानित कमज़ोरीपर सेक लगाता और अपनी हर कल्पित विशेषताकी घोषणाएँ छौंकता – यह भी लिखता कि मैं शीघ्र ही स्वयं एक पत्र निकालने-का आयोजन कर रहा हूँ, जिसका पहला लेख आपसे ही लिखाऊँगा।

ग़रज़ और लिप्सामें फँसकर आदमी कितना धूर्त हो जाता है, पर यह सारी धूर्तता बेकार थी, क्योंकि इस सबका जो फल मुझे मिलता था, वह था : 'रिटर्न विद थैंक्स' अर्थात् धन्यवादके साथ मेरी रचना वापस आ जाती थी।

मैं उसे देखता, काँप उठता, दुःखी होता, कभी-कभी रो भी पड़ता, मेरा दिल टूट जाता, मुझे गुस्सा आता, मैं आप-ही-आप गालियाँ देता, कोसता, कार्यालयमें पहुँचकर सम्पादकके मुँहपर उसकी दावात उलटनेके मन्सूबे बाँधता, अपनी रचना फाड़ डालता, भोजन न करता, गुम-सुम पड़ा रहता और अन्तमें फिर अपनेको समेटता, सँभालता और किसी दूसरे सम्पादकपर निशाना बाँधता।

मेरा पहला निशाना जहाँ फ़िट बैठा, वे थे परम श्रद्धेय श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी।

'प्रताप' में आयुर्वेदकी उन्नतिपर एक आचार्यका लेख छपा। उसपर किसी दूसरे विद्वान्ने एक पूरक नोट लिखा। मैं आज सोचता हूँ कि मुझे न आयुर्वेदके सींगका पता, न पूँछका, पर उन दिनों तो मैं सर्वज्ञ था। मैंने उसपर एक तीसरा लेख लिखा और 'प्रताप' में छपनेको भेज दिया। क्या कहूँ, मेरी ज़िन्दगीका वह सबसे बेचैन सप्ताह था, क्योंकि मैंने गणेशशंकरजी-की इतनी प्रशंसा और खुशामद की थी कि क़लम ही तोड़ दी थी। जाने

कितनी बार मैंने उस दिनके बारेमें सोचा, दूसरोंसे पूछा और तब कहीं मुश्किल तमाम सोमवार आया। डाकखाने गया, 'प्रताप' आया, बाँसों उछलते दिल उसे खोला, खोजा, पर उसमे कहीं मेरा लेख न था। जीवनकी वह सबसे बड़ी असफलता थी – ऐसा धक्का मुझे फिर बादमें भी कभी नहीं लगा। धरती घूम गयी; आकाश टूट गिरा और घर आया, तो हिचकियों रोया।

रोकर सो गया, सोकर उठा, तो वही उधेड़-बुन। दोनों लेख पढ़कर अपना लेख पढ़ा और क्या बताऊँ, मुझे तो अपना ही लेख सर्वोत्तम जँचा। मैंने उसकी फिर नक़ल की और गणेशशंकरजीको एक पत्र लिखा। इस पत्र-में उनकी महत्ताके गुब्बारे थे, तो उनके सहकारी सम्पादकोंकी अज्ञानताके नारे भी थे। कहा था : वे लोग रचनाओंका महत्त्व नहीं समझते, सिर्फ़ प्रसिद्ध लेखकोंका नाम देखकर ही लेख-वेख छाप देते हैं। सावधान किया गया था कि इससे आपके यशमें धब्बा लगता है ओर 'प्रताप'को बहुत नुक़-सान होता है। अपने लेखको पूर्ण, उपयोगी और सर्वोत्तम कहा गया था। यह पत्र रजिस्ट्रीसे उनके नाम भेजा गया था : आशा है यह पत्र आपको निजी समयमें मिलेगा और मुझे अपने सहकारियोंके अत्याचारसे बचा सकेंगे। उस समय यद्यपि बेचारे कन्हैयालालजी मध्यमाके चतुर्थ खण्डकी परीक्षामें फेल हुए विद्वान् थे, पर अपने प्रहारको पूरी शक्ति देनेके लिए लेखके नीचे लिखा गया था : लेखक कन्हैयालाल मिश्र शास्त्री।

लिफ़ाफ़ा भेजा, तो साँस आया – 'अब देखूँगा कि ये टुटपूँजिए सहकारी कैसे मेरा लेख रोकते हैं!'

पाँचवें दिन एक कार्ड आया। छोटे-छोटे अक्षरोंमें स्वयं गणेशशंकरजीने लिखा था : तुम्हारी बातोंसे सहमत नहीं हूँ, पर तुम्हारे उत्साहकी क़द्र करता हूँ। लेख ठीक करके दे दिया है, इसी अंकमें जा रहा है। मैं भविष्य-वाणी करता हूँ कि तुम शीघ्र ही एक प्रसिद्ध लेखक हो जाओगे।

रोम-रोममें ख़ुशी फूट निकली और सोमवार तो अगला युग ही हो गया। डाकख़ाने गया, 'प्रताप' आया, वहीं खोला, अपना छपा नाम देखा

और 'प्रताप'का वह अंक अगले सप्ताह तक अधिकसे अधिक जितने आदमियोंको दिखा सकता था, दिखाता फिरा।

मुझे आज तक खूब याद है – अट्ठाईस रुपयेके टिकिट खराब करनेके बाद मेरी ये पहली पंक्तियाँ छपी थीं, पर मुझे अब कोई दुःख न था – मेरी रक़म सूदसहित वसूल हो चुकी थी।

'प्रताप'में नाम छपनेसे छपासका जो बुखार कुछ उतर गया था, वह पूरे ज़ोरसे फिर चढ़ आया। अब सम्पादकोंपर रोब जमानेकी एक नयी तरकीब मेरे हाथ आ गयी थी – 'प्रताप'में आपने मेरा लेख पढ़ा होगा और इससे भी बढ़कर कभी-कभी तो यहाँतक – 'प्रताप'में तो आप मेरे लेख पढ़ते ही होंगे।

अनुभवने बताया कि 'प्रताप'में लेख छपनेका दूसरे सम्पादकोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और इससे वे मुझे लेखक माननेको तैयार न हुए। मैं इससे बहुत परेशान था कि मेरी कविताएँ और लेख जब इतने उत्तम है, तो फिर ये सम्पादक मेरा व्यापक बाईकाट क्यों किये जा रहे हैं ?

उन्हीं दिनों मेरे साहित्यिक जीवनकी एक महान् घटना हुई कि 'माधुरी'में उर्दूके महाकवि अकबरपर एक लेख छपा और उसीमें उनका यह शेर भी :

"लगी चहकने जहाँ भी बुलबुल, हुआ वहीं पर जमाल पैदा,
कमी नहीं क़द्रदाँ की 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा !"

इन पंक्तियोंने मुझे बिजलीके सैकड़ों धक्कोंसे झनझना दिया, और उस दिन मैंने अपनी जाने कितनी कविताएँ और लेख फाड़ डाले। जोश मुझमें इतना कि हरेकको फाड़ते समय मैंने कहा : "तुम कुछ नहीं हो, तुम घास हो, तुममें कमाल नहीं है, मुझे तुम्हारी ज़रूरत नहीं, मैं सिर्फ़ कमालकी ही चीजें चाहता हूँ।"

इन रचनाओंको फाड़कर मैंने नये लेखकके जीवनका जो महामन्त्र सीखा वह यह है : "रचनाओंको छपाकर नहीं, फाड़कर ही नया लेखक आगे बढ़ता है !"

अब मुझे कमाल करना था; पर कमाल बेचारेका कोई अता-पता मुझे मालूम न था। यह भी मेरा एक लड़कपन था, पर इसमें जोशके साथ होश भी थी कि अब मुझे छपानेके लिए नहीं लिखनेके लिए लिखना था !

एक दिन खेतोंपर गया, तो अजब हरियाली थी। उससे प्रेरणा मिली और हृदयेशजीकी शैलीमें मैंने एक गद्यकाव्य लिखा, कई पेज़का। आज सोचता हूँ उसमें गद्यकाव्य और स्कैचका समन्वय था।

इसे लिखकर रख दिया और तीन-चार दिन बाद फिर पढ़ा और इस तरह कि मैं एक सम्पादक हूँ और मेरा महत्त्व इस बातमें है कि इसके लेखकको मैं उसकी त्रुटियाँ बता सकूँ।

यों एक पत्रके कल्पित सम्पादकत्वसे मेरी सम्पादनकलाका आरम्भ हुआ। आज सोचता हूँ, तो हँस पड़ता हूँ कि मैं उस दिन सम्पादकके पोज़में ही न था, यथार्थमें सम्पादक था। मुझे अनुभव हो रहा था कि मैं हूँ सम्पादक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' और मेरे सामने ही बैठा है – यह एक नया लेखक कन्हैयालाल प्रभाकर ; हूँ; जिसे अभी कुछ भी नहीं आता !

मैं वह गद्यकाव्य पढ़ता जाता और उसकी कमियाँ मुझे सूझती जातीं। मैं अत्यन्त गौरवके भावसे उन्हे बताता जाता, नये सुझाव भी देता और कभी-कभी बेचारे लेखकपर बरस भी पड़ता : "यह लेखन है जनाब, कोई घासखुदी नहीं। यों जल्दी करेंगे और भरत भरेंगे, तो तीन कौड़ीके रह जायेंगे आप !"

आश्चर्य है कि मेरे सुझाव उपयोगी थे और उसके अनुसार मैंने उसे दोबारा लिखा, तो उसमें एक नयी चमक आ गयी। दो-तीन दिन बाद मैं फिर उस खेतपर गया और वहाँ बैठकर मैंने उस लेखको इस तरह पढ़ा कि जैसे किसी दूसरेको सुना रहा हूँ, तो दो नये फल निकले। पहला यह कि खेतके वातावरण और लेखके वर्णनमें जो अन्तर था, वह मेरे सामने आ गया और दूसरा यह कि कई जगह मुझे खटका कि यहाँ अभी कमी है। मैंने उसे

तीसरी बार लिखा, तो ये सुधार तो हुए ही, उसका अन्त भी एक नये रूपमें बदल गया और इस तरह वह लेख पूरी तरह खिल उठा।

अब मैंने उसे फिर अपने कल्पित सम्पादकको दिखाया, तो उन्हें पसन्द आ गया और वे उसमे कोई नया संशोधन न कर सके। लेख पास हो गया और मैंने उसे उठाकर रख दिया। छपनेको तो अब कहीं भेजना ही न था।

इसके बाद मैंने दो कहानियाँ लिखीं और तीन कविताएँ, पर वे मुझे न जंची, न मेरे सम्पादकको, तो मैंने फाड़ फेंका। मुझे इससे ज़रा भी दुःख न हुआ।

कोई दो सप्ताह बाद मैंने अपना तीन बार लिखा वह लेख एक मित्रको सुनाया, तो वे प्रसन्न हुए, पर मुझे कई जगह भाषामे खुरदरापन खुद अखरा, जिसे चौथी नक़लमे मैंने नयी चिकनाईसे ढँक दिया।

इस तरह – कमाल तक पहुँचनेके लिए मैंने जो सीढ़ियाँ पार कीं, वे ये थीं : छपानेके लिए कभी मत लिखो, सिर्फ़ लिखनेके लिए लिखो।

लिखकर स्वयं एक सम्पादककी दृष्टिसे पढ़ो और जो कमियाँ दिखाई दें, उन्हे फिर सुधारो।

दूसरी नक़लके बाद उसे उठाकर रख दो और भूल जाओ। कुछ दिन बाद फिर पढ़ो और जो नयी बातें सूझे–अवश्य सूझेंगी–उन्हे उसमे बढ़ा दो।

अब उसे फिर रख दो और कुछ दिन बाद उसे अपने मित्रोंको सुनाओ। वे यदि कुछ सुझाव दें और ये अपनेको जँचें या सुनाते समय स्वयं कुछ नयी बातें सूझें – अवश्य सूझेंगी – उन्हे फिरसे लेखमें बढ़ा दो।

यदि लिखकर पढ़ते समय ही यह सूझे कि यह कुछ नहीं है, तो उसे तुरन्त फाड़कर फेंक दो।

अब मै अपने ही विद्यालयमें द्वितीयाध्यापक था और इसीमें मेरे विद्यार्थी जीवनके साथी श्री भगवत्प्रसाद शुक्ल 'सनातन' (अब स्वर्गीय) पढ़ रहे थे। मेरे ही सम्पर्कमें वे कविता लिखने लगे थे – वही तुकबन्दियाँ !

एक दिन उन्होंने मुझे इटावासे प्रकाशित 'ब्राह्मण-सर्वस्व'का एक अंक दिखाया। इसमें उनकी एक संस्कृत कविता छपी थी : देव-प्रार्थना। यह उनका पहला प्रकाशन था, इसलिए वे भी आज नशेमें थे और यह आठ-दस दिन बाद तो बोतलों पहुँच गया, जब उस कवितापर पिण्डौरीके महन्तने पाँच रुपये मनिआर्डरसे पुरस्कारके रूपमे भेजे! उनका दिल बढ़ा और एक नयी कविता उनकी उसी पत्रमें और छपी।

मेरा एक लेख उन्होंने बिना मुझे बताये, निकालकर 'ब्राह्मण-सर्वस्व'को भेज दिया और वह उसी मास छप गया। अंकके साथ ही उसके सम्पादक श्री ब्रह्मदेव शास्त्री (अब स्वर्गीय)का पत्र भी आया कि आप हर महीने एक लेख लिखें। मेरी लेखन-शैलीकी प्रशंसा भी थी। सम्पादकोंसे प्रार्थना करनेका तो मुझे अनुभव था, पर मेरे जीवनमें यह नयी बात थी कि कोई सम्पादक मुझसे प्रार्थना करे। उस पत्रने मुझे फिर नशेमें भर दिया और कई दिन मैं उछला फिरा। अपने एकान्तमें कई बार मैंने कहा : ओहो, अब तो होने लगा है कमाल, और हर महीनेमें एक लेख मेरा 'ब्राह्मण-सर्वस्व'में छपने लगा।

इन्हीं दिनों एक और घटना हुई कि मेरे नगरके स्कूलमें श्री गंगाप्रसाद 'प्रेम' प्रधानाध्यापक होकर आये। बढ़े हुए बाल, खादीका कुरता, चिनी हुई खादीकी धोती, हाथमे छड़ी, माथेपर चन्दनकी बिन्दी और अत्यन्त मधुर बोल; वे मेरे नगरमे एक नयी चमक-सी साथ लिये आये।

मैं उनसे मिला, सम्पर्कमे आया और उनका बन्धुत्व पा गया। वे हिन्दी-के श्रेष्ठ कवि; झूम-झूमकर अपनी कविताएँ सुनाते और मैं आकाशमे उड़ा-उड़ा उन्हें सुनता। मेरी कविताएँ मेरी दृष्टिमें अब घास थीं और मैं कविताके एक नये मोड़पर खड़ा था। प्रभावको ग्रहण करनेकी मुझमें शक्ति थी, कमालकी मुझे प्यास थी, प्रयत्नोंकी मुझे आदत थी। मैं पहलेसे बहुत सुन्दर कविताएँ लिखने लगा। मैं लिखता, वे उसमें काट-छाँट करते, वे निखर आतीं। मैं झूमकर उन्हें कवि-सम्मेलनमें पढ़ता और अपने कानों अपनी प्रशंसा सुनता।

अब मैं नये लेखकके लिए ये तीन नयी सीढ़ियाँ और पा चुका था :

आरम्भमें कभी बड़े पत्रोंके दरवाज़े न झाँको और जब रचनाओंमें कुछ जान आने लगे, तो छोटे-छोटे पत्रोंमें ही उन्हें भेजो।

दूसरे लेखकोंके लेखोंको एक-दो-तीन बार पढ़कर, फिर उन्हें बिना देखे, अपने ढगपर उन्हें लिखो और तब असलसे मिलाकर देखो कि क्या कमी रह गयी है और बस उन्हें फाड़ फेंको।

किसी श्रेष्ठ कविसे सम्पर्क बनाओ, उन्हें अपनी रचनाएँ दिखाओ, अपनी नम्रता, अहंकार-हीनता और सेवासे उन्हें उनसे ठीक कराओ।

'ब्राह्मण-सर्वस्व'में मेरे लेख क्या छपने लगे, मैं उससे लिपट ही गया। दूसरे वर्ष मैंने उसमें एक नया स्तम्भ खोल दिया : स्वर्ण-संकलन। इसमें मैं दूसरे पत्रोंमें प्रकाशित श्रेष्ठ लेखोंका या उनके सारांशका संकलन करता और इस तरह पत्रको अच्छी सामग्री मिल जाती। कभी-कभी छोटे नोट भी मैं लिख भेजता और वे मेरे कहनेपर बिना मेरा नाम दिये सम्पादकीय स्तम्भमें छप जाते।

'ब्राह्मण-सर्वस्व'को प्रकाशित हुए पचीस वर्ष हो रहे थे। मैंने शास्त्रीजी-को लिखा कि वे इस अवसरपर रजत-जयन्ती-अंक प्रकाशित करें। इस अंक-की लेख-सूची, किस लेखकसे कौन लेख लिया जाये और लेखकोंको क्या पत्र लिखा जाये, यह सब मैंने लिख भेजा। किस सज्जनसे, किस तरह, कितनी आर्थिक सहायता मिल सकती है, यह भी लिखा।

उनका उत्तर आया कि उन्हीं दिनों मेरी पुत्रीका विवाह है, इसलिए मैं छपाईका प्रबन्ध तो कर सकता हूँ, पर सम्पादन मेरे वशका नहीं। मैंने उन्हें लिखा कि आप कार्य आरम्भ करें, मैं पूरा सहयोग दूँगा। ऐसा अवसर फिर न आयेगा, इसलिए यह विशेषांक अवश्य निकालिए।

उनका कोई उत्तर न आया, तो मैंने मान लिया कि वे तैयार नहीं, पर

एक दिन डाकसे मुझे सौ-सवा सौ छपे पत्रोंका एक पैकेट मिला। यह रजत-जयन्ती-अंकके लिए लेखकोंसे लेख माँगनेका वही पत्र था, जो मैंने शास्त्रीजीको तैयार करके भेजा था। इसपर विषय-सूची भी मेरे ही वाली थी, पर आश्चर्य यह कि नीचे रजत-जयन्ती-अंकके सम्पादककी जगह मेरा नाम छपा था। मैं देखकर धक रह गया। यह काम मेरी योग्यता और शक्तिका कहाँ था? मैं क्या जानूँ सम्पादन? अभी तो मैं लेखक भी न बन पाया था, पर मित्रोंने हिम्मत बँधायी और इसमें मैं लिपट गया।

एक-एक लेखकको मैंने लिखा और इतने तक़ाज़े किये कि लेख दिये बिना पीछा ही न छोड़ा। सच यह है कि मुझपर अब सम्पादनका भूत सवार था और लेखकोंपर सम्पादकका भूत। कोई दो महीनेके घनघोर परिश्रमसे मैंने जो सामग्री संग्रह की, उसका बोझ छह सेरसे ऊपर था!

अब यह अस्त-व्यस्त सामग्री मेरे पास थी। पूरे एक महीने मैं उसपर फिर जुटा और उसकी एक-एक पंक्तिपर मैंने ध्यान दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े लेखकोंकी भाषामें शिथिलता थी। मैंने बेधड़क होकर काट-छाँट की और तब अनेक स्तम्भ बनाकर उनमे उस सामग्रीको बाँटा। हरेक स्तम्भकी विषय-सूची अलग बनायी और हरेक लेखपर संक्षेपमें लेखकका परिचय अपने ढंगपर दिया। ये परिचय मेरी उस समयकी स्थिति-को देखते हुए असाधारण थे — अनेक लेखकोंने बादमें उनकी प्रशंसा की थी, यह मुझे याद है।

यह विशेषांक असाधारण रूपसे सफल रहा और इससे मैंने कमाल पैदा करनेका जो नया सूत्र पाया, वह यह था : परिश्रम ही हर सफलता-की कुंजी है और वही प्रतिभाका पिता है। सम्भव है प्रतिभा कोई बड़ी चीज़ हो और वह ईश्वरके यहाँसे ही आती हो, पर नये लेखकको उसकी प्रतीक्षा नहीं, अपने परिश्रमपर भरोसा ही, करना चाहिए।

इस विशेषांकके सम्पादनसे हिन्दीकी दुनियामें मेरा परिचय तो बढ़ा ही, मेरा आत्मविश्वास भी दृढ हो गया। इसके कुछ दिन बाद मैंने 'गढ़देश'

के एक विशेषांकका सम्पादन किया और अप्रैल १९३० में तो मैं ही 'गढ़देश' साप्ताहिकका सम्पादक बनाया गया। कोई चार महीने मैंने यह काम किया और फिर मैं १९३० के काँग्रेस आन्दोलनमें जेल चला गया !

यहाँतक आते-आते मैंने यह समझ लिया कि मेरा मन कवितामें नहीं उतरता और कविताको नमस्कार कर मैंने उसका लिखना ही बन्द कर दिया। इससे मुझे यह लाभ हुआ कि मेरा सारा ध्यान एक तरफ़ सिमट आया और इस तरह कमाल पैदा करनेका यह एक नया सूत्र मेरे हाथ लगा : कभी फ़ालतू चीज़ न लिखो, वही लिखो जिसमें पूरा मन लगे, पूरा रस मिले और पूरी डुबकी आये।

अब मैं अपने साहित्यिक जीवनके चौराहेपर था। १९३२ की जेल-यात्रामे मुझे बहुत ऊँचे मनुष्योंका सम्पर्क मिला और मैंने इस बीच काफ़ी पढ़ा भी। इस जेलयात्रामें मेरे साहित्यिक जीवनमे जो नयी बात हुई, वह थी यह कि सहारनपुर जेलके खेतोंपर बैठकर मैंने अपने पिताके संस्मरण लिखे, कोई साठ-सत्तर पेज़ोंमे और फ़ैज़ाबाद पहुँचकर कुछ ऐसे लेख लिखे, जिन्हे बादमें श्री बनारसीदास चतुर्वेदीने स्कैच बताया। एक तसवीरके दो पहलू और मोती इनमे मुख्य हैं। इस तरह मेरी क़लमको एक नयी सूझ मिली। मै इसे यों कहता हूँ कि मेरा कवित्व मेरे गद्यमें ही समा गया। जेलमें लम्बी बीमारीके कारण मुझे जो एकान्त मिला, उसमें मैंने यह निश्चय किया कि मैं एक मिशनरी पत्रकारके रूपमें ही अपनी सर्वोत्तम शक्तियोंका राष्ट्रके लिए उपयोग करूँगा; क्योंकि प्लूरिसीने मुझे देहातोंकी दौड़-धूपके लिए अयोग्य ही कर दिया था और साहित्य-विहीन राष्ट्रसेवा तो मेरे लिए सदासे ही अभिशाप-सी थी।

वहीं जेलमे एक दिन मैंने 'प्रताप'-सम्पादक पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से कहा : "मैं जेलसे छूटकर आपके 'प्रताप' में रहूँगा।" वे मेरे प्रति सदैव ममतासे ओतप्रोत, पर एकदमसे बोले : "ना, हरगिज़ नहीं !"

मुझे गहरा धक्का लगा और सँभलकर ही मैं पूछ पाया : "क्यों पण्डितजी ?" बोले : "वहाँ रहोगे, तो हम तुम्हें खा जायेंगे ?" मैं खोया-सा, बिना किसी प्रश्नके एक प्रश्न-चिह्न ही बन गया, तो बोले : "हाँ हाँ, पुराना नियम है कि बड़ी मछली छोटी मछलीको खाकर पनपती है। 'प्रताप'-मे तुम आओ, बहुत खुशी, पर इससे हम पनपेंगे, तुम रल जाओगे। तुम एक स्वतन्त्र पत्रकारके रूपमे सामने आओ। मैंने खूब देख लिया, तुममें इतनी शक्ति है कि सफल हो जाओगे।"

मेरे भावी जीवनमें पत्रकार-कलाका जो रूप स्फुटित हुआ, उसकी नींव फ़ैज़ाबाद जेलमें नवीनजीकी इसी इण्टरव्यूने रखी थी, यह स्मरण कर मै सदा मन-ही-मन उनका अभिनन्दन किया करता हूँ।

अपने स्कैच और संस्मरणोंकी क़लमको माँजनेमें मैंने बहुत परिश्रम किया। पहले तो मैंने यह अध्ययन किया कि किस बड़े लेखकमें क्या विशेषता है और फिर यह कि मैं अपनी क़लममे उन विशेषताओंका कौन-सा अंश ले सकता हूँ। मुझपर चार लेखकोंका प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीका और उसके बाद पं० श्रीराम शर्मा, श्री इन्द्र विद्या-वाचस्पति और श्री रामनाथ 'सुमन' का। श्री चतुर्वेदीजीका आरम्भ मुझे ग़ज़बका लगा। शर्माजीकी प्रवाह-शक्ति और चित्रण, सुमनजीके विश्लेषण-कौशल और इन्द्रजीकी घटना-शृंखलाके सामने मेरा सिर झुक गया।

इस अध्ययनकी छायामें मैंने कोई सौ तरहसे स्कैच और संस्मरण लिखे होंगे। लिखे, काटे, फिर लिखे और फाड़े। एक लेखको अधिकसे अधिक चौदह बार तक मैंने हट-हटकर लिखा, यह मुझे याद है।

इस तरह मैं अच्छे स्कैच और संस्मरण लिखने लगा और कमाल पैदा करनेका एक नया सूत्र मैंने रचा : अपनी कमियोंपर हमेशा आँख गड़ाये रहो और दूसरोंकी उन विशेषताओंपर गहरा ध्यान दो कि जिनसे उन्हें यश और सफलता मिली। तब उन विशेषताओंको अपनी कमियोंके स्थानमें

प्रयत्न करके इस तरह लो कि वे भद्दे पैबन्द होकर नहीं, दूधमें चीनी बन-कर तुममें समा जायें।

आदरणीय श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्माने सहारनपुरसे साप्ताहिक 'विकास' प्रकाशित किया, तो कुछ ज़िम्मेदारियाँ मुझे भी सौंपी। हर सप्ताह मैं उसमे कुछ लिखता रहा, पर उसके 'आर्यसमाज अंक' के काममें हाथ बटानेको मैं १९३३ में सहारनपुर क्या आया, बस 'विकास' का ही हो गया।

१९३४ मे 'विकास'को एक लिमिटेड संस्थाका रूप दे दिया गया और यह निश्चय हुआ कि पाँच महीनेके लिए 'विकास' का प्रकाशन स्थगित करके संस्थाके हिस्से बेचने और अपना प्रेस लगानेमें परिश्रम किया जाये।

इन पाँच महीनोंमें मैं घूमते-घूमते बराबर जिस बातको सोचता रहा वह यह थी कि 'विकास' अब कैसा निकले ? उसमें क्या-क्या रहे ? कैसे वह आदर्श साप्ताहिकका रूप ले ? और कैसे वह लोकप्रिय हो ?

मेरी परेशानी यह 'लोकप्रिय' था। यदि पत्रको अश्लील कहानियों, सस्ते वाद-विवादों और इसी तरह दूसरी सामग्रीसे सजाया जाये, तो पत्र तुरन्त लोकप्रिय हो सकता है, पर इस स्थितिमे मेरे लिए उस पत्रसे अपना सम्बन्ध रखनेका क्या अर्थ ? मेरी तो रग-रगमें गुलामीकी पीड़ा थी, स्वतन्त्रताकी आग थी, मै नौकरीके लिए तो पत्रकार बन न रहा था।

तो वह रास्ता मुझे न चलना था। दूसरा मार्ग था यह कि हम 'विकास'-को ऊँचे और आदर्श विचारोंसे भरें और उसमें अपनी आत्माका सर्वश्रेष्ठ दान दें। यह रास्ता ठीक था, पर इसमें दिक़्क़त यह थी कि इस तरह-के पत्रका कोई ग्राहक न था। यदि अपनी शक्तिके भरोसे हम उसे घाटेपर भी चलानेको तैयार हों, तो उससे हमारा यह लक्ष्य कहाँ पूर्ण होता था कि जनतामे जागृति हो, नये विचार फैलें ?

सारे-सारे दिन मैं इस प्रश्नको सोचता रहता और रातको तारोंकी ओर ताकते-ताकते भी ! मुझे सपनोंमें भी यही उलझन रहती। मैं परे-

शान था और जब मुझे कुछ न सूझता, तो ऊबकर मैं सोचता : "छोड़ो जी, यह क़लमका काम; चलो देहातमें कहीं आश्रम बनाकर बैठें और भावी क्रान्तिकी तैयारी करें।"

पूनोकी चाँदी-भरी रातमें एक दिन मैं नहरपर जा लेटा और निश्चय कर लिया कि इस प्रश्नका निपटारा करके ही उठूँगा। मैं सोचता रहा। अचानक मेरा ध्यान नहरकी धारापर जा टिका। लहरें भी हैं, सरसता भी है, प्रवाह भी है, सन्तुलन भी है और गहराई भी। मुझे ऐसा लगा कि यह नहर मेरे भीतर बह रही है और मैं उसमें तैर भी रहा हूँ। तल्लीनताकी इसी तैराईमें अचानक चाँद-सा चमकता एक प्रश्न मेरे मनमें उभरा : क्या लिखनेकी कोई ऐसी शैली नहीं हो सकती, जिसमें लहरें भी हों, सरसता भी हो, प्रवाह भी हो, सन्तुलन भी हो और गहराई भी ?

प्रश्न क्या मनमें उभरा मैं ही उभरकर बैठ गया। मुझे राह मिल गयी थी। मैंने सोचा : मैं ऐसी शैलीपर लिखूँगा, जिसमें यह सब हो और इस तरह हम जनताको वह देंगे जिसकी उसे ज़रूरत है, पर इस ढंगपर कि वह उसे ले सके, पचा सके, बिना कोई बोझ भार उठाये। संक्षेपमें, ज्ञान उपनिषद्का-सा, पर अभिव्यक्ति लोरियोंकी-सी।

मुझमें इतना उल्लास था कि लगा : मैं नहरमें तैरता हुआ ही तीन मील दूर अपने घर पहुँचा हूँ।

प्रयोग आरम्भ किये। वही लिखना, काटना, बार-बार पढ़ना और फाड़ना। कोई दस-पन्द्रह लेख फाड़नेके बाद मैंने एक लेख लिखा : झाड़ू लगानेकी कला। इसका आरम्भ राष्ट्रपति वाशिंगटनके जीवनकी एक घटनासे हुआ था और इस तरह यह संस्मरण और लेखका समन्वय था।

यह कुछ दिन बाद 'विकास' में छपा, तो मुझपर आकाशसे वरदान बरस पड़े। पूज्य बापूने मुझे अपने हाथसे लिखा : "भाई प्रभाकर, तुम तो मुझसे भी बढ़ गये। मैं तो पाखानोंपर ही लिखता था, तुमने झाड़ूपर लिखा।

मुझे बहुत अच्छा लगा।" विश्वके सर्वश्रेष्ठ महापुरुषके इस आशीर्वादको पा, मैं और किस क़द्रदाँकी प्रतीक्षा करता। मुझे सब कुछ मिल गया था।

'कमी नहीं क़द्रदाँ की 'अकबर' करे तो कोई कमला पैदा!'

तबसे मैं इस ढंगपर नये-नये प्रयोग करता रहा और १९५०में आकर मुझे लगा कि मैं अब अपनी जगह आ गया हूँ। १९३५ से १९५० तकके इन पन्द्रह वर्षोंमें मै अपने स्कैच और संस्मरणोंमें भी नये प्रयोग करता रहा और बराबर उन्हे नयी चमक देता रहा।

इस तरह अनजाने ही इन लेखोंमे स्कैचकी चित्रता और संस्मरणकी आत्मीयता भी आती गयी और अब हिन्दीके वन्दनीय विद्वान् कहते हैं : यह एक नयी शैली है। इस संकलनके लेख इसी शैलींके हैं।

इन लेखोंके साथ इस संग्रहमें कुछ 'रेडियो टॉक' भी हैं। इनकी शैली बातचीतकी है और मुझे आशा है कि पाठक इन्हें अपने साथ ही लेखककी बातचीत अनुभव करेंगे। यही इनकी विशेषता है। इन्हें लिखानेका श्रेय आल इण्डिया रेडियो नयी दिल्लीके अधिकारियों और साथियोंको है और निश्चय ही मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इन रचनाओंके सम्बन्धमे मैं क्या कहूँ; सिवाय इसके कि यह मेरा संचित रक्त है, जो आज पाठकोंको भेंट कर रहा हूँ; अपने फक्कड़ जीवनमे इसके सिवाय मैंने और कुछ भी तो संचय नहीं किया।

विकास लिमिटेड
सहारनपुर : उत्तर-प्रदेश
गान्धी जयन्ती १९५३

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

धोखेबाज़को प्रणाम !

उस दिन जीवनमें एक घटना हुई। घटना अपनेमें इतनी साधारण है कि उसपर कोई ध्यान न दिया जाये, तो उसकी यह उपेक्षा किसी अपराध-के दर्जेमें खींच-तान कर भी दर्ज नहीं की जा सकती।

सर्दियोंमे श्रीमती विद्यावती कौशल बीमार हुई, तो सैप्टिकके भयंकर प्रकोपको रोकनेके लिए उन्हे पैनिसिलीनके इन्जेक्शन दिये गये। पैनिसिलीन बर्फ़में ही रह सकती है, इसलिए मैंने अपना बड़ा थर्मस उनके घर भेज दिया। वे अच्छी हो गयीं, पर थर्मस वहीं रहा।

गरमियाँ आयीं, तो बर्फ़ रखनेके लिए मुझे थर्मसकी ज़रूरत पड़ी। मँगाया, तो उत्तर मिला कि उसे तो तभी कुछ दिन बाद तुम्हारा आदमी ले गया था। सबसे पूछा, पर थर्मस लानेवाला मेरा कोई आदमी मुझे न मिला। मुझे यह सब अच्छा न लगा, बुरा ही लगा; क्योंकि मैं इसे अब अपने साथ एक भद्दी मज़ाक़ समझ रहा था।

मैं एक दिन स्वयं थर्मस लेने गया, तो उनका गम्भीर उत्तर मिला : "एक नौजवान मुसलमान यह कहकर थर्मस ले गया था कि तुमने मँगाया है।"

गयी बात और गयी चीज़पर अफ़सोस करना मेरे स्वभावके विरुद्ध है, इसलिए मन-ही-मन उस धोखेबाज़ नौजवानको कुछ गालियाँ दे, थर्मस मैंने बट्टे खाते किया और यह फ़ाइल ख़त्म कर दी! मुझे थर्मसकी बेहद ज़रूरत थी, बाज़ारमें नया थर्मस दूकानोंपर देखनेको भी न था—लड़ाईके दिनोंकी बात है—पर मैं करता ही क्या?"

कोई दो महीने बाद एक दिन उत्साहके स्वरमें विद्याजीने कहा : "तुम्हारा थर्मस मिल गया। वह मुसलमान लड़का आया था; शामको लायेगा थर्मस !"

फिर धोखेसे "मेरा थर्मस वह शैतान ले ही क्यों गया था ?" आश्चर्यसे मैंने पूछा, तो करुणाके बोझसे दबी-सी वे बोलीं : "उसकी पत्नीको भी मेरी तरह भयंकर सैप्टिक हो गया था और उसे भी पैनिसिलीनके लिए ही थर्मसकी ज़रूरत थी। वह शहरके कई बड़े आदमियोंके पास गया, पर उस ग़रीबको किसीने भी दो दिनके लिए अपना थर्मस नहीं दिया। अन्तमें वह डॉक्टरके पास जाकर रोया – उसकी पत्नीकी हालत पल-पल ख़राब हो रही थी। डॉक्टरने उसे बताया कि तुम्हारा थर्मस हमारे घर आया था। वह दौड़ा-दौड़ा तुम्हारे पास गया, पर तुम घरपर न थे। अब उसके सामने भयंकर घड़ी थी। बस, उसने आख़िरी दाव लगाया कि वह हमारे घर आया और झूठ बोलकर थर्मस ले गया। उसकी पत्नी बच गयी, पर तभी वह उसे लेकर बाहर चला गया। पत्नी अब बिलकुल अच्छी है और वह उसे लेकर अपने घर लौट आया है।"

साथ ही यह भी–"वह झूठ बोलनेके लिए माफ़ी माँग रहा था और बहुत-बहुत हाथ जोड़ रहा था। कहता : "बीबीजी, आपके थर्मसने मेरा घर उजड़नेसे बचा लिया।"

शामको सचमुच वह मेरा थर्मस उन्हें दे गया !

अब मेरा थर्मस मेरे पास और मैं स्वयं दो प्रश्नोंके बीच। ये दोनों प्रश्न जानता हूँ मेरे हैं, पर लग रहा है कि मुझसे ये अपना समाधान भी माँग रहे हैं। पहला प्रश्न यह है : जिन मनुष्योंने संकटकी उन हृदयवेधक घड़ियोंमें भी, घरमें थर्मस रहते उसे मना कर दिया या टाल दिया, उनमे और भेड़ियोंमें क्या अन्तर है ? और जैसे मैं स्वयं अपनेसे आप ही कह रहा हूँ : यह हमारी सामाजिक विषमताका, धनके व्यक्तिगत प्रभुत्वका, अभिशाप है कि एकको अपने पास फ़ालतू थर्मस रखनेका भी अधिकार है और एकको अपनी पत्नीकी मृत्युका भय सामने रहते भी उसे दो दिनके लिए पानेका अधिकार नहीं।

दूसरा प्रश्न यह : क्या उस तरुणने थर्मसके लिए झूठ बोलकर पाप

किया ? निश्चय ही उनसे झूठ बोला और झूठ बोलना पाप है। मैं चाह रहा हूँ कि कहूँ—हाँ, उसने पाप किया है, पर साहस मेरा साथ नहीं दे रहा है कि मै सुगमतासे हाँ कह दूँ ! यहींतक नहीं; वह विद्रोही होकर कहना चाह रहा है कि कहूँ—यह पुण्य है।

बात यह है कि पण्डा-पुजारियोंके उस पाप-पुण्यमे मेरा विश्वास नहीं है, जो स्वर्गका बुकिंग-ऑफ़िस या नरकका पासपोर्ट है। हाँ, चरित्रके उत्थान-पतनमें मैं विश्वास करता हूँ और यही यह भी कि मैं उस नौजवान-के इस कार्यको चरित्रकी ऊँचाई ही मानता हूँ, पतन नहीं। निराशा, घबराहट और अवसादकी उन घड़ियोंमें सूझकी स्फूर्तिको जागृत रखना; उस समय भी अदीन और अभय रहना, यदि चरित्र नहीं है, तो मेरी दृष्टिमें फिर चरित्र और कुछ नहीं है !

मेरे निकट इस घटनाका एक पहलू और भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अशिक्षित और निर्धन युवक समाजके अनेक प्रतिष्ठित पुरुषोंके दुर्व्यवहारकी प्रतिक्रियासे बच पाया। इतने बड़े मायाचक्रसे वह कैसे बच पाया, यह स्वयं अपनेमे विस्मयका एक मायाचक्र ही है। उसे कई थर्मस-पतियोंने थर्मस नहीं दिया; यह जानकर भी कि उसकी पत्नी पल-पल मृत्युकी ओर बढ़ रही है, इस घटनाकी यह प्रतिक्रिया क्या कुछ अस्वाभाविक होती कि अब वह स्वयं ही थर्मस-पति बना रहता ?

यह कितनी असाधारण बात हुई कि उसने सब थर्मसवालोंको एक ही गज़से नहीं नापा। थर्मस न देनेवालोंपर उसे चाहे जितना क्रोध आया हो, पर धोखेसे ही सही, थर्मस देनेवालेके प्रति उसकी कृतज्ञता अभंग रही।

उस अशिक्षित तरुणके अन्तरमे अनजाने समायी भारतीय संस्कृतिका ही तो यह मूक प्रदर्शन था !

मेरा थर्मस अब मेरे पास था और मैं अब अपनेमें खिला जा रहा था। क्या मेरी प्रसन्नताका आधार यही था कि मेरा थर्मस मुझे मिल गया ?

ना, मेरी प्रसन्नता इतनी दूकानदार कभी नहीं हुई। इस घटनामें मानवताका जो स्पर्श है, मुझे तो उसीने पुलकित कर दिया है। यह जीवनप्रद पुलक न जाने कब-कबतक एक मधुर स्मृतिके रूपमें मुझे सुख देगा।

इस पुण्य पुलकके स्रष्टा उस धोखेबाज़को मेरा प्रणाम !

मैं और मेरा घर !

मैं जब लिखते-लिखते खिड़कीसे बाहर दाहिने हाथकी तरफ़ झाँकता हूँ, तो एक ऊँचा मकान दिखाई देता है। कई मंज़िलें हैं, जिनमें छोटे-बड़े कमरे हैं, बरामदे हैं, स्नान-गृह है, शौचालय है। इन कमरोंमें पुरुप हैं, स्त्रियाँ हैं, बालक हैं, हमेशा यहाँ रौनक़ रहती है। यह एक होटल है।

मैं लिखते-लिखते जब अपनी खिड़कीसे बायें हाथकी तरफ़ झाँकता हूँ, तो एक ऊँचा मकान दिखाई देता है। कई मंज़िलें हैं, जिनमें छोटे-बड़े कमरे हैं, बरामदे हैं, स्नान-गृह हैं, शौचालय हैं। इन कमरोंमें पुरुप हैं, स्त्रियाँ हैं, बालक हैं, हमेशा यहाँ चहल-पहल रहती है। यह एक धर्मशाला है।

मैं लिखते-लिखते अपनी खिड़कीके पास बैठा अपने ही चारों ओर जब देखने लगता हूँ, तो देखता हूँ, यह है एक ऊँचा मकान। कई मंज़िलें हैं, जिनमें कमरे हैं, बरामदे हैं, स्नान-गृह हैं, शौचालय हैं। इन कमरोंमें पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं, बालक हैं। यह एक घर है।

जाने कितने दिनोंसे मैं इस खिड़कीके पास बैठकर लिखता हूँ और न जाने कितनी बार इन तीनों मकानोंपर मेरा ध्यान जा चुका है, पर उस दिन अचानक न जाने कहाँसे मनके आँगनमें एक सवाल उभरकर खड़ा हो गया। ये तीनों ऊँचे मकान ईट-चूनेकी दीवारोंसे बने, क़रीब-क़रीब एक ही तरहके हैं और इनमें वही स्त्री-पुरुष-बालक रहते हैं। फिर यह क्या बात है कि इनमें-से एक है होटल, एक है धर्मशाला, एक है घर ? तीनोंमें लोग रहते हैं, खाते-पाते हैं, जीवनका आनन्द लेते हैं, फिर ये तीनों ही घर क्यों नहीं हैं ?

आप जानते हैं, मेरी आदत सोचनेकी है, और यह आदत कोई फ़ालतू बात नहीं; यह सोचना ही मेरे जीवनकी चरितार्थता है।

"हूँ, सोचना ही जीवनकी चरितार्थता है। यार, तुम भी फुलझड़ियाँ ख़ूब छोड़ते हो। दार्शनिकोंसे सुना था कि मुक्ति ही जीवनकी चरितार्थता है और कंजूसोंसे सुना था कि धन ही जीवनकी चरितार्थता है, पर आज आपसे नयी बात मालूम हुई कि दार्शनिक और कंजूस दोनों ही जीवनके जंगलमें भटक रहे थे और उसे ठीक-ठीक अब आपने समझा है। मगर भाई, एक बात है कि इस समझको मज़बूत चमड़ेके बटुएमें ज़रा बन्द रखा करो। बात यह है कि अगर यह यूँ ही खुली रही और इसकी 'सर्चलाइट' बाहर ज़रा ज़्यादा फैल गयी, तो आज, कल, परसों, यानी एक-न-एक दिन, देर-सवेर आप हमारे देशके किसी पागलख़ानेकी रौनक़ बख़्शते नज़र आयेंगे!"

जी, मैं किसी दिन क्या आज ही और इसी समय, ज़रा ख़ुश हो जाइए, हाँ, हाँ, देख क्या रहे हैं, मुसकराइए साहब, मैं अपनेको पागल माने लेता हूँ।

"वाक़ई तुम हो बड़े भले आदमी, बड़ी जल्दी मान गये हमारी बात!"

जी, आपकी नहीं, संस्कृतके एक पुराने कविकी बात!

"वाह-वाह, यह नयी धुरपट ज़ोरदार रही कि बात कही हमने और आप मान गये संस्कृतके एक पुराने कविकी, जो पता नहीं जीता है या मरकर एक नया जन्म भी ले चुका।"

आप ठीक कहते हैं, जिस कविकी बात मैं अभी-अभी मान गया हूँ, वह उससे पहले ही मर गया था, जब आप इस धराधामपर उतरे।

"अच्छा यह बात है, तो बताइए कि कौन-सी बात मान गये आप, उस संस्कृत कविकी।"

जी, उस संस्कृत कविने कहा है कि जो अरसिकके सामने रस बखेरे वह पागल, यानी लोकभाषामें, जो भैंसके आगे बीन बजाये वह बेवक़ूफ़।

"ओहो, तो हम अरसिक हैं और आपने वह कोई बहुत रसकी बात कही थी। ख़ैर साहब, गाली तो आप दे चुके और हमने सुन भी ली, पर उस रसकी व्याख्या तो आप कर ही दीजिए।"

व्याख्याकी इसमें क्या बात है ? आप जानते हैं मैं एक पत्रकार हूँ और मेरा काम स्वयं सोचना और लोगोंको सोचनेमें मदद देना है। एक पत्रकार-के नाते मेरे जीवनकी यही चरितार्थता है। आप इस मामूली और सीधी-साफ़ बातको सुनकर दार्शनिक और कंजूसोंके छौंक लगाने लगे।

"ख़ैर साहब, हमारी बात छौंक ही सही। आप यह बताइए कि अपनी खिड़कीसे उन ऊँचे मकानोंको देखकर आपने क्या सोचा; यानी फिर-से आप अपनी बात जारी कीजिए।"

अब आप आये हैं रंगतपर, तो सुनिए। मैंने उन तीनों मकानोंको देखा और बार-बार सोचा कि ये तीनों घर क्यों नहीं है ? सोचते-सोचते मैं समझ पाया कि ईटोंकी दीवारोंसे घिरे स्थानमें एक साथ बहुत-से स्त्री-पुरुषोंके रहने, खाने-पीने और बातचीत करनेसे ही घर नहीं बनता, क्योंकि इन रहनेवालोंके जीवनमें परस्पर कहीं कोई एकसूत्रता नहीं है और एक-सूत्रता ही घरकी कुंजी है।

इस कुंजीको मैंने जब अपने मनमें घुमाया-फिराया, तो मुझे लगा कि घरके दो भाग हैं : एक मैं और दूसरा मेरा घर। 'मैं' का अर्थ है घरका एक आदमी ओर 'मेरा घर'का अर्थ है बाक़ी सारा घर। जहाँ एकका अनेकसे आत्मीय सम्बन्ध है, जहाँ एक बाक़ी दूसरोंके लिए कुछ करता है और बदलेमें कुछ उनसे पाता है, जहाँ हर एकके कुछ अधिकार है और कुछ कर्तव्य हैं, वह घर है।

हम जिस समाज-व्यवस्थामें हजारों सालोंसे जी-पल रहे हैं, वहाँ घर हमारे विशाल जीवनका पहला घटक, पहली यूनिट है और हम उसे ठीक रख सकें, तो अपने सारे जीवनको ठीक रख सकते हैं। ठीक रखनेकी कुंजी है ठीक समझना, इसलिए यह आवश्यक है कि हम उसकी बारीकियोंमें उतरें।

"हूँ, तो क्या हैं वे बारीकियाँ ?"

आपके इस प्रश्नसे मुझे खुशी है, क्योंकि इसका अर्थ है कि आपने मेरी ही दिशामें सोचना आरम्भ कर दिया है। घरके बारेमें भी यही बात है कि

वहाँ हर आदमी अपनी ही सोचे और अपनी ही कहे, तो प्यारका, एक-सूत्रताका, एकात्मताका, एकरसताका शीराज़ा बिखरने लगता है।

तो सुनिए फिर अब। एक महत्त्वाकांक्षी मनुष्यने कहा था कि मुझे दुनियासे बाहर एक पैर रखनेको कहीं जगह मिल जाये, तो मैं इस दुनियाको हिला सकता हूँ। उसकी यह चाह सैकड़ों साल काग़ज़ोंमें लिखी पड़ी रही और तब हमारे देशके महान् सन्त स्वामी रामतीर्थने इसका उत्तर दिया : "वह जगह तुम्हारे ही भीतर है – तुम्हारी आत्मा; जहाँ खड़े होकर तुम इस दुनियाको हिला सकते हो।"

यह तो हुई तत्त्वज्ञानकी बात, पर इसका एक सांसारिक रूप भी है कि हमारा जीवन एक युद्ध है, एक संघर्ष है। आजकी परिस्थितियोंने इस संघर्षको कहीं कड़वा कर दिया है और कहीं उदास, इसलिए आज हमारे लिए जीवनकी समता और सन्तुलनको बनाये रखना कठिन हो गया है, पर यह न हो, तब भी जीवन एक संघर्ष है और संघर्षसे बचना मनुष्यका स्वभाव है।

इस संघर्षमें फँसकर जो दो प्रश्न हमारे सामने आते हैं, उनमें पहला यह है कि किसके लिए जियें? और दूसरा प्रश्न यह है कि किसके दम जियें? पहलेका अर्थ यह है कि हम इस संघर्षमें किसके लिए पड़ें? क्यों पड़ें? यह जीवनकी दिलचस्पीका प्रश्न है। दूसरेका अर्थ है कि हम इस संघर्षमें पड़ें तो सही, पर जहाँ हम थोड़े घबरायें, वहाँ कुशल पूछनेवाला कौन है? यह जीवनकी शक्तिका प्रश्न है। दोनोंका उत्तर है : घर!

घरका कार्य है – जीवनमें अपने प्रत्येक सदस्यकी दिलचस्पी पैदा करना और उसे शक्ति देना। तो इसका अर्थ हुआ कि मेरा यह अधिकार है कि मैं घरसे जीवनकी दिलचस्पी और शक्ति लूँ और मेरा यह कर्तव्य है कि उसे ऐसा बनाये रखूँ कि वह जीवनको दिलचस्पी और शक्ति दे सके! असलमें जीवनका सबसे बड़ा प्रश्न ही यह कर्तव्य और अधिकारका प्रश्न है और यही हमारी मनुष्यताकी कसौटी है।

"यह कैसे ?"

ओहो, तो जाग रहे हैं आप। मैंने तो समझा था कि बात करते-करते सो गये। अच्छा, तो आपका प्रश्न है कि कर्तव्य और अधिकारका प्रश्न हमारी मनुष्यताकी कसौटी कैसे है ?

बात यह है कि हम राक्षसोंकी कहानियाँ सुनते हैं, पशुओंको देखते हैं और मनुष्य तो ख़ुद है ही, पर एक सच्चाई यह भी है कि हम ही राक्षस हैं, हम ही पशु हैं, हम ही मनुष्य हैं।

"यह किस तरह ?"

यह इस तरह कि हम यह समझ लें कि ये तीनों ही भावनाएँ हैं ! उदाहरणके लिए, जो जीवनमे दूसरोंके प्रति अपने अधिकार तो मानता है, पर कर्तव्य नहीं, वह राक्षस है। इसका अर्थ हुआ कि राक्षस यह मानकर चलता है कि दूसरे मेरे लिए हैं, मैं दूसरोंके लिए नहीं। जो इस तरह जीता है, वह रावणका ख़ानदानी हो या रामका, निश्चित रूपसे राक्षस है।

जो जीवनमे दूसरोंके प्रति न अपने अधिकार मानता है, न कर्तव्य, वह पशु है। पशु यह मानकर चलता है, जाने या अनजाने कि न कोई मेरे लिए है, न मैं किसीके लिए। घर ही वह निर्माणशाला है, जो हमें राक्षस और पशु होनेसे बचाती है और मनुष्य बनाती है, क्योंकि यहाँ हम दूसरोंके लिए जीते है और दूसरोंके बल जीते हैं। मैं क्या लूँ और क्या दूँ, इन दो प्रश्नोंका समन्वय ही घरकी सफलता है।

मैं प्रातःकाल घरसे निकला था। दिन-भर संघर्षमें रहा, जो मिला उसीने कुछ माँगा, कुछ लिया। गलियोंमें देनेवाले कहाँ मिलते हैं ? वे तो माँगनेवालोंसे ही भरी हैं। इन माँगनेवालोंमें ऐसे भी हैं, जो चूँटते हैं, ऐसे भी हैं, जो खसोटते हैं और ऐसे भी हैं जो लूटते हैं। तो दिन-भर माँग सुनता, चूँटना-खसोटना और लूटना सहता रहा और अब जो सूर्य ढलावपर है, तो मैं थकावपर हूँ। अब न माँग सुननेकी शक्ति है और न लूट सहनेकी। मुझे आप मानसिक दिवालिया कह सकते हैं। फिर जो माँग नहीं सुन सकता,

उसे भिखारी, क्यों बुलाये ? जिसे चूँटा या खसोटा नहीं जा सकता, उससे उचक्कोंका क्या काम ? जिसे लूटना नहीं है, उसे पास बुलाकर लुटेरे क्या करेंगे ? तो अब बाहर गलियोंमें मेरी किसीको ज़रूरत नहीं। फिर मैं कहाँ जाऊँ ? यह मेरे रोम-रोमकी पुकार है और इस पुकारका उत्तर है : घर; मैं घर जा रहा हूँ। मेरा अधिकार है कि मैं जब इस हालतमें घर पहुँचूँ, तो हँसते होंठ और प्रतीक्षा करते नेत्र पाऊँ, क्योंकि इन दोनोंमें दिवालियेको फिरसे समृद्ध करनेकी शक्ति है।

हाँ, ठीक है, घर इस शक्तिका केन्द्र है। मैं इसे मानता हूँ, पर इस माननेके पास ही एक ख़तरा खड़ा है और वह ख़तरा यह कि मेरी माँग इस शक्तिको निस्सीम मानकर स्वयं भी निस्सीम न हो उठे। यह ख़तरा इसलिए है कि मेरा यह तर्क है कि आज इस समय घरकी जो शक्ति है, वह सबके लिए है और यह सम्भव है कि वह आज इतनी न हो कि सबको सब कुछ भरपूर मिल सके और उसका पात्रके अनुसार बँटवारा करना आवश्यक हो। इस दशामें मेरा अपने भागसे अधिक लेना, यह अर्थ रखता है कि कोई-न-कोई विना लिये रह जाये और कौन जाने वह रह जानेवाला भी इसी दशामे हो, जो इस समय मेरी है।

अबतक जो सोचा, जो कहा, जो कहना है, उसे मैं समेटूँ, तो यह हुआ कि मेरा – घरके प्रत्येक सदस्यका, यह अधिकार है कि वह घरको पूर्ण करनेमें अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक भाग दे और यह कर्तव्य है कि वह शक्तिका उतना ही भाग ग्रहण करे, जो घरके दूसरे लोगोंको उनका भाग न्यायपूर्वक देनेके बाद अपने लिए बचे। मैं ऐसा करूँ, तो इसका अर्थ होगा कि मैं एक मनुष्य हूँ।

इसे और भी थोड़ेमें कहना चाहूँ, तो यों कहूँगा कि घरकी सफलताका सबसे बड़ा शत्रु है यह भाव कि मैं लेनेमें उदार और देनेमें कंजूस रहूँ।

हमारी बोलचालका एक शब्द है ग़लतफ़हमी। इसे ठीक समझनेके लिए हमारे लोक-जीवनकी एक कहानी सुनिए :

किसी शहरमें एक सेठजीने अपने रहनेके लिए एक शानदार भवन बनवाया। एक दिन सेठजी अपने छज्जेपर खड़े थे कि उधरसे दो किसान निकले। मकानको देखकर एकने कहा : यह मोर बहुत सुन्दर है। दूसरेने दो उँगलियाँ उठाकर कहा : मोर तो दोनों तरफ़के ही अच्छे है।

किसानकी दो उँगलियाँ देखकर सेठजीको ताव आ गया और वे झपटे-झपटे भीतर जाकर सेठानीको दो उँगलियाँ दिखाकर बोले : "मैंने तो दो मोर बनवाये है चार हज़ार रुपये ख़र्च करके, पर यह किसान दोनोंकी क़ीमत दो हज़ार ही बताता है।"

उसी दिन प्रातः सेठजीने सेठानीको चार चूड़ियाँ बनवा देनेको कहा था। वह सेठजीकी दो उँगलियाँ देखकर समझीं कि अब वे दो चूड़ियोंके लिए ही तैयार हैं। वह गुस्सेमे भरी भीतरकी ओर भागी और बेसन पीसती नौकरानीको दो उँगलियाँ दिखाकर बोली : "अरी, देख तो अब तेरे सेठजी दो चूडियोंपर ही आ गये हैं।"

नौकरानीने चक्कीकी गूँजमें बात तो सुनी नहीं, पर उँगलियोंको देखकर समझा कि सेठानीजी कह रही हैं कि बारीक बेसन पीस, ये एक-एक चनेके दो-दो क्या कर रही है।

नौकरानी गुस्सेमे पैर पटकती हुई मुनीमजीके पास पहुँची और दो उँगलियाँ दिखाकर बोली : "सेठानीजीको इतना बारीक बेसन भी दानेके दो टुकड़े ही दिखाई देता है, तो मुझसे अब काम नहीं होता, मेरा हिसाब कर दो।"

मुनीमजीका हिसाब आज नहीं मिल रहा था। वे समझे कि मुझसे मज़ाक़ कर रही है, तो झल्लाकर बोले : "मैं दो-दो रुपये गिनता हूँ, तो तू मुनीम हो जा। गद्दीपर बैठी सौ-सौ गिनाकर।"

इस तरह किसानकी दो उँगलियोंने सारा घर घुमा दिया और सबके हँसते चेहरे फुलाकर गोल-गप्पे-से बना दिये। अब हर एक-दूसरेसे नाराज और आपेसे बाहर ! यह है ग़लतफ़हमी। मेरा अधिकार है कि मैं चाहूँ

कि मेरे बारेमें किसीको भी घरमें ग़लतफ़हमी न हो और मेरा कर्त्तव्य है कि यदि किसी तरह घरमें कहीं कोई ग़लतफ़हमी हो ही जाये, तो उसकी गाँठको सरलतासे सुलझा लिया जाये ।

इस सुलझानेकी भी एक कला है और इस कलाका पहला और सर्वोत्तम पाठ है शान्त रहना। इसे ज़रा समझ लीजिए कि शान्त रहनेका क्या अर्थ है? जिसके बारेमें ग़लतफ़हमी है, वह जब इसे दूर करनेको उठे, तो यह निश्चय कर ले कि कोई कुछ कहे, वह शान्त रहेगा । मैं इस बातपर इसलिए ज़ोर दे रहा हूँ कि ग़लतफ़हमीकी सबसे मुख्य बात यह है कि जब किसीको एक बार यह हो जाती है, तो वह फिर उसे दूर नहीं करना चाहता और जब हम उसे दूर करनेकी कोशिश करते हैं, तो वह इसे हमारी एक नयी धुरपट समझता है । हमारी कोशिश उसे गरम कर देती है, गरमी कड़वाहटकी माँ है और कड़वाहटका पुत्र है ताना । ताना सुनकर भड़क उठना मामूली बात है, पर हम भड़के कि ग़लतफ़हमी दुश्मनी हुई और बस चौपट । इसलिए ग़लतफ़हमीको दूर करनेकी कलाका सर्वोत्तम पाठ है स्वयं शान्त रहना ।

"वाह भाई, यह तो आज तुमने बहुत गहरी बात बतायी हमे !"

जी, गहरी नही, यह तो मामूली बात है । इसकी गहराई तो यह है कि कभी-कभी ग़लतफ़हमीका आधार इतना सूक्ष्म होता है कि हम ईमानदारीसे भी कोशिश करके भी यह नहीं जान पाते कि वह आरम्भ कहाँसे हुई ?

मैं जानता हूँ कि मेरी यह बात जल्दीसे आपकी समझमें नहीं आयेगी, तो लीजिए एक उदाहरणकी रोशनी उसपर डालता हूँ :

मै प्रातः नौ बजे घरसे भोजन कर, अपने कामपर गया था और अब साढ़े पाँच बजे घर लौटा हूँ । इन साढ़े आठ घण्टोंमें एक मिनिटको भी कुरसी कमरसे नहीं लगी । मेज़पर इतनी फ़ाइलें थीं कि कमर झुकाये उनपर झुका रहा । बीचमें कई बार अपने अफ़सरके पास जाना पड़ा । वे आज जाने क्यों सारे दिन गरम रहे । दो बार तो उनका रवैया ऐसा हो गया कि जीमें आया, फ़ाइलें पटककर घर चला जाऊँ, पर पन्द्रह सालकी सर्विस

और बाल-बच्चोंका साथ है। बिना पलक झपके कामपर लगा रहा और साहबके उठनेके बाद भी एक घण्टा और काम करके अब घर आया हूँ, पर आकर अभी बूट खोलकर पलंगपर लेटा ही था कि श्रीमतीजी बोलीं : "लो चाय पी लो और चलो फिर जरा नुमाइश घूम आयें।" मैंने अपनी असमर्थता बतायी, तो वे पैर पटकती और बड़बड़ाती भीतर चली गयीं। अब बताइए, इसमें मेरा क्या क़सूर है कि मै यह सोच रहा हूँ कि घरमे सब मांस नोचनेवाले गीध हैं, कोई मेरा हमदर्द नहीं।

बात सुनकर सच मालूम होती है और मनमे आता है कि वाक़ई श्रीमतीजी एकदम हृदयहीन हैं, पर उनकी बात सुनना भी आवश्यक है। वे कहती हैं : "आज सुबह चार बजे उठी थीं। उठकर निमटी, गायको सानी की, कुट्टी काटी, दूध निकाला, सबको चाय पिलायी, खाना बनाया, खिलाया, बच्चोंको सँवारकर स्कूल भेजा, बाबूजीको कपड़े बदलवाये, दफ़्तर भेजा। तब कहीं दो रोटियाँ पेट पड़ीं। इसके बाद गेहूँ चुगे, कपड़े समेटकर रखे, धोबी आ गया तो उससे कपड़े लिये, सबके बटन देखे, मरम्मत की, घरका सामान मँगाया, बच्चे स्कूलसे आ गये, उन्हें खाना दिया, कमरे ठीक किये, तब बाबूजी आये, उन्हे कपड़े बदलवाये, चाय दी, शामका खाना चढ़ाया और सब्ज़ियाँ बना दीं कि आकर परामठे बनाऊँगी, तब ज़रा नुमाइश चलनेको कहा, तो बाबूजी आपेसे बाहर हो गये। हम सारे दिन सबके लिए मरते हैं, फिर भी पाँच मिनिटको हमारा कोई मन रखनेवाला नहीं। घर क्या है ? जेल है, ऐसे घरसे तो कहीं जंगलमें जा पड़ें, वह अच्छा है।"

बात सुनकर सच मालूम पड़ती है और मन शान्त हो तो समझमे आता है कि दोनोंका क़सूर नहीं, पर सचाई यहाँ इतनी सूक्ष्म है कि उसे दोनों ही नहीं पकड़ पाये और महाभारत मच गया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि ग़लतफ़हमीको दूर करनेके लिए शान्त रहना ज़रूरी है और शान्तिकी कुंजी बस यही है कि हम घरमें जहाँ अपने अधिकार चाहते हैं, अपने कर्तव्य भी जानें और दोनोंको मिलाकर जीवनमे चलें।

घर जीवनके सुखका पावर-हाउस है और सुख है साधनाका फल। इस साधनामे दे भी है और ले भी। 'दे' देवत्व है, 'ले' राक्षसत्व और 'दे-ले' मनुष्यत्व। जहाँ बैठकर मैं जीवनकी इस 'दे-ले' का समन्वय करना सीखते हैं, उसी प्रयोगशालाका नाम घर है, जो इस समन्वयके ख़राब होते ही नरककुण्ड बन जाता है।

मैं और मेरा पड़ौस

संस्कृति और सभ्यता हमारे निजी और सामाजिक जीवनके महत्त्वपूर्ण अंग हैं। संस्कृति हमें राह बताती है, तो सभ्यता हमे उस राहपर चलाती है। संस्कृति न हो, तो मनुष्य और पशुके विचारोंमें कोई भेद न रहे और सभ्यता न हो, तो मनुष्य और पशुका रहन-सहन एक ही-सा हो जाये। यही कारण है कि समाजके कर्णधार हमेशा संस्कृति और सभ्यताकी रक्षाके लिए ज़ोर देते रहे हैं।

संस्कृतिकी पाठशाला है घर और सभ्यताकी पाठशाला है पड़ौस। यों कहकर हम सचाईके और साफ़ नज़दीक आ जायेंगे कि सभ्यताकी पहली सीढ़ी है पड़ौस।

आइए, पास-पड़ौसपर ही बातचीत करें आज।

"तो क्यों साहब, संस्कृतिके साथ पड़ौसका कोई सम्बन्ध नहीं है?"

बहुत बढ़िया और मौक़ेका प्रश्न पूछा है आपने। सभ्यता संस्कृतिकी प्रयोगशाला है। हम अपने मनके भीतरसे भीतरवाली तहमे जो सोचते हैं, जिस तरह सोचते हैं, वह है संस्कृति और उसे जहाँ और जिस तरह अमलमें लाते हैं, वह है सभ्यता। सभ्यताका मोटा-मोटा अर्थ है सभ्य लोगोंके रहने-सहने, मिलने-जुलने, बात-व्यवहार करनेका ढंग। सभ्य एक संस्कृत शब्द है और वहाँ इसका अर्थ है: 'सभायां साधुः सभ्यः।' जो चार आदमियोंमे, समाजमें, सभामे भला है, वह सभ्य है। संक्षेपमें व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंको जोड़नेवाली पद्धति, कला और तरीक़ेका नाम सभ्यता है और क्योंकि मनुष्य पहले-पहल घरसे बाहर निकलकर अपने पास-पड़ौसमें ही मिलता-जुलता है, इसलिए मैं कह रहा हूँ कि सभ्यताकी पाठशाला है पड़ौस और सभ्यताकी पहली सीढ़ी है पड़ौस!

"क्यों जी, जो सभामें, समाजमें, चार जनोंमें भला है, वह है सभ्य, पर जो अपने घरमें भला है वह क्या है ?"

आज तो आप पूरी गहराइयोंमे उतर रहे है और ऐसे प्रश्न पूछ रहे हैं कि बातचीत अपने-आप खिलती चली जाये ।

ठीक है, जो सभामें, समाजमें, चार जनोंमें भला है, वह सभ्य है, पर जो अपने घरमें सभ्य है, वह संस्कृत है–आजकी चलती भाषामें कल्चर्ड !

"क्या यह सम्भव है कि कोई आदमी सभ्य तो हो, पर संस्कृत न हो?"

बहुत बढ़िया प्रश्न है आपका – वाह वाह; क्या यह सम्भव है कि कोई आदमी सभ्य तो हो, पर संस्कृत न हो ?

हाँ, मैं कह रहा हूँ कि यह सम्भव है । सुननेमें अजीब-सा लगता है, पर यह सम्भव है । मेरे एक मित्र हैं, जहाँ बैठते हैं, स्त्री और पुरुषकी समानतापर बहस करते है, जलसोंमें इस विषयपर भाषण देते हैं, पत्रोंमें लेख लिखते हैं, पर अपनी स्त्रीके साथ ऐसा व्यवहार करते है कि रावण भी देखकर शरमा जाये ! कई आदमियोंको मैं जानता हूँ, जो एक-दूसरेके जानी दुश्मन हैं, पर मिलते हैं, तो मीठी-मीठी बातें करते हैं ।

इसका साफ़ अर्थ है कि ये लोग असंस्कृत होकर भी सभ्यताका दामन थामे हुए हैं । आप यहाँ कोई नया प्रश्न न पूछ बैठें, इसलिए मैं अपनी ओरसे ही कहे देता हूँ कि संस्कृति-हीन सभ्यता, जीवनकी विडम्बना है – यह धूर्तता है और इस तरह अबतक हमने जो कुछ कहा है वह संक्षेपमें यह कि जो घरमें, घरके लिए, भला नहीं है, वह पड़ौसके लिए भी भला नहीं हो सकता !

बातचीतका मज़ा उसकी दिलचस्पीमें है, पर आज आपके प्रश्नोंने उसे गम्भीर कर दिया है, तो यह उचित होगा कि उसे उभारनेसे पहले यहीं गहराईका एक गोता और ले लें ।

मनुष्यकी सबसे बड़ी उन्नति है – ईश्वर हो जाना और सबसे गहरा पतन है – अपनेको पाँच हाथकी देहमें सीमित मान लेना । पहला परमार्थ

है, दूसरा स्वार्थ ! मनुष्यका कार्य है स्वार्थसे परमार्थकी ओर बढ़ना और इसका पहला पड़ाव है पड़ौस–जहाँ मनुष्य अपने शुभ-अशुभके साथ, अपने हानि-लाभके साथ, अपने सुख-दुःखके साथ, अपने पड़ौसियोंके शुभ-अशुभ और सुख-दुःखकी चिन्ता करता है। पड़ौसमें आग लगती है, तो उसका छप्पर भी फुँकता है, पड़ौसमें यज्ञ होता है, तो उसके घर भी सुगन्ध फैलती है और यों वह सोचता है कि मैं इनके साथ ही बँधा हूँ–हम सब एक ही नावके यात्री हैं।

बस एक बात और कि इस दुनियामें हर आदमीका चेहरा अलग ढंगका है, आवाज़ अलग ढंगकी है और स्वभाव अलग ढंगका है, तो क्या दुनियाका हर आदमी एक अलग इकाई है और संसारकी एकता या मानव जातिकी एकताका कोई अर्थ नहीं है? हम इस प्रश्नपर हाँ कह सकें, तो फिर हमारे जीवनकी सब उच्च भावनाएँ ही निरर्थक हो जायें। मानव-जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता मानवमात्रकी एकता है और इसीलिए अनेकतामें एकता दर्शनको हमारे जीवन-दर्शनमें जीवनकी महान् सम्पदा कहा गया है। मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, वह बस यही कि पड़ौस अनेकतामें एकताके दर्शनका पहला पड़ाव है; क्योंकि घरमें हम जिनके साथ रहते हैं, वे हमारे साथ ऐसे सम्बन्धोंमें बँधे हुए हैं कि हम चाहे न चाहें, हमें उनमें बँधकर ही रहना है, पर पड़ौसके सम्बन्धोंमें ऐसा कोई बन्धन नहीं है, फिर भी हम उसमें बँधकर रहना चाहते हैं। इस स्वेच्छाकी भूमिमें वह बेल पनपती है, जिसमें अनेकतामें एकताके फूल खिलते हैं। इस यात्राका तीर्थ है–'वसुधैव कुटुम्बकम्'–यानी सारी दुनिया मेरा कुनबा !

"अभी आपने कहा है कि पड़ौसके सम्बन्धोंमें कोई ऐसा बन्धन नहीं है कि हम उसे तोड़ न सकें, फिर भी हम उसमें बँधकर रहना चाहते हैं, तो इसका कारण क्या है? दूसरे शब्दोंमें प्रश्न यह है कि मनुष्यकी पड़ौस-वृत्तिका आधार क्या है?"

सच यह है कि बातचीतका आनन्द आप ही-जैसे आदमीके साथ है। आपके प्रश्नोंके प्रकाशमें बातचीत खिलती चली जाती है। आजकी बातचीत गहराईमें उतरी जा रही थी कि आपने उसे यह एक नया उभार दे दिया।

हाँ, तो आप पूछ रहे हैं कि मनुष्यकी पड़ौस-वृत्तिका आधार क्या है? बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है, वह अकेला नहीं, बहुतोंमे मिलकर रहना चाहता है। उसके घरके बाद उसके सबसे पास है उसका पड़ौस और यह पास होना ही पड़ौस-वृत्तिका आधार है। लोक-जीवनमें कहा जाता है कि, 'सगा दूर, पड़ौसी नेड़े!' मतलब यह कि सगे—रिश्तेदार—तो दूर रहते है, पर पड़ौसी नेड़े है, पास ही है। वे हर समय हमारे सुख-दुःखमे भागीदार हो सकते है और हर समयकी यह सुलभता ही पड़ौस-वृत्तिका प्राण है। एक नागरिकके रूपमें हमारा अधिकार है कि हम पड़ौसकी समीपताका लाभ लें और हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी समीपताका उसे लाभ दें।

समीपता एक दुधारी तलवार है। समीप रहनेवाला हमें लाभ पहुँचाता है, तो नुक़सान भी पहुँचा सकता है। लोक-जीवनमे एक पड़ौसनकी गाथा इस प्रकार घर-घर कही जाती है:

"आ, पड़ौसन, लड़ें!"

"लड़ै मेरी जूती!"

"जूती मार खसमकै?"

इसे ज़रा समझ लीजिए। एक पड़ौसन लड़ाका है। बात-बेबात उसे लड़ाई चाहिए। लड़ाईके बिना उसको खाना ही हज़म नहीं होता। कई दिनसे बेचारी परेशान है कि कोई लड़नेवाला ही नहीं मिला। अचानक किसी पड़ौसनको उधरसे जाती देख उसने कहा: आ पड़ौसन लड़ें!

वह भली पड़ौसन अपने काम जा रही थी। बिना बातकी लड़ाई मोल लेनेसे इनकार करते हुए उसने कहा: लड़ै मेरी जूती, पर लड़ाका

पड़ौसन इतनी जल्दी यह 'चान्स' खोनेवाली नहीं थी। तुरन्त पलटा देकर बोली : जूती मार अपने ख़समकै !

यह वार ऐसा नहीं कि इसे भली पड़ौसन यों ही अनजाना कर दे और इसका मतलब हुआ कि लड़ाई बज गयी और जमकर बज गयी। इसीलिए तो लोक-जीवनमें कहा जाता है कि "बातका और मट्ठेका बढ़ाना भी कोई काम है !" एक तानेसे बात बढ़कर तकरार हो जाती है और लोटा-भर पानी डालनेसे मट्ठा मन-चाहा हो जाता है — ग़रज़ यह कि इन दोनोंमे विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती। "जूती मार अपने ख़समकै !" किसका दम है, जो इस चैलेंजको नामंज़ूर कर सके ?

लोक-जीवनके कोषमे लड़ाका पड़ौसनकी ही बात सुरक्षित हो, सो बात नहीं। वहाँ एक चतुर पड़ौसनका जीवन-चरित्र भी सुरक्षित है। लीजिए, उसे भी पढ़ लीजिए :

"आ पड़ौसन, पूड़े पो लें,
क्या लग जागा तेरा ?
आग, फूँस, कड़ौती, मेरा
गुड़, घी, मैदा, तेरा !"

इसे भी ज़रा समझ लीजिए। बरसातका गदराया मौसम, तीसरे पहर-का समय। खानेको मीठे पूड़े मिलें, तो मज़ा आ जाये, पर आ कैसे जाये — घरमे सामान तो है ही नहीं। ठीक है, पर सामानको देखकर लपलपाये, तो जीभ ही क्या ? और घरका सामान लगाकर पूड़े खा लें, तो इसमें चतु-रता क्या हुई ?

श्रीमतीजी अब अपनी छतपर हैं और दूसरी पड़ौसनसे कह रही है : 'आ पड़ौसन, पूड़े पो लें !'

'पो लें' में साझेका साफ़ निमन्त्रण है, पर उसे सुन-समझकर भी पड़ौ-सनमें उत्साह उभरता दिखाई नहीं देता, तो चतुर पड़ौसन स्वरको ऊँचा

कर अपने निमन्त्रणको आकर्षक बनाती है – 'क्या लग जागा तेरा' – अरी बावली, पूड़ोंमें तेरा खर्च ही क्या है ?

पूड़ोंमें अपने हिस्सेकी घोषणा करते हुए वह पूरे ज़ोर और उत्साहमें कहती है : आग, फूँस, कड़ौती (काष्ठोत्तरी-छेपटी) मेरी और तब स्वरको एकदम धीमा करके उसका हिस्सा बताती है – गुड़, घी, मैदा, तेरा ! बात साफ़ है – तीन चीज़ें तेरी, तीन चीज़ें मेरी, मेहनत दोनोंकी और पूड़े आधोंऊध । कहीं घाटा नहीं है, ख़तरा नहीं है । आ, पूड़ोंकी दावत उड़ाकर इस मौसमका मज़ा लूटें !

प्रस्ताव दिलचस्प है, समयके अनुकूल है, उसका विवेचन युक्तियुक्त है, सारगर्भित है, लाभदायक है; फिर भी पड़ौसन पूड़ोंकी दावतके लिए तैयार न हो तो चतुर पड़ौसन क्या करे ?

"इस तरहकी लड़ाका और चतुर पड़ोसनें और पड़ौसी सब जगह सुलभ हैं। प्रश्न यह है कि इनका उपाय क्या हो ?–इनके साथ कैसे बरता जाये ?"

प्रश्न उपयोगी है और लोक-जीवनमें ही इसका उत्तर भी दिया हुआ है : "ऐन न माने, तो सैन चलाइए, सैन न माने तो बैन हिलाइए, बैन न माने, तो दूर भगाइए ।"

"वाह, यह तो आपने कविता ही पढ़ दी, पर इसका मतलब क्या है ?"

इसका मतलब बहुत साफ़ है कि कोई मित्र, पड़ौसी या बन्धु यदि ऐन-को – अवसरको – स्वयं न समझे, तो उसे सैनसे – इशारेसे – समझा दीजिए; इशारेको भी वह न समझे, तो बैनसे – वाणीसे – कहकर बता दीजिए और तब भी न माने, तो दूर भगाइए – उससे किनारा-कशी कीजिए, उसे मुँह न लगाइए । कुछ सफ़ाईकी अभी और ज़रूरत हो तो यूँ कहूँगा कि आप इस तरह रहिए कि पड़ौसमें आपका व्यवहार सबके साथ सरलताका रहे और कोई दूसरा भी आपको अपनी दुष्टता या धूर्तताका शिकार न बना सके ।

"आप कितना ही बचायें, सावधान रहें, पर भाई, जहाँ दो बरतन

हैं, वे तो खटकेंगे ही !"

यह ठीक कहते हैं आप और मैं माने लेता हूँ कि पास-पड़ौसमें आज नहीं तो कल लड़ाई हो जाना सम्भव है – सम्भव क्या स्वाभाविक है।

"फिर ?"

फिर क्या, ज़रूरत इस बातकी है कि हम आपसी लड़ाईका व्याकरण समझ लें; क्योंकि व्याकरणके साथ लड़ी गयी लड़ाईमें दोनों पक्ष खतरेसे बचे रहते हैं।

"तो आपकी रायमें लडाईका भी कोई व्याकरण होता है – वाह साहब, आप भी खूब छौंक लगाते है ?"

जी, यह छौंक है, न मसाला। लड़ाईका व्याकरण जीवनका गम्भीर मसला है और जो व्याकरण जाने बिना लड़ाई आरम्भ करते हैं, वे उन अध-कचरे वैद्योंकी तरह है, जो चीर-फाड़ जाने बिना ऑपरेशन शुरू कर देते है।

"तो भाई, हमें भी बताओ यह व्याकरण !"

वही तो बता रहा हूँ आपको। इस व्याकरणका पहला सूत्र है : "तीन कोनोंसे लड़ो, चौथा ख़ाली रखो !"

"क्या मतलब इसका ?"

मतलब यह कि लड़ाई स्थायी नहीं, जीवनका स्थायी तत्त्व है – कल, परसों, परले दिन, लड़ाई ख़त्म ज़रूर होगी, इसीलिए चाहे जितने ज़ोरमें लड़ें, पर फ़ैसलेकी गुंजाइश हमेशा रखें। क्या याद करेंगे आप भी कि कोई बतानेवाला मिला था – लीजिए, आपको यह चौथा कोना दिखाये देता हूँ। यह कोना है कड़वे बोलका ! लड़ाईसे पहले या उसके बीचमें कभी कोई ऐसा बोल न बोलिए, जो फ़ैसलेके समय रुकावट बनकर बीचमें खड़ा हो। इस सूत्रका ज्ञान सबसे पहले एक ब्राह्मणीको हुआ था, जिसकी गाथा आज भी लोक-जीवनमें सुरक्षित है।

एक क़सायन और एक ब्राह्मणी पास-पास रहती थीं। एक दिन क़सा-

यनने कहा : "आ ब्राह्मणी, लड़ें !" ब्राह्मणीने कहा : "आ, तेरा जी उमड़ रहा है, तो लड़ लें, पर एक शर्त है कि कहनी कहेंगे, अनकहनी नहीं !"

बस गाँठ बाँध लीजिए कि लड़ाई चाहे जितनी हो, अनकहनी कभी न कहेंगे और फिर आप देखेंगे कि हर लड़ाईके अन्तमें आप जीतमें रहेंगे।

पड़ौसकी लड़ाईका दूसरा सूत्र है यह कि लड़ाईके बीचमें आपका विरोधी किसी दूसरे संकटमें फँस जाये, तो लड़ाई रोकनेमें पहल आप करें और उस संकटसे बचनेमें मदद करनेके लिए बिना बुलाये उसके पास चले जायें। यह सुननेमें शायद आपको ठीक न लगे और आप सोचें कि वाह, असली चोट करनेका समय तो वही है, पर ना, यह अनुभूत मन्त्र है। आप इसे एक बार करके देखें कि स्वर्गके फूल आपके चारों ओर बरसते हैं या नहीं।

तीसरा सूत्र यह है कि तीसरेसे कोई मतलब नहीं। जिससे लड़ाई है, उससे लड़िए, पर उसके घरके दूसरे आदमियोंसे शत्रुता न बाँधिए। रामसिंहसे लड़ाई जारी है, रहने दीजिए, पर उसकी पत्नीको मोटर-बस ख़राब हो जानेसे रास्तेमें परेशान खड़ी देखकर अपनी मोटर रोक लीजिए और उसे पूरे सम्मानके साथ उसके घर पहुँचानेमें ज़रा भी कोताही न कीजिए। रामसिंहकी गाय यदि भूलसे खुल गयी है, तो उसे भगाइए मत, बल्कि पकड़कर घरके भीतर पहुँचा दीजिए और आवाज़ देकर कह दीजिए कि कोई गाय बाँध दे। रातमें यदि आप देखें कि एक चोर रामसिंहके मकानमें घुस रहा है, तो पल-भर भी ख़राब किये बिना चिल्ला पड़िए। इसी सूत्रका उपसूत्र है कि यदि आप चाह रहे हैं कि लड़ाई ख़त्म हो जाये, तो किसी बिचौलियेको बीचमें न डालिए और सीधे उसके पास चले जाइए।

लड़ाईका व्याकरण बहुत विस्तृत है, पर आप ये तीन सूत्र ही याद रख लें, तो पड़ौसमें कभी लज्जित होनेका अवसर न आये। यों समझिए कि आपका अधिकार है कि लड़ाई सिर आ पड़े, कोई लड़ाईकी बात ही हो, तो लड़ें, पर आपका कर्तव्य है कि ऐसे काम न करें, जिनसे ख़त्म होनेके बदले लड़ाई बढ़ती ही जाये और सर्वनाशका रूप ले ले।

"ऐसे उपाय क्या हैं कि पास-पड़ौसमें हमेशा मिठास बनी रहे और लड़ाईकी गाँठ ही पैदा न हो ?"

बड़े कामका प्रश्न पूछा है आपने। ऐसे उपाय तो बहुत हैं, पर उनमें दो आपको आज बता रहा हूँ। पहला उपाय यह है कि बोझ न बनिए। पड़ौसियोंसे मिलिए-जुलिए, पर उनकी परिस्थितियों और रुचियोंका हमेशा ध्यान रखिए। हर आदमी अपने ढंगपर जीना चाहता है। आप उस ढंगमें गड़बड़ करेंगे, तो लड़ाईकी भूमिका तैयार होगी। ला० सीताराम नहीं चाहते कि उनकी लड़कियाँ किसीके साथ सिनेमा जायें। बलदेवसिंहकी पुस्तक कोई लेता है, तो उन्हें बुरा लगता है। मि० ग़ालिब रसूल रातमें साढ़े आठ बजे सोनेके लिए चले जाना पसन्द करते हैं। बेन्सन साहबके कमरेकी चीज़ोंको कोई इधर-उधर करता है, तो बुरा मानते हैं। भण्डारीजी काँग्रेसके ख़िलाफ़ एक भी शब्द सुनते ही भड़क उठते हैं और हिम्मतसिंहजी काँग्रेसकी तारीफ़में एक भी शब्द सुनते ही गुर्रा पड़ते हैं।

अब अगर आप सीतारामजीकी लड़कियोंको सिनेमा ले जायेंगे, बलदेव-सिंहजीसे पुस्तक माँगेंगे, रसूल साहबके पास नौ बजे तक जमे रहेंगे, बेन्सन साहबके कमरेकी चीजें छुएँगे, भण्डारीजीसे काँग्रेसकी निन्दा करेंगे और हिम्मतसिंहजीसे काँग्रेसकी तारीफ़ करेंगे, तो उनपर बोझ हो जायेंगे और याद रखिए कि बोझको कोई गले नहीं डालना चाहता; उसे उतार फेंकनेकी बेचैनी हरेकको होती है।

दूसरा उपाय है : पड़ौसियोंकी कमियोंके साथ 'कम्प्रोमाइज़' कीजिए। हर आदमीमें कुछ कमियाँ हैं, यह जितनी जल्दी हम समझ लें ठीक है। हमारी कमियोंको दूसरे सहते हैं और हमे दूसरोंकी कमियाँ सहकर चलना है। जान लीजिए कि आपके किस पड़ौसीमें क्या कमी है ओर मान लीजिए कि उस कमीकी जगह छोड़कर आपको उनसे मिलना है। बस फिर देखिए कि इनके यहाँ भी आपकी पूछ है और उनके यहाँ भी। समझ लीजिए कि

आपको यह अधिकार है कि आप अपने दरवाज़े खुले रखें, पर आपका कर्तव्य है कि आप दूसरोंके दरवाज़ोंमें न झाँकें।

गान्धीजीसे किसीने पूछा: "हमारी स्वतन्त्रताकी सीमा कहाँपर है बापू?"

उत्तर मिला: "जहाँसे तुम्हारे पड़ौसकी स्वतन्त्रता आरम्भ होती है।" गान्धीजीने पड़ौस-शास्त्रका सार इस एक ही उत्तरमें भर दिया है।

"अच्छा, यह बताइए कि अच्छे पड़ौसकी कसौटी क्या है?"

लीजिए, आप यह कसौटी भी लीजिए। यह कसौटी है: अपनी जिम्मेदारी। आपकी गलीमें एक बल्ब लगा है, जो सबको रोशनी देता है। रात वह फ़्यूज़ हो गया, तो सबने ठोकरें खायीं। दूसरे दिन शामको बाबू अमीरसिंह दफ़्तरसे लौटे, तो बाज़ारसे बल्ब लेकर, पर गलीमें पहुँचे, तो देखते हैं सीढ़ीपर चढे लाला चन्द्रभान पहले ही नया बल्ब फ़िट कर रहे हैं। यह एक अच्छा पड़ौस है, क्योंकि यहाँ हरेक अपनी ज़िम्मेदारी महसूस करता है, पर बा० अमीरसिंह सोचते कि ला० चन्द्रभान लायेंगे और ला० चन्द्रभान सोचते कि मैं ही क्या अकेला रोशनी लेता हूँ, तो पड़ौस बुरा हो जाता। पड़ौसियोंकी राह न देखिए और अपनी ज़िम्मेदारी पूरी कीजिए।

"अच्छा, बस एक प्रश्न और कि पड़ौसकी आत्मा क्या है?"

ठीक है, यह प्रश्न इस बातचीतको पूर्ण कर देगा। पड़ौसकी आत्मा है – भरोसा! क्या आपको भरोसा है कि कहीं कैसा भी संकट हो, आपके पड़ौसी आपका साथ देंगे और क्या आपके पड़ौसियोंको यह भरोसा है कि कुछ भी हो, उनके पुकारते ही आप उनके पास जा कूदेंगे? हाँ, तो बस ठीक है। दोनों तरफ़का यह भरोसा ही पड़ौसकी आत्मा है। यह नहीं है, तो वह पड़ौस नहीं चमगीदड़ोंका जमघट है।

और लो, चलते-चलते बिना पूछे ही आपको एक बात और बताता हूँ: आपमें लाख बुराइयाँ हों, उनकी छाया कभी अपने पड़ौसपर न पड़ने दीजिए। याद रखिए, चोर और डाकू भी कभी अपने पड़ौसमें हाथ नहीं डालते!

मैं और मेरा नगर

मैं जहाँ जन्मा, वह मेरा घर था और जहाँ मैं पलकर बड़ा हुआ, वह मेरा पड़ौस था। अपने घरको मैंने अपनी किलकारियोंके आनन्दसे भरा और उसने मुझे अपने पैरों खड़े होनेकी शक्ति दी। अपने पड़ौसको मैंने अपनी खेल-खिलन्दरियोंके रससे सींचा और उसने मुझे खुली दुनियामें अपने भरोसे आप आगे बढ़नेका बल दिया।

और अब जो अपने घर और पड़ौससे पायी शक्तिके सहारे मैं विशाल संसारकी यात्राके लिए निकला हूँ, तो मैं अपनेको अपने नगरमें पाता हूँ।

यह मेरा नगर है, जब मैं यह कहता हूँ, तो सोचता हूँ कि क्या मेरे हृदयमें यह कहते समय वैसी ही आत्मीयता—अपनापन—और आनन्द उमड़ते हैं, जैसा यह कहते समय उमड़ा करते हैं कि यह मेरा घर है। मेरे घरमें जो दूसरे लोग रहते हैं, वे मुझे लगता है कि मेरे ही अंग हैं। मेरे इस प्रश्नका यही तो भाव है कि क्या इस घरकी तरह, मैं इस नगरके निवासियों-को भी अपने ही जीवनका अंग मानता हूँ?

मेरे मनमें यह प्रश्न तब भी उठा था, जब मैं अपने घरका द्वार लाँघ-कर अपने पड़ौसमें आया था, पर मैं सोच रहा हूँ कि प्रश्नकी भाषाके दोनों बार एक रहते हुए भी दोनोंके वज़नमें बहुत बड़ा अन्तर है और अन्तर यह है कि पड़ौसमें जो लोग रहते है, मैं उन्हें देखते-देखते ही बड़ा हुआ हूँ और वे सब मेरे लिए अपने घरके लोगोंकी तरह ही निकट रहे हैं, इसलिए उनके सम्बन्धमें मेरे मनकी दशा यह है कि न तो मुझे वे अपने लिए नया मानते हैं और न वे ही मेरे लिए नये हैं।

इसके साथ ही पड़ौसका क्षेत्र छोटा-सा है और नगरका बड़ा, तो मैं जब अपनेसे पूछ रहा हूँ कि क्या मेरे हृदयमें यह कहते समय भी

कि यह नगर मेरा है, वैसी ही आत्मीयता–अपनापन–और आनन्द उमड़ते हैं, जैसा यह कहते समय उमड़ा करते हैं कि यह मेरा घर है, तो यह अनेक प्रकारके, दूर-दूर बसे, जाने और अनजाने उन लोगोंके साथ मेरी आत्मीयता, आत्म-लीनता, मानसिक-एकता और सुख-दुःखकी साझेदारीका प्रश्न होता है।

सम्भव है मेरा नगर कई सौ आदमियोंका एक गाँव ही हो या कई लाखका विशाल नगर, पर वह मेरे देशकी हर हालतमे एक इकाई है और विशाल विश्वकी यात्राके लिए, मैं जो निकला हूँ, तो यह यात्रा सफल होगी या असफल, आनन्ददायक होगी या नीरस; यह सब इस बातपर निर्भर है कि अपने नगरके साथ रहना मैंने ठीक-ठीक जान लिया है या नहीं!

"तो यह कैसे मालूम हो कि अमुक आदमीने अपने नगरके साथ ठीक-ठीक रहना जान लिया है या नहीं?"

बड़े मौक़ेका और सूझ-बूझका प्रश्न पूछा है यह आपने और मैं आपको एक बात बता दूँ कि इतनी देरसे जो प्रश्न मुझे अपनेमें उलझाये लिये चल रहा है, उसीमे आपके प्रश्नका उत्तर है। वह यह कि यदि अपने नगरके मनुष्योंके साथ, मेरा वैसा ही प्रेम है, वैसी ही आत्मीयता है, जैसी कि अपने घरवालोंके साथ, तो बस मैं अपने नगरके साथ ठीक-ठीक रहना जान गया हूँ।

आदमी अपने घरके सम्मानको अपना ही सम्मान मानता है। आप यदि किसी आदमीसे कहें कि मैं कल तुम्हारे घर आऊँगा और तुम्हारे सब घरवालोंको गालियाँ दूँगा, पर तुम निश्चिन्त रहो, मैं तुम्हारे लिए फूलोंके सुन्दर हार लाऊँगा, तो क्या वह इस सम्मानको अपना सम्मान मानकर इसे स्वीकार कर सकता है? हरगिज़ नहीं, पर क्यों? क्योंकि उसका और उसके घरका सम्मान एक ही है।

हमारे देशका एक परिवार जापान गया। वहाँ एक दिन रातमें वह सिनेमा देखकर अपने स्थानपर लौट रहा था कि राह भूलकर जंगलकी तरफ़

चला गया। उधरसे एक युवक साइकिलपर आ रहा था। वह इन लोगोंको खड़े देखकर रुक गया और उसने इन लोगोंसे पूछा कि क्या मैं आपकी कोई सेवा कर सकता हूँ ?

जब इन लोगोंने अपने स्थान तक पहुँचनेकी बात कही, तो उसने कहा : मोटरका अड्डा यहाँसे एक मील है। मैं अभी आपके लिए टैक्सी ला रहा हूँ और वह चला गया, पर थोड़ी देर बाद ही उधरसे एक ख़ाली टैक्सी गुज़री, तो इन लोगोंने उसे रोक लिया, और ये लोग उसमें बैठ ही रहे थे कि इतनेमें वह युवक एक दूसरी टैक्सी लेकर आ गया। अब एक झमेला खड़ा हो गया कि ये लोग किस टैक्सीमें जायें ?

पहले टैक्सीवालेने इन लोगोंसे प्रार्थना की कि "आप लोग उस दूसरी टैक्सीमे बैठें, क्योंकि वह आपके लिए ही अपना नम्बर छोड़कर आया है।"

दूसरे टैक्सीवालेने इन लोगोंसे प्रार्थना की : "वे उस पहली टैक्सीमें ही जायें, क्योंकि उसमे परिवारके कुछ आदमी बैठ गये है और उन्हे उतारना अभद्रता है।"

वे लोग इस बातपर तैयार हो गये कि दोनोंको किराया दे देंगे, पर बिना काम किये किराया लेनेको कोई भी तैयार न हुआ और अन्तमें उस दूसरी टैक्सीमे ही इन्हें जाना पड़ा। इन्होंने उन सब लोगोंको धन्यवाद दिया और उनका आभार माना, तो उन्होंने कहा : "जी नहीं, हमारा तो यह कर्तव्य ही है कि आपकी सेवा करें, क्योंकि आप आज हमारे नगरके अतिथि हैं, मेहमान हैं।"

तो क्या बात हुई यह ? यही बात हुई कि इन सब लोगोंने अपने नगरके साथ वही भाव अनुभव किया, जो हम अपने घरके साथ करते हैं – यानी उन्होंने अपने नगरके मेहमानोंको अपना ही मेहमान अनुभव किया। मतलब यह कि मेरा अधिकार है कि मैं जिस किसी नगरमें भी जाऊँ, सब तरहके संकटोंमें उस नगरके निवासियोंसे सहायता ले सकूँ और मेरा कर्तव्य

है कि मेरे नगरमें रह-रहा या बाहरसे आया हुआ जो भी कोई हो, वह अपने किसी भी संकटमें निःसंकोच भावसे मेरी सहायता और सहयोग ले सके।

नगर विशाल है और मैं उसका एक छोटा-सा अंग हूँ, पर मेरी छोटी-सी भूल इस विशाल नगरको संकटमें डाल सकती है और संकट भी ऐसा कि हज़ारों प्राण संकटमें पड़कर त्राहि-त्राहि पुकार उठें।

"यह कैसे ?"

अजी, इसमें कैसे क्या थी, यह तो साफ़ बात है, पर लीजिए मैं साफ़ बातको और भी साफ़ करके आपसे कह रहा हूँ। रमजानी जो उस दिन सोकर उठा, तो देखा कि उसकी अलमारीके पास एक चूहा पड़ा है। चूहेकी देहसे तेज बदबू आ रही थी और उसकी देह इस तरह फूली हुई थी, जैसे वह दो-तीन दिन तक पानीमें डूबा रहा हो।

रमजानीने चिमटेसे उसकी पूँछ पकड़ी और अपनी छतपर-से गलीमें झाँका। जब देखा कि कोई नहीं देख रहा है, झटकेके साथ उसे गलीमें फेंक दिया। यह चूहा प्लेगका चूहा था और अब आते-जातोंके हाथों प्लेग-के कोड़ोंके पार्सल नगर-भरको भेज रहा था। नगरमें वो प्लेग फैली, वो प्लेग फैली कि बेटा मरा तो बाप पानी देने नहीं आया। अब कहिए, एक भूलने सारे नगरके प्राण संकटमें डाल दिये या नहीं ?

१९वीं सदीके एक अन्तिम सालमें जापानके एक नगरमें प्लेग फैली। विशेषज्ञोंने कहा कि चूहोंसे यह रोग फैलता है। बस फिर क्या था, एक तारीख़ तै हो गयी और सबने अपने-अपने घरके चूहे मार डाले। इन चूहोंसे हज़ारों मन खाद खेतोंको मिली और उनकी ख़ालसे बनाये गये कन्टोप तो रूस-जापान-युद्धमें बहुत ही गरम साबित हुए।

तो नागरिकका कर्तव्य है कि वह कोई ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे नागरिकोंको कष्ट हो और उसका यह अधिकार है कि वह दूसरे नागरिकोंसे ऐसे कामोंकी आशा न करे, जिनसे उसे कष्ट होता हो।

"पर यदि किसीको भूलसे संकट आ ही जाये, तो क्या किया जाये ?"

बहुत सुन्दर प्रश्न है आपका। जी हाँ, आदमीसे भूल हो सकती है। उसके सुधारका वही तरीक़ा है, जो उस नगरके निवासियोंने किया कि वे इस बेकारकी जाँच-पड़तालमें नहीं पड़े कि यह किसकी भूलसे संकट आया, बल्कि वे सब उस संकटके निवारणमें जुट पड़े।

अच्छा, मैं भी आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि हममें-से हरेक बड़ा आदमी बनना चाहता है, पर यह तो बताइए कि बड़ा आदमी कहते किसे हैं?

मैं आपके चेहरेका भाव देखकर बिना आपके कहे ही समझ रहा हूँ कि आप यह सोच रहे हैं कि बातचीत चल रही थी नगरकी और सवाल पूछ लिया बड़े आदमीके लक्षणका? कहिए, है न यही बात? ख़ैर, यही बात सही, पर यह बात भी सही है कि आप इस प्रश्नका जवाब दीजिए और फिर देखिए कि यह उस बातचीतमें फ़िट हो जाता है या नहीं, जो हमारे आपके बीच चल रही है।

"बड़ा आदमी वह है, जो समाजके और आदमियोंसे ऊँचा हो!"

यह आपका उत्तर है, पर मैं पूछता हूँ कि ऊँचा क्या? यानी लम्बा – ७ फ़ीटका – आदमी ही बड़ा आदमी है?

"ना, जिसका समाजमें प्रभाव हो, वही बड़ा आदमी!"

यह आपका दूसरा उत्तर भी मुझे नहीं जँचा। बात यह है कि प्रभाव तो कई बार बुरे आदमी भी जमा लेते हैं समाजमें, तो क्या इसीलिए हम उन्हें बड़ा आदमी मान लें? अच्छा लीजिए, मैं ही अपने प्रश्नका उत्तर आपको दिये दे रहा हूँ: बड़ा आदमी वह है जिसका हृदय बड़ा हो।

मेरे उत्तरको ज़रा आप समझ लें, तो नये-नये प्रश्नोंकी झड़ी लगानेसे बच जायेंगे। सबसे छोटा आदमी वह, जो अपने ५ फ़ीट शरीरको ही अपना समझे। उससे बड़ा वह, जो अपने परिवारको अपना समझे। उससे बड़ा वह, जो अपने नगरको अपनी देह-सा ही अपना समझे। पाठ तो यह बहुत लम्बा है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक पहुँचता है, पर मैं यहीं रुक जाऊँगा, क्योंकि आदमीका बड़ापन अकसर परिवार तक ही रुक जाता है

और भाग्यसे वह नगर तक बढ़ जाये, तो फिर आगेकी क्लास बढ़ता-बढ़ता देश और विश्व तक जा सकता है; नहीं तो उसका बड़ापन यानी मनुष्यता-की फ़ाइल, यहीं ख़त्म हो जाती है।

"क्यों हो जायेगी मनुष्यताकी फ़ाइल यहीं ख़त्म ?"

यह नया प्रश्न है आपका। सच यह है कि आप सूत्रमें नहीं, व्याख्यामें बातचीत करना चाहते हैं। यही सही, सुन लीजिए।

हमारे नगरके एक सज्जन हैं। नाम उनका कुछ भी हो, आप उन्हें पुकारिए बसन्त माधव। बसन्त माधव अपना घर बुहारकर कूड़ा-कर्कट गलीमें फेंक देते हैं, अपने घरके चूहे पकड़कर पड़ोसियोंकी दहलीजमें छोड़ आते हैं, कोई उन्हें भोजन या पार्टीमे बुलाता है, तो अपने सुभीतेसे जाते हैं, भले ही प्रतीक्षा करते-करते और लोग परेशान हो जायें, अपने घरपर किसीसे मिलनेका वचन देते हैं, तो आनेवालोंको आप वहाँ नहीं मिलते और वे बैठे झख मारा करते हैं; मतलब यह कि उन्हें अपने आराम-सुभीतेसे मतलब, कोई मरे या जिये।

मैं पूछता हूँ आपसे कि क्या आप इन श्रीमान् बसन्त माधवजीसे यह आशा कर सकते हैं कि वे सारे देशकी चिन्ता करें और संसारके कल्याणकी बात सोचे? यों नागरिक भावनाको आप संक्षेपमें इण्ट्रेन्सकी वह परीक्षा समझें कि जिसे पास किये बिना, कोई भी विश्वविद्यालयमें प्रवेश नहीं कर सकता।

अब आयी आपकी समझमें मेरी बात ?

न आयी हो, तो लीजिए फिर एक नये ढंगसे अपनी बात कहता हूँ। आप अपना घर साफ़-सुथरा रखते हैं—एकदम शीशे-सा चमचमाता, पर क्या मुसाफ़िरख़ाने, होटल, धर्मशाला और मित्रोंके जीनेमें पानकी पीक थूक देते हैं ? यदि हाँ, तो आपकी मनुष्यता अस्वस्थ है।

आप अपनी आमदनीकी एक-एक पाई बचाते हैं और फ़िज़ूलख़र्ची नहीं करते। आप अच्छे आदमी हैं और मैं आपकी प्रशंसा करूँगा, पर ज़रा यह बताइए कि आपके घरके बाहर जो सरकारी नल लगा है, उसकी टूँटी

काम करनेके बाद बन्द कर देने और इस तरह पानी ख़राब न होनेके बारे-में आप कितने सावधान रहते हैं ? साफ़ है कि आप अकसर उसे खुला छोड़ आते हैं और दूरसे–अपने कमरेसे–उसकी आवाज सुनकर कभी भी आपको वैसा पछतावा नहीं हुआ, जैसा पान खानेके बाद उस दिन पनवाड़ी-के पाससे अपने दो नये पैसे विना लिये लौट आनेपर आपको हुआ था ! तो क्या यह मनुष्यताकी अस्वस्थता नहीं कि अपने दो पैसोंका नुकसान तो काँटा-सा चुभे; पर अपने नगरके मन-भर पानीका खिड जाना, आपके लिए कोई अर्थ ही न रखता हो ?

मैं एक दिन अपने मित्रसे मिलने गया। वे एक मिलके मालिक है और बड़ा शानदार दफ़्तर है उनका। मैंने देखा कि उनकी मेज़पर एक बन्द लिफ़ाफ़ा डाकमे आया पड़ा है। मुझे ख़याल हुआ कि वे इसे खोलना भूल गये है और व्यापारकी जाने क्या बात हो इसमे ? मैंने कहा : "यह देखिए, आपका एक पत्र भूलसे पड़ा रह गया है इसे पहले पढ़ लीजिए।"

बोले : "मेरा नहीं है। जाने किसका डाकमें आ गया है, कई दिनसे पड़ा है यों ही मेज़पर।"

मैंने उठाकर देखा, वह मेरे पड़ौसीका था और उसपर पाँच दिन पुरानी मोहर थी।

मुझे दु:ख हुआ कि इन्होंने एक बार भी यह नहीं सोचा कि इसमे जाने क्या होगा ? मनुष्यताकी बात तो यह होती कि ये उसे अपने आदमीके हाथों उनके पास भेजते और इतना नहीं, तो उसी दिन ये इसे अपनी डाकमें डाकघर तो भेज ही सकते थे। तब भी यह दूसरे दिन उन्हें मिल जाता। मैं उस पत्रको ले आया और उन्हे जाकर दिया, जिनका वह था। मुझे यह जानकर बहुत दु:ख हुआ कि उनके दूरके एक सम्बन्धी कहीं परदेशमें बीमार थे और उन्होंने रुपया मँगानेको यह पत्र लिखा था !!

अब बताइए कि वे बेचारे अपने इन सम्बन्धी महाशयको कितना

नालायक़ समझ रहे होंगे, पर वास्तवमें यह एक शिक्षित और साधन-सम्पन्न मनुष्यकी मानसिक-हीनताका—नागरिकताकी कमीका—फल था !

मेरा यह अधिकार है कि मैं अपने नगरके हरेक निवासीसे यह आशा करूँ कि वह मेरा, यानी सारे नगरके सुख-दुःखका, दिक़्क़त-आरामका अपने ही-जैसा ध्यान रखे और मेरा यह कर्तव्य है कि मैं भी ऐसा ही करूँ। मुझे अपनी चिन्ता हो यह ठीक है, पर मुझे अपने नगरनिवासियोंके सामूहिक और व्यक्तिगत सुख-दुःखकी भी चिन्ता हो, यह आवश्यक है।

इस लम्बी बातचीतमे जो कुछ अभीतक कहा गया है, उसे मैं एक प्रश्नमें समेटकर रख रहा हूँ।

वह प्रश्न यह है कि सबसे अच्छा नागरिक कौन है? और इसका उत्तर मैं यह दे रहा हूँ कि जो अपनी एकान्तकी घड़ियोंमें अपने नगरकी बात सोचे और अच्छी बातोंसे प्रसन्नता और बुरी बातोंसे दुःखका अनुभव करे।

हम जलसोंमे ऐसा व्यवहार भी कर सकते हैं, ऐसी बातें भी कह सकते हैं, जो हमारे जीवनमे न हो, पर एकान्त तो हमारा अपना ही है, वहाँ हम वही होते है, जो असलमे होते हैं।

तो नगरके प्रश्नोंपर एक भाषण दे देना और उसमें उन प्रश्नोके प्रति सबसे ज़्यादा चिन्ता प्रकट कर देना आसान है, पर एकान्तमे उनकी याद आना कठिन है।

यह इसलिए कि एकान्तकी यह चिन्ता हमारे आचरणपर निर्भर है और जो मनुष्य एकान्तमें अपने नगरको चिन्ता करता है, दूसरे शब्दोंमे जिसके जीवनमें नागरिक भावनाका आचरण है, जो अपनेमें नगरको और नगरमें अपनेको अनुभव करता है, उससे श्रेष्ठ नागरिक नगरमें और कौन होगा ?

मैं और मेरा देश

मैं अपने घरमें जन्मा था, पला था।

अपने पड़ोसमें खेलकर, पड़ौसियोंकी ममता-दुलार पा, बड़ा हुआ था।

अपने नगरमे घूम-फिरकर वहाँके विशाल समाजका सम्पर्क पा, वहाँके संचित ज्ञान-भण्डारका उपयोग कर, उसे अपनी सेवाओंका दान दे, उसकी सेवाओंका सहारा पा और इस तरह एक मनुष्यसे एक भरा-पूरा नगर बनकर मैं खड़ा हुआ था।

मैं अपने नगरके लोगोंका सम्मान करता था, वे भी मेरा सम्मान करते थे।

मुझे बहुतोंकी अपने लिए जरूरत पड़ती थी। मैं भी बहुतोंकी जरूरतका उनके लिए जवाब था।

इस तरह मैं समझ रहा था कि मैं अपनेमें अब पूरा हो गया हूँ, पूरा फैल गया हूँ, पूरा मनुष्य हो गया हूँ।

मैं सोचा करता था कि मेरी मनुष्यतामें अब कोई अपूर्णता नहीं रही, मुझे अब कुछ न चाहिए, जो चाहिए, वह सब मेरे पास है – मेरा घर, मेरा पड़ोस, मेरा नगर और मैं। वाह, कैसी सुन्दर, कैसी संगठित और कैसी पूर्ण है मेरी स्थिति!

एक दिन आनन्दकी इस दीवारमे एक दरार पड़ गयी और तब मुझे सोचना पड़ा कि अपने घर, अपने पड़ौस, अपने नगरकी सीमाओंमें ममता, सहारा, ज्ञान और आनन्दके उपहार पाकर भी मेरी स्थिति एकदम हीन है और हीन भी इतनी कि मेरा कहीं भी कोई अपमान कर सकता है – एक मामूली अपराधीकी तरह और मुझे यह भी अधिकार नहीं कि मैं उस अपमानका बदला लेना तो दूर रहा, उसके लिए कहीं अपील या दया-प्रार्थना ही कर सकूँ।

"क्या कोई भूकम्प आया था, जिससे दीवारमे यह दरार पड़ गयी ?"

बड़े महत्त्वका प्रश्न है। इस अर्थमें भी कि यह बातको खिलनेका, आगे बढ़नेका, अवसर देता है और इस अर्थमें भी कि ठीक समयपर पूछा गया है। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें एक अपूर्व आनन्द आता है, तो उत्तर यह है आपके प्रश्नका :

जी हाँ, एक भूकम्प आया था, जिससे दीवारमें यह दरार पड़ गयी और लीजिए आपको कोई नया प्रश्न न पूछना पड़े, इसलिए मैं अपनी ओर-से ही कहे दे रहा हूँ कि यह दीवार थी मानसिक विचारोंकी, मानसिक विश्वासोंकी, इसलिए यह भूकम्प भी किसी प्रान्त या प्रदेशमे नहीं उठा, मेरे मानसमे ही उठा था।

"मानसमे भूकम्प उठा था ?"

हाँ जी, मानसमे भूकम्प उठा था और भूकम्पमें कहीं कोई धरती थोड़े ही हिली थी, आकाश थोड़े ही काँपा था, एक तेजस्वी पुरुषका अनुभव ही वह भूकम्प था, जिसने मुझे हिला दिया।

वे तेजस्वी पुरुष थे स्वर्गीय पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय। अपने महान् राष्ट्रकी पराधीनताके दीन दिनोंमें जिन लोगोंने अपने रक्तसे गौरवके दीपक जलाये और जो घोर अन्धकार और भयंकर बवण्डरोंके झकझोरोंमे जीवन-भर खेल, उन दीपकोंको बुझनेसे बचाते रहे, उन्हींमे एक थे हमारे लालाजी। उनकी क़लम और वाणी दोनोंमे तेजस्विताकी ऐसी किरणें थीं कि वे फूटतीं, तो अपने मुग्ध हो जाते और पराये भौंचक !

वे उन्हीं दिनों सारे संसारमें घूमे थे। उनके व्यक्तित्वके गठनमे उनके परिवार, उनके पास-पड़ौस और उनके नगरने अपने सर्वोत्तम रत्नोंकी जोत उन्हें भेंट दी थी। अजी, क्या बात थी उनके व्यक्तित्वकी ! क्या देखनेमे, क्या सुननेमे, वे एक अपूर्व मनुष्य थे। कौन था भला ऐसा, जिसपर वे मिलते ही छा न जाते, पर संसारके देशोंमें घूमकर वे अपने देशमें लौटे, तो उन्होंने अपना सारा अनुभव एक ही वाक्यमें भरकर बखेर दिया। वह अनुभव ही

तो वह भूकम्प था, जिसने मेरी पूर्णताको एक ही ठसकमें अपूर्णताकी कसकसे भर दिया।

उनका वह अनुभव यह था : "मैं अमेरिका गया, इंग्लैण्ड गया, फ्रान्स गया और संसारके दूसरे देशोंमे भी घूमा, पर जहाँ भी मैं गया, भारतवर्ष-की ग़ुलामीकी लज्जाका कलंक मेरे माथेपर लगा रहा।"

क्या सचमुच यह अनुभव एक मानसिक भूकम्प नहीं है, जो मनुष्यको झकझोरकर कहे कि किसी मनुष्यके पास संसारके ही नहीं, यदि स्वर्गके भी सब उपहार और साधन हों, पर उसका देश ग़ुलाम हो या किसी भी दूसरे रूपमें हीन हो, तो वे सारे उपहार और साधन उसे गौरव नहीं दे सकते ?

इस अनुभवकी छायामे मैं सोचता हूँ कि मेरा यह कर्तव्य है कि मुझे निजी रूपमें सारे संसारका राज्य भी क्यों न मिलता हो, मै कोई ऐसा काम न करूँ, जिससे मेरे देशकी स्वतन्त्रताको, दूसरे शब्दोंमें उसके सम्मानको धक्का पहुँचे, उसकी किसी भी प्रकारकी शक्तिमे कमी आये। साथ ही उसके एक नागरिकके रूपमें मेरा यह अधिकार भी है कि अपने देशके सम्मानका पूरा-पूरा भाग मुझे मिले और उसकी शक्तियोंसे अपने सम्मानकी रक्षाका मुझे, जहाँ भी मैं हूँ भरोसा रहे।

"अजी भला, एक आदमी अपने इतने बड़े देशके लिए कर ही क्या सकता है ? फिर कोई बड़ा वैज्ञानिक हो, तो वह अपने आविष्कारोसे ही देशको कुछ बल दे-दे या फिर कोई बहुत बड़ा धनपति हो, तो वह अपने धनका भामाशाहकी तरह समयपर त्याग कर ही देशके काम आ सकता है, पर हरेक आदमी न तो ऐसा वैज्ञानिक ही हो सकता है, न धनिक ही। फिर जो बेचारा अपनी ही दाल-रोटीकी फ़िक्रमें लगा हुआ हो, वह अपने देशके लिए चाहते हुए भी क्या कर सकता है ?"

आपका प्रश्न विचारोंको उत्तेजना देता है, इसमें सन्देह नहीं, पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इसमें जीवन-शास्त्रका घोर अज्ञान भी भरा हुआ है। अरे भाई, जीवन कोई आपके मुन्नेकी गुड़िया थोड़े ही है कि आप

कह सकें कि बस यह है, इतना ही है। वह तो एक विशाल समुद्रका तट है, जिसपर हरेक अपने लिए स्थान पा सकता है।

लो, एक और बात बताता हूँ आपको। जीवनको दर्शनशास्त्रियोंने बहुमुखी बताया है, उसकी अनेक धाराएँ हैं। सुना नहीं आपने कि जीवन एक युद्ध है और युद्धमें कोई एक लड़ना ही तो काम नहीं होता। लड़नेवालोंको रसद न पहुँचे, तो वे कैसे लड़ें? किसान ठीक खेती न उपजायें, तो रसद पहुँचानेवाले क्या करें और लो, जाने दो बड़ी-बड़ी बातें, युद्धमे जय बोलनेवालोंका भी महत्त्व है।

"जय बोलनेवालोंका?"

हाँ जी, युद्धमें जय बोलनेवालोंका भी बहुत महत्त्व है। कभी मैच देखनेका तो अवसर मिला ही होगा आपको? देखा नहीं आपने कि दर्शकोंकी तालियोंसे खिलाड़ियोंके पैरोंमे बिजली लग जाती है और गिरते खिलाड़ी उभर जाते हैं। कवि-सम्मेलनों और मुशायरोंकी सारी सफलता दाद देनेवालोंपर ही निर्भर करती है। इसलिए मैं अपने देशका कितना भी साधारण नागरिक क्यों न हूँ, अपने देशके सम्मानकी रक्षाके लिए बहुत कुछ कर सकता हूँ। 'अकेला चना क्या भाड़ फोड़े!' यह कहावत मैं अपने अनुभवके आधारपर ही आपसे कह रहा हूँ कि सौ फ़ीसदी झूठ है। इतिहास साक्षी है, बहुत बार अकेले चनेने ही भाड़ फोड़ा है और ऐसा फोड़ा है कि भाड़ खील-खील ही नहीं हो गया, उसका निशान तक ऐसा छूमन्तर हुआ कि कोई यह भी न जान पाये कि वह बेचारा आख़िर था कहाँ?

मैं जानता हूँ इतिहासकी गहराइयोंमे उतरनेका यह समय नहीं है, पर दो छोटी कहानियाँ तो सुन ही सकते हैं आप? और कहानियाँ भी न प्रेमचन्दकी, न एण्टन चेखॅवकी, दो युवकोंके जीवनकी दो घटनाएँ हैं, पर उन दो घटनाओंमे वह गाँठ इतनी साफ़ है, जो नागरिक और देशको एक साथ बाँधती है कि आप दो बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़कर भी उसे इतनी साफ़ नहीं देख सकते।

हमारे देशके महान् सन्त स्वामी रामतीर्थ एक बार जापान गये। वे रेलमें यात्रा कर रहे थे कि एक दिन ऐसा हुआ कि उन्हें खानेको फल न मिले और उन दिनों फल ही उनका भोजन था। गाड़ी एक स्टेशनपर ठहरी, तो वहाँ भी उन्होंने फलोंकी खोज की, पर वे पा न सके। उनके मुँहसे निकला : "जापानमें शायद अच्छे फल नहीं मिलते !"

एक जापानी युवक प्लेटफ़ॉर्मपर खड़ा था। वह अपनी पत्नीको रेलमें बैठाने आया था, उसने ये शब्द सुन लिये। सुनते ही वह अपनी बात बीचमें ही छोड़कर भागा और कहीं दूरसे एक टोकरी ताज़े फल लाया। वे फल उसने स्वामी रामतीर्थको भेंट करते हुए कहा : "लीजिए, आपको ताज़े फलोंकी ज़रूरत थी।"

स्वामीजीने समझा यह कोई फल बेचनेवाला है और उनके दाम पूछे, पर उसने दाम लेनेसे इनकार कर दिया। बहुत आग्रह करनेपर उसने कहा : "आप इनका मूल्य देना ही चाहते हैं तो वह यह है कि आप अपने देशमें जाकर किसीसे यह न कहिएगा कि जापानमें अच्छे फल नहीं मिलते।"

स्वामीजी युवकका यह उत्तर सुन मुग्ध हो गये और वे क्या मुग्ध हो गये, उस युवकने अपने इस कार्यसे अपने देशका गौरव जाने कितना बढ़ा दिया।

इस गौरवकी ऊँचाईका अनुमान आप दूसरी घटना सुनकर ही पूरी तरह लगा सकेंगे। एक दूसरे देशका निवासी एक युवक जापानमे शिक्षा लेने आया। एक दिन वह सरकारी पुस्तकालयसे कोई पुस्तक पढ़नेको लाया। इस पुस्तकमें कुछ दुर्लभ चित्र थे। ये चित्र इस युवकने पुस्तकमें-से निकाल लिये और पुस्तक वापस कर आया। किसी जापानी विद्यार्थीने वे देख लिये और पुस्तकालयको उसकी सूचना दे दी। पुलिसने तलाशी लेकर वे चित्र उस विद्यार्थीके कमरेसे बरामद किये और उस विद्यार्थीको जापानसे निकाल दिया गया।

मामला यहींतक रहता, तो कोई बात न थी। अपराधीको दण्ड मिलना ही चाहिए, पर मामला यहींतक नहीं रुका और उस पुस्तकालयके बाहर बोर्डपर लिख दिया गया कि उस देशका (जिसका वह विद्यार्थी था) कोई निवासी इस पुस्तकालयमे प्रवेश नहीं कर सकता !

मतलब साफ़ है, एकदम साफ कि जहाँ एक युवकने अपने कामसे अपने देशका सिर ऊँचा किया था, वहीं एक युवकने अपने कामसे अपने देशके मस्तकपर कलकका ऐसा टीका लगाया, जो जाने कितने वर्षो तक संसारके आँखोमे उसे लांछित करता रहा।

इन घटनाओंसे क्या यह स्पष्ट नहीं है कि हरेक नागरिक अपने देशके साथ बँधा हुआ है और देशकी हीनता और गौरवका ही फल उसे नही मिलता, उसकी हीनता और गौरवका फल भी उसके देशको मिलता है।

मै अपने देशका एक नागरिक हूँ और मानता हूँ कि मैं ही अपना देश हूँ। जैसे मैं अपने लाभ और सम्मानके लिए हरेक छोटी-छोटी बातपर ध्यान देता हूँ, वैसे ही मै अपने देशके लाभ और सम्मानके लिए भी छोटी-छोटी बातों तकपर ध्यान दूँ, यह मेरा कर्तव्य है और जैसे मैं अपने सम्मान और साधनोंसे अपने जीवनमे सहारा पाता हूँ, वैसे ही देशके सम्मान और साधनों-से भी सहारा पाऊँ, यह मेरा अधिकार है। बात यह है कि मै और मेरा देश दो अलग चीज़ तो है ही नहीं !

मैंने जो कुछ जीवनमे अध्ययन और अनुभवसे सीखा है, वह यही है कि महत्त्व किसी कार्यकी विशालतामे नहीं है, उस कार्यके करनेकी भावनामे है। बड़ेसे बड़ा कार्य हीन है, यदि उसके पीछे अच्छी भावना नहीं है और छोटेसे छोटा कार्य भी महान् है, यदि उसके पीछे अच्छी भावना है।

महान् कमालपाशा उन दिनों अपने देश तुर्कीके राष्ट्रपति थे। राजधानी-में उनकी वर्षगाँठ बहुत धूमधामसे मनायी गयी। देशके लोगोंने उस दिन लाखों रुपयोंके उपहार उन्हें भेंट किये। वर्षगाँठका उत्सव समाप्त कर जब वे अपने भवनमें ऊपर चले गये, तो एक देहाती बूढ़ा उन्हें वर्षगाँठका उपहार भेंट

करने आया। सेक्रेटरीने कहा : "अब तो समय बीत गया है।" बूढ़ेने कहा : "मैं तीस मीलसे पैदल चलकर आ रहा हूँ, इसीलिए मुझे देर हो गयी।"

राष्ट्रपति तक उसकी सूचना भेजी गयी। कमालपाशा विश्रामके वस्त्र बदल चुके थे। वे उन्हीं कपड़ोंमें नीचे चले आये और उन्होंने आदरके साथ बूढ़े किसानका उपहार स्वीकार किया। यह उपहार मिट्टीकी छोटी-सी हँड़ियामें पाव-भर शहद था, जिसे बूढ़ा स्वयं तोड़कर लाया था। कमाल-पाशाने हँड़ियाको स्वयं खोला और उसमें-से दो उँगलियाँ भरकर चाटनेके बाद तीसरी उँगली शहदमें भरकर बूढ़ेके मुँहमें दे दी। बूढ़ा निहाल हो गया।

राष्ट्रपतिने कहा : "दादा, आज सर्वोत्तम उपहार तुमने ही मुझे भेंट किया, क्योंकि इसमें तुम्हारे हृदयका शुद्ध प्यार है।" उन्होंने आदेश दिया कि राष्ट्रपतिकी शाही कारमें शाही-सम्मानके साथ उनके दादाको गाँव तक पहुँचाया जाये।

क्या वह शहद बहुत क़ीमती था? क्या उसमें मोती-हीरे मिले हुए थे? ना, उस शहदके पीछे उसके लानेवालेकी भावना थी, जिसने उसे सौ लालों-का एक लाल बना दिया!

हमारे देशमें भी एक ऐसी ही घटना घटी थी। एक किसानने रंगीन सुतलियोंसे एक खाट बुनी और उसे रेलमें रखकर वह दिल्ली लाया। दिल्ली स्टेशनसे उस खाटको अपने कन्धेपर रखे, वह भारतके प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरूकी कोठीपर पहुँचा। पण्डितजी कोठीसे बाहर आये, तो वह खाट उसने उन्हें दी। पण्डितजीको देखकर, वह इतना भाव-मुग्ध हो गया कि कुछ कह ही न सका! पण्डितजीने पूछा : "क्या चाहते हो तुम?"

उसने कहा : "यही कि आप इसे स्वीकार करें।" प्रधान मन्त्रीने उसका यह उपहार प्यारसे स्वीकार किया और अपना एक फ़ोटो दस्तख़त करके उसे स्वयं भी उपहारमें दिया। जिस दस्तख़ती फ़ोटोके लिए देशके बड़े-बड़े लोग, विद्वान् और धनी तरसते हैं, वह क्या उस मामूली खाटके बदलेमें दया गया था? ना, वह तो उस खाटवालेकी भावनाका ही सम्मान था!

"क्यों जी, हम यह कैसे जान सकते है कि हमारा काम देशके अनुकूल है या नहीं ?"

वाह, क्या सवाल पूछा है, आपने ! सवाल क्या, बातचीतमें आपने तो एक क़ीमती मोती ही जड़ दिया यह, पर इसके उत्तरमे सिर्फ़ 'हाँ' या 'ना'-से काम न चलेगा। मुझे थोड़ा विवरण देना पड़ेगा।

हम अपने कार्योंको देशके अनुकूल होनेकी कसौटीपर कसकर चलनेकी आदत डालें, यह बहुत उचित है, बहुत सुन्दर है, पर हम इसमे तबतक सफल नहीं हो सकते, जबतक कि हम अपने देशकी भीतरी दशाको ठीक-ठीक न समझ ले और उसे हमेशा अपने सामने न रखे।

हमारे देशको दो बातोंकी सबसे पहले और सबसे ज्यादा ज़रूरत है। एक शक्ति-बोध और दूसरा सौन्दर्य-बोध ! बस हम यह समझ लें कि हमारा कोई भी काम ऐसा न हो, जो देशमे कमज़ोरीकी भावनाको बल दे या कुरुचिकी भावनाको ही।

"ज़रा अपनी बातको और स्पष्ट कर दीजिए !" यह आपकी राय है और मै इससे बहुत ही खुश हूँ कि आप मुझसे यह स्पष्टता माँग रहे हैं।

क्या आप चलती रेलोंमे, मुसाफ़िरख़ानोंमे, क्लबोंमे, चौपालोंपर और मोटर बसोंमे कभी ऐसी चर्चा करते है कि हमारे देशमे यह नहीं हो रहा है, वह नहीं हो रहा है और यह गड़बड़ है, वह परेशानी है ? साथ ही क्या इन स्थानोंमे या इसी तरहके दूसरे स्थानोंमें आप कभी अपने देशके साथ दूसरे देशोंकी तुलना करते है और इस तुलनामे अपने देशको हीन और दूसरे देशोंको श्रेष्ठ सिद्ध किया जाता है ?

यदि इन प्रश्नोंका उत्तर हाँ है, तो आप देशके शक्ति-बोधको भयंकर चोट पहुँचा रहे हैं और आपके हाथों देशके सामूहिक मानसिक बलका ह्रास हो रहा है। सुनी है आपने शल्यकी बात ? वह महाबली कर्णका सारथी था। जब भी कर्ण अपने पक्षके विजयकी घोषणा करता, हुंकार भरता, वह अर्जुन-की अजेयताका एक हलका-सा उल्लेख कर देता। बार-बारके इस उल्लेखने

कर्णके सघन आत्मविश्वासमे सन्देहकी तरेड़ डाल दी, जो उसके भावी पराजयकी नींव रखनेमे सफल हो गयी।

अच्छा, आप इस तरहकी चर्चा कभी नहीं करते, तो मैं आपसे दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। क्या आप कभी केला खाकर छिलका रास्तेमे फेंकते है? अपने घरका कूड़ा बाहर फेंकते हैं? मुँहसे गन्दे शब्दोंमें गन्दे भाव प्रकट करते हैं? इधरकी उधर, उधरकी इधर लगाते हैं? अपना घर, दफ़्तर, गली, गन्दा रखते है? होटलों-धर्मशालाओंमे या दूसरे ऐसे ही स्थानोंमें, ज़ीनोंमे, कोनोंमें पीक थूँकते हैं? उत्सवों, मेलों, रेलों और खेलोंमे ठेलमठेल करते है, निमन्त्रित होनेपर समयसे लेट पहुँचते है या वचन देकर भी घर आनेवालोंको समयपर नहीं मिलते और इसी तरह किसी भी रूपमे क्या सुरुचि और सौन्दर्यको आपके किसी कामसे ठेस लगती है?

यदि आपका उत्तर हाँ है, तो आपके द्वारा देशके सौन्दर्य-बोधको भयंकर आघात लग रहा है और आपके द्वारा देशकी संस्कृतिको गहरी चोट पहुँच रही है।

"क्या कोई ऐसी कसौटी भी बनायी जा सकती है, जिससे देशके नागरिकोंको आधार बनाकर देशकी उच्चता और हीनताको हम तोल सकें?"

लीजिए, चलते-चलते आपके इस प्रश्नका भी उत्तर दे ही दूँ। इस उच्चता और हीनताकी कसौटी है चुनाव!

जिस देशके नागरिक यह समझते हैं कि चुनावमे किसे अपना मत देना चाहिए और किसे नहीं, वह देश उच्च है और जहाँके नागरिक ग़लत लोगोंके उत्तेजक नारों या व्यक्तियोंके ग़लत प्रभावमें आकर मत देते हैं, वह हीन है।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि मेरा, यानी हरेक नागरिकका यह कर्तव्य है कि वह जब भी कोई चुनाव हो, ठीक मनुष्यको अपना मत दे और मेरा अधिकार है कि मेरा मत लिये बिना कोई भी आदमी, वह संसारका सर्वश्रेष्ठ महापुरुष ही क्यों न हो, किसी अधिकारकी कुरसीपर न बैठ सके।

मैं और मैं

"जब देखो गुमसुम, जब देखो गुमसुम ! अरे भाई, तुम्हे क्या साँप सूँघ गया है कि सुबहके सुहावने समयमें यों चुपचाप बैठे हो। तुमसे अच्छे तो देवीकुण्डके कछुए ही है कि तैरते नज़र तो आ रहे हैं। उठो, दो-चार किलकारियाँ भरो और अँगीठीके पेटमे गोला डालो, जिससे अपना भी पेट गरमाये !"

ओहो, तुम कहाँसे आ टपके इस समय ? कोई कितनी ही गम्भीर मूडमें हो, विचारोंकी कितनी ही गहराइयोंमे उतर रहा हो, तुम्हारी आदत है, बीचमे आ कूदना और फैलाने लगना लन्तरानियोंके लच्छे—एकके बाद एक ? सच यह है कि यह बहुत बुरी आदत है।

"तो हम लन्तरानियोंके लच्छे फैलाते हैं और तुम गम्भीर मूडमें रहते हो। सचाई यह है भाई जान, कि ज़माना बहुत ख़राब है। जिस गधेको नमक दो, वही कहता है कि मेरी आँख फोड़ दी। हम जा रहे थे अपने काम, तुम्हें दूरसे देखा सुस्त, रास्ता काटकर इधर आये कि देखें माजरा क्या है और मामला कुछ गड़बड़ हो, तो कुछ मदद करें, पर तुम्हारे तेवर कुछ ऐसे बदले हुए हैं कि जैसे हम सुबह-सुबह चार रुपये उधार माँगने आ गये हों और इससे पहले इसी तरह हाथ उधार उठाये रुपये हमने अभी तक वापस न किये हों। बहुत अच्छे रहे !"

ना, ना, यह बात नहीं है। तुम्हारा आना सिर आँखोंपर, तुम भी यह क्या बात कह रहे हो, पर बात यह है कि मैं इस समय बहुत गहरे चिन्तनमें था और लो बताऊँ तुम्हें, गहरे चिन्तनमें क्या था, मैं अपने-आपमें खोया हुआ हूँ आज !

"वाह भाई वाह; क्या कहने ! लो, फिर बताऊँ तुम्हें मैं भी एक बात कि

आज तुमने ऐसी दूनकी हाँकी कि अबतकके सब छौंक मात हो गये। हाँ जी, तो आज तुम अपने-आपमें खोये हुए हो। मियाँ, खोये हुए हो, तो डौण्डी पिटवाओ या पुलिसमे रिपोर्ट लिखाओ, खड़े-खड़े क्या देख रहे हो भैंगे बम्बूल-से !"

तुम भी अजब आदमी हो कि मैं कह रहा हूँ सत-सुभाव एक गहरी बात और तुम उड़ा रहे हो गुलटप्पे, पर बात यह है कि पढाईके लिए एक पैसा कभी किसी मास्टरको तुमने दिया नहीं, अक़्ल आये भी तो कहाँसे ? लो, फिर मैं भी आज तुम्हारे ही-जैसोंकी एक कहानी सुनाता हूँ। उसे सुनकर तुम समझोगे कि कैसे आदमी अपने-आपमें खोया जाता है।

पाँच आदमी आपसमें गहरे दोस्त थे। करने-धरनेको कुछ नहीं, खानेको दोनों समय रोटी और पीनेको भंग चाहिए – पाँचों पक्के भंगड़ी – पियें और धुत्त पड़े रहें। एक दिन कहीं मन्दिरमें बैठे घोंट रहे थे कि उन पाँचोंकी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर जा पहुँची और लगीं दिलके गुब्बार निकालने जो दस-पाँच आदमी वहाँ और थे, उन्होंने भी इन स्त्रियोंकी बातका समर्थन किया। बड़ी बेइज़्ज़ती हुई और पाँचोंने कहीं परदेशमें जाकर रोज़गार करनेका फ़ैसला किया।

पाँचों चल पड़े। चलते-चलते आपसमें सलाह की कि भाई, होशियारीसे चलियौ, कहीं रास्तेमे ऐसा न हो कि साँझ हो जाये ज़रा गहरी और कोई खोया जाये – लौटकर उसकी घरवालीको क्या जवाब देंगे फिर ! कुछ दूर गये, रात हुई, एक मन्दिरमें पड़कर सो गये। सुबह उठते ही तय पाया कि भाई, पहले गिन लो, सब चौकस भी हैं !

उनमें-से एकने सबको गिना – एक, दो, तीन, चार। फिर गिना – एक, दो, तीन, चार ! ज़ोरसे चिल्लाकर कहा : अरे, हम तो पाँच घरसे चले थे, ये तो रात-भरमे ही चार रह गये। दूसरेने दोबारा सबको गिना, पर वे ही चारके चार। तीसरेने गिना, तब भी चार ही रहे। मामला

संगीन हो गया और तै पाया कि लौटकर घर चलें – शायद पाँचवाँ आदमी रातमें घर लौट गया हो ।

रास्तेमें सबके सब रोते-पीटते लौट रहे थे कि एक समझदार आदमी मिला । उसने इन्हें रोककर पूछा कि वे किस मुसीबतमें हैं ? इन्होंने बताया कि हम घरसे पाँच चले थे, पर रात-भरमें चार ही रह गये । उस आदमीने इन्हें गिना, तो ये पाँच थे ! उसने कहा : भले आदमियो, तुम घरसे पाँच चले थे और पाँच ही अब भी हो, तो रो क्यों रहे हो ?

अब इन भंगड़ियोंमें-से एकने फिर सबको गिना : एक, दो, तीन, चार !

समझदारने कहा : "अरे भोंदू, अपनेको तो गिन !" अब इन लोगोंकी समझमें आया कि मामला यह है कि जो गिनता है, अपनेको भूल जाता है । वही हाल मेरा हो रहा है कि मैंने घरकी सोची, पड़ौसकी सोची, नगरकी सोची, देशकी सोची और यों समझो कि दुनियाकी बातें सोच मारीं, पर अपनी बात भूल गया और कभी यह न सोचा कि आखिर मेरा मेरे प्रति क्या कर्तव्य है और क्या अधिकार है । आज मैं यही सोच रहा था कि तुम आ गये । कहो फिर मैं गहरे चिन्तनमें था या नहीं ?

"भाई, बात तो तुम्हारी कुछ पतेकी-सी लगती है कि हम दुनियाकी बात सोचते हैं, पर अपनी नहीं और सच बात बड़े कह गये हैं कि 'आप मरे जग परलो' – यानी हम मर गये तो दुनिया मर गयी । हम नहीं तो जहान नहीं, बात मनको लगती है, पर अपने बारेमें सोचें ही क्या ?"

नहीं सोचते, तो लिखाओ पशुओंमें नाम; क्योंकि जो सोचता नहीं, वह पशु है – जानवर है ।

"तो हम पशु हैं आपकी रायमें ? वाह साहब, आप हमें पशु बता रहे हैं, पर भाई, यह तो बताओ कि तुम्हें हमारी पूँछ और सींग किधर दिखाई दिये ?"

पूँछ और सींग ? पशु बननेके लिए पूँछ और सींगकी ज़रूरत नहीं पड़ती । बात यह है कि पशुता और मनुष्यता दो भाव हैं । जो पहले सोचे

और फिर चले, वह मनुष्य और जो सोचे कुछ नहीं, बस जिधर कोई हाँक ले जाये, चला चले वह पशु – अब आयी तुम्हारी समझमे मेरी बात ?

"तो सोचना ज़रूरी है !"

जी हाँ, सोचना ज़रूरी है और अपने बारेमे सोचना ज़रूरी है। मैं यही ज़रूरी काम कर रहा था, जब तुम आये !

महाकवि शेख़सादी एक दिन अपने बेटेके साथ सुबहकी नमाज़ पढ़कर लौट रहे थे। उनके बेटेने देखा कि रास्तेके दोनों तरफ़वाले घरोंमें अभीतक बहुत-से आदमी सोये पड़े है। उसने अपने पितासे कहा : "अब्बा, ये लोग कितने पापी है कि अभीतक पड़े सो रहे हैं और नमाज़ पढ़ने नहीं गये !"

विचारक शेख़सादीने दुःख-भरे स्वरमे कहा : "बेटा, बहुत अच्छा होता कि तू भी सोता रहता और नमाज़ पढ़ने न आता !"

बेटेने आश्चर्यसे पूछा : "यह आप क्या कह रहे है मेरे अब्बा ?"

शेख़सादीने और भी गहरेमे डूबकर कहा : "तब तू दूसरोंकी बुराई खोजनेके इस भयंकर पापसे तो बचा रहता मेरे बेटे !"

मतलब यह कि अपने बारेमें सबसे पहले जो बात सोचनेकी है, वह यह कि मेरा यह अधिकार है कि मै अच्छे काम करूँ, अपने जीवनको ऊँचा उठाऊँ, पर मेरा यह कर्तव्य भी है कि जो किसी कारणसे अच्छे काम नहीं कर रहे हैं या साफ़ शब्दोंमें गिरे हुए है, उन्हें अपने कामोंसे ऊँचे उठनेकी प्रेरणा देते हुए भी, उनपर अपने अहंकारका बोझ न लादूँ, क्योंकि अहंकार घृणाका पिता है और घृणा जीवनकी सम्पूर्ण ऊँचाइयोंकी दुश्मन है !

ख़ास बात यह है कि घृणा उसका घात करती है, जो घृणा करता है और इस तरह मैं दूसरोंसे घृणा करके अपना ही घात करता हूँ।

"तो घृणाका रोकना ज़रूरी है ?"

हाँ जी, घृणाका रोकना – उसे उत्पन्न ही न होने देना, बहुत ज़रूरी है, पर रोकनेकी बात कहकर तुमने मुझे एक पुरानी बात याद दिला दी।

मेरे एक मित्र है श्री कौशलप्रसाद जैन उन्हें अपने जीवनमे पहली

असफलता यह मिली कि वे इण्ट्रेन्स पास न कर सके और नाइन्थमें ही उन्हें स्कूलको नमस्कार करना पड़ा।

इसके कुछ दिन बाद ही उन्होंने एक छोटा-सा प्रेस खोल दिया। साझी समझदार था, कर्ज़ा प्रेसके नाम लिखता रहा, आमदनी अपने। प्रेस फ़ेल हो गया और मेरे मित्र चौराहेपर खड़े दिखाई दिये।

अपने पिताकी पूरी पूँजी लगाकर उन्होंने बरतनोंका एक कारख़ाना खोल लिया। बरतन बनते, क़लई होती, रुपये छनका करते। सेठोंमें गिनती होने लगी, पर तभी उनकी पत्नी बीमार हो गयी। उसे लिये इरविन अस्पताल पड़े रहे। कारख़ाना मज़दूर खा गये। पाँच महीने बाद लौटकर आये तो लेना कम था, देना बहुत। यहाँ भी ताला बन्द किया और पन्सारीकी थोक दूकान की। मेवाके ढेर लग गये — ढेरों आती, बोरियों जाती। फिर रुपया बरसने लगा, पर जाने कैसे ये घटाएँ भी छितरा गयीं और पत्नीका सारा ज़ेवर बेचकर जान छूटी।

ख़ाली तो रह ही न सकते थे। घरसे दूर जाकर होटल खोल लिया। चला, चमका और ठप हो गया। वहाँसे भी हटे और अपने सम्बन्धीकी सोडावाटर फ़ैक्टरीमें बैठने लगे। यहाँसे एक बीमा कम्पनीमें गये, ख़ूब चमके। बीमा कम्पनीमें डाइरेक्टरोंका कुछ झमेला मचा, तो इन्होंने शरबतकी दूकान खोल ली और एक अख़बार निकाल दिया। दोनों ख़ूब चले, पर चलकर टिके नहीं, चले ही गये।

अब ये एक बहुत बड़ी कम्पनीके मैनेजिंग डाइरेक्टर थे। यहाँ ये ऐसे चमके कि पिछली सब चमकें धीमी पड़ गयीं। एक बार तो ऐसी हवा बँधी कि गाँठ बँध गयी, पर फिर वे ही बहुत-सी बातें इकट्ठी हुईं और कम्पनीमें ताला पड़ा।

मेरे मित्र अब पुस्तक-प्रकाशक थे। बाज़ार उनकी पुस्तकोंसे छाया हुआ था, धूम थी। ख़ूब ज़ोर रहे। देश स्वतन्त्र हुआ, उन्हें एक यात्राके बीचमें मेव लोगोंने रेलसे उतार लिया और जाने कितने दिन बन्दी रहे।

जाने कैसे बचे और कहाँ-कहाँ भटकते रहे। बहुत दिन बाद एक पत्रकारके रूपमे प्रकट हुए और अब शान्तिके साथ सम्मानकी और व्यवस्थाकी ज़िन्दगी बिता रहे हैं।

उन्हें देखकर बराबर मेरा दिमाग़ चक्करमें रहता कि ये सज्जन कितने अद्भुत हैं कि इतनी असफलताओंके थपेड़े खाकर भी निराश नहीं हुए। मैं उनके बारेमे बहुत सोचता, पर उनके व्यक्तित्वका रहस्य न समझ पाता!

एक दिन एक दूसरे मित्र आये श्री रूपसिंह सिंहल! उनका कारखाना भी फ़ेल हो गया था और वे उसका मामला निमटानेमें मेरा सहयोग चाहते थे। उनकी दो मोटरें बिकनी थीं, पर पूरे दाम देनेवाला कोई ग्राहक बाज़ार-मे न था। एक दिन बहुत ऊबे हुए मेरे पास आकर बोले : "तो भाई साहब, जितनेमे विकती है, उतने ही मे बेच दें, पर यह मामला निमटा दें।"

मैंने कहा : "मामला तो निमटाना ही है, पर दस हज़ारकी गाड़ियाँ छह हज़ारमे कैसे बेच दूँ?"

बोले : "छह हज़ारमे ही बेच दीजिए। बात यह है कि यह मामला निमट जाये तो मैं 'फ़्रैश स्टार्ट' ले सकता हूँ!"

मेरे कानोंमें पड़ा 'फ़्रैश स्टार्ट' – इसका अर्थ होता है – 'नया ताज़ा आरम्भ!' सुनते ही मुझे एक नयी ताज़गी अनुभव हुई और मैंने सोचा : हर नया आरम्भ अपने साथ एक ताज़गी, एक तेज़ी, एक स्फुरणा लिये आता है।

तभी याद आ गये मुझे फिर कौशलजी, जो जीवनमें बार-बार असफल होकर भी थके नहीं, ऊबे नहीं और बराबर आगे बढ़ते रहे और आज ही पहली बार मेरी समझमे आया, उनकी उस अपराजित वृत्तिका रहस्य। यह रहस्य है : नया-ताज़ा आरम्भ! वे हारे, पर हारकर रुके नहीं और इस न रुकनेमें ही उनकी सफलताका रहस्य छिपा हुआ है।

मैंने सोचा : मेरा अपने प्रति यह अधिकार है कि मै हार जाऊँ, थक जाऊँ, गिर भी पड़ूँ और भूलूँ-भटकूँ भी, क्योंकि यह सब एक मनुष्यके

नाते मेरे लिए स्वाभाविक है – सम्भव है, पर मेरा यह कर्तव्य है कि मैं हारकर भागूँ नहीं, थककर बैठूँ नहीं, गिरकर गिरा ही न रहूँ और भूल-भटककर भरमता ही न फिरूँ; जल्दीसे जल्दी अपनी राहपर आ जाऊँ, अपने काममें लग जाऊँ और एक नया आरम्भ करूँ, क्योंकि रुक जाना ही मेरी मृत्यु है और मरनेसे पहले मरना, न मेरा अधिकार है न कर्तव्य !

अभी मैंने कहा कि रुक जाना ही मेरी मृत्यु है और यह बिलकुल ठीक कहा है मैंने, पर एक बात बताऊँ तुम्हें कि रुक जाना ही जीवनकी सबसे बड़ी कला है – बुद्धिकी सबसे बड़ी कसौटी है यह प्रश्न कि कहाँ रुकूँ ?

"वाह भाई वाह, अभी कह रहे थे कि रुक जाना मृत्यु है, अभी कह रहे हो, यह जीवनकी सबसे बड़ी कला है और साथ ही यह भी कि दोनों बातें सोलह आने सच हैं । आख़िर, बात करते हो या मजाक़ छौंकते हो ?"

जी, मजाक़ नहीं छौंकता, बात करता हूँ और बड़े पतेकी बात करता हूँ, जैसी हरेक कर नहीं सकता । इन बातोंके पीछे मेरा पचीस वर्ष, यानी पूरी चौथाई शताब्दीका अध्ययन ही नहीं, अनुभव भी है । रुक जाना ही मृत्यु है, यह तो तुम भी मानते हो, पर बुद्धिकी सबसे बड़ी कसौटी है यह प्रश्न कि कहाँ रुकूँ और यह अनुभव इंग्लैण्डके भूतपूर्व विदेश-मन्त्री ऐन्थोनी ईडनका है, कुछ मेरा नहीं !

"ऐन्थोनी ईडनका यह अनुभव है कि मैं कहाँ रुकूँ, यह प्रश्न बुद्धिकी सबसे बड़ी कसौटी है ?"

जी हाँ, लो पूरी बात ही जो सुन लो। इंग्लैण्डकी पार्लामेण्टमें बोलते हुए एक बार उन्होंने युद्धके दिनोंका अपना एक संस्मरण सुनाया था ।

हिटलर तूफ़ानकी तरह बढ़ा चला आ रहा था, पर तब उसकी दोस्ती रूससे टूट चुकी थी और अँगरेज़ रूसको अपने साथ मिलानेकी कोशिशें कर रहे थे । अफ़वाहें उड़ रही थीं कि हिटलर इंग्लैण्डपर चढ़ाई करेगा या रूसपर और तभी एक दिन अचानक हिटलरकी फ़ौजें रूसपर चढ़ गयी थीं। तभीकी यह बात है । इंग्लैण्डके विदेश-मन्त्रीकी हैसियतमें श्री ऐन्थोनी

ईडन रूसके सर्वेसर्वा श्री स्तालिनसे मिल रहे थे। हिटलरकी विजयोंसे इंग्लैण्डमे भयका तूफ़ान उठा हुआ था। महाशय स्तालिनने ईडनको विश्वास दिलाया कि वे यह विश्वास करें कि हिटलर ज़रूर पराजित हो जायेगा और वह इंग्लैण्डकी ओर देखनेका अवसर न पा सकेगा।

यह सुनकर ईडनको शान्ति मिली, पर वे मुसकराये। दुनियाका बड़ेसे बड़ा बुद्धिमान् इस मुसकराहटका अर्थ यही लगाता कि ईडनको विश्वास नहीं हुआ है, पर महाशय स्तालिन उसका ठीक अर्थ भाँप गये और ईडनसे बोले : मैं तुम्हारी मुसकराहटका अर्थ समझ गया हूँ। तुम सोच रहे हो कि हिटलर तो हार जायेगा, पर उसके बाद क्या होगा? सुनो, हिटलर बहुत बहादुर है, पर वह बढ़ना जानता है, रुकना नहीं और मै रुकना भी जानता हूँ। महाशय स्तालिनका आशय यह था कि हिटलरको जीतनेके बाद मै और नहीं बढ़ूँगा और बस वहीं रुक जाऊँगा, इंग्लैण्डको मुझसे कोई खतरा नहीं।

है न रुकना बड़ी बात और इस बड़ी बातको अपनेमे पीकर मैं सोच रहा हूँ कि मेरा यह अधिकार है कि जीवनकी चारों ओर फैली हुई गलियोंमे मैं जिधर चाहूँ बढ़ूँ, पर अपने प्रति मेरा यह कर्तव्य है कि जहाँ रुकनेकी जगह है, वहाँ रुकनेमे पल-भर भी न झिझकूँ, रुक जाऊँ और बस एकदम वहीं रुक जाऊँ, क्योंकि रुकनेकी जगहसे एक क़दम आगे बढ़ना भी भयंकर है!

देखा तुमने? सचाई यह है कि हरेक बातके दो पहलू हैं। जो दोनोंको साधकर चलता है, वही चतुर है, तुम मेरे पास किसी कामसे आते हो, मै उसपर हाँ कहता हूँ। तुम मुझे कोई सेवा सौंपते हो, मैं हाँ कहता हूँ। तुम मुझसे कुछ माँगते हो, मैं हाँ कहता हूँ। तुम सब मेरी तारीफ़ करते हो, क्योंकि हाँ सबको प्यारी है, पर मनुष्यका चरित्र हाँमे नहीं, नामें है। हाँ कहना आसान है, पर मनुष्य वह है कि जो ना कह सके और उस नापर टिका रह सके।

"मनुष्य वह है जो ना कह सके?"

हाँ मनुष्य वह है जो ना कह सके ! बात यह है कि हमपर जो माँगें होती हैं, वे सब उचित ही तो नही होतीं ! मैं यदि अनुचित माँगपर भी हाँ कहता हूँ, तो यह मेरी चरित्र-हीनता है – भले ही यह हाँ, मैं लिहाज़मे आकर कहूँ या दबावमें आकर या दयाके वशीभूत होकर। जहाँ मैं जाना नहीं चाहता, जब वहाँ जाता हूँ, जो करना नही चाहता, वह करता हूँ, चाहे उसका कारण कुछ भी हो, मैं अपने व्यक्तित्वको हीन करता हूँ। यही मैं कहना चाहता हूँ कि मेरा कर्तव्य है कि मैं दूसरोंके लिए जो कर सकता हूँ करूँ, ज़रूर करूँ, पर जो नहीं कर सकता, नहीं करना चाहता, करना उचित नहीं समझता, उसके लिए ना कहूँ और चाहे जो हो, इस नाको हाँमें न बदलने दूँ।

मै एक हूँ और मुझसे अलग जो दूसरे है, वे अनेक है। यही व्यष्टि और समष्टि है। हमारे राष्ट्रके जीवन-शास्त्रने जो महान् खोज की है, वह व्यष्टि और समष्टिकी एकता – 'यद् व्यष्टौ, तत्समष्टौ' – जो व्यष्टिमें है, वही समष्टिमे है। मतलब यह है कि मै अपनेमे पूर्ण होकर भी, अकेला होकर भी, समष्टिका, सारे संसारका प्रतिनिधि हूँ और इस सुखकी अनुभूति-से जो मस्ती मनमे आती है, उसमे झूमकर कहना चाहूँ, तो कह सकता हूँ कि मैं ही संसार हूँ।

यह क्या कोई साधारण बात है ? ना, मै इसे अनुभव करता हूँ, इस-लिए इसका गौरव भी ग्रहण करता हूँ; क्योंकि बाहरी दृष्टिसे तो मैं इस विशाल संसारका एक अणु हूँ, एक ज़र्रा हूँ, जिसका कुछ भी महत्त्व नहीं, जिसको कोई भी ठुकरा सकता है, पर यह नया दृष्टिकोण तो मुझे अणुकी जगह विराट्, लहरकी जगह समुद्र और हीनकी जगह महान् घोषित करता है। ओह, कितना सुख है इस नये दृष्टिकोणके अनुभवमें !

हाँ, इसमें बहुत गौरव है, बहुत सुख है, पर क्या मैं इस गौरव और सुखका आनन्द लेकर ही रह जाऊँ ? ना, हर गौरव अपने साथ, कुछ उत्तर-दायित्व, कुछ ज़िम्मेदारियाँ लेकर आता है। यदि हम इस उत्तरदायित्वको,

इस जिम्मेदारीको अनुभव न करें, न निबाहें, तो वह गौरव कुछ ही समयमें क्षीण होने लगता है और फिर नष्ट हो जाता है।

इस विचारकी छायामें मैं सोचता हूँ कि मेरा यह अधिकार है कि मैं अपनेमे समष्टिके, समाजके प्रतिनिधि होनेका गौरव अनुभव करूँ और मेरा कर्तव्य है कि मै इस गौरवके अनुरूप अपनी ज़िम्मेदारियाँ भी समझूँ और उन्हें निबाहूँ।

मेरे अधिकार ओर मेरे कर्तव्य मुझे सब तरहकी हीनताओंसे, दूषणोंसे, कमियोंसे, त्रुटियोंसे, बुराइयोंसे बचने और जीवनकी हर उच्चताकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा देते रहे!

पेड़, पशु, मनुष्य !

मेरी खिड़कीके सामने एक पेड़ खड़ा है। मेरी ही तरह साधारण देह है उसकी; पर जब उसपर फूल आते है, तो मुझे ऐसा लगता है जैसे आकाशसे बरसी देवताओंकी हँसीका अम्बार हो! चारों ओर हलके लाल रंगके फूल; यहाँतक कि पत्ते भी ढक-से जाते हैं।

मैं अपने पलंगपर बैठा उसे घण्टों देखता रहता हूँ, पर मन नहीं भरता। मैंने अकसर सोचा है कि काली मिट्टीमे जन्मे कुरूप तनेपर आश्रित इस पेड़में ऐसे कोमल पत्ते और इतने सुन्दर फूलोंकी सृष्टि विश्वका कितना बड़ा चमत्कार है। सोचते-सोचते ही मैं कई वार उठकर अपनी भावुकताके आवेशमे उस पेड़से जा लिपटा हूँ और मुझे ऐसा आनन्द आया है, मानो मैं अपने किसी मित्रसे मिल रहा हूँ!

शास्त्र और विज्ञान दोनों वृक्षोंको 'सजीव' मानते हैं। मेरा भी इसमे यों ही विश्वास-सा था, पर १९४२की जेल-यात्रामे अपने साथियोंके साथ जब मैं डाकू-वार्डमें बन्द किया गया, तो कुछ ही दिन पहले अपनी पत्नीकी मृत्युके कारण मेरे मनपर छायी शून्यता और भी घनी हो गयी। शून्यताके इसी वातावरणमें एक दिन चाँदनी रातमे अचानक चौकमें खड़े पेड़की जीवन-शक्तिका मुझे साक्षात् अनुभव हुआ और मुझपर-से शून्यताका वातावरण कुछ हट-सा गया। तबसे वृक्षोंके साथ मेरी आत्मीयता और भी गहरी हो गयी।

उस दिन भी मैं कुछ ऐसे ही 'मूड' में था कि उस पेड़के पास पहुँच गया। सन्ध्याका समय था और सूर्यकी हलकी किरणोंसे वह और भी भव्य हो रहा था।

मैंने कहा : आज तो मित्र, तुम अपनी हँसीमें आप ही लिपटे जा रहे हो; क्या बात है ? पेड़ बेचारा क्या बोलता; पर तभी कुछ फूल नीचे चू आये। अपनी भावुकतामें मुझे ऐसा लगा कि ये फूल मेरे प्रश्नका उत्तर हैं और तभी आत्मीयताके प्रवाहमें मैं ऐसा डूब गया कि पेड़के तनेपर प्यारसे थपथपाकर मैंने कहा : अच्छा चलो, कुछ दूर घूम आयें।

तभी हो गया मेरा खुमार कम और मैं आ गया भावुकताके आकाशसे यथार्थकी पृथ्वीपर, जिसमें पेड़ पेड़ है और मनुष्य मनुष्य ! तब मैंने अपने-आपसे कहा : 'पागल, पेड़ है यह तो; यह कहाँ जायेगा !' मनमें अफ़सोस-सा हुआ–काश, पेड़ भी चला करते !

मैं फिर विचारोंमें डूब गया। इस पेड़में जीवन है, सौन्दर्य है और बहुत-सी बातोंमें यह आजके मानवसे तो श्रेष्ठ ही है; पर इसमें गति नहीं है, इसीलिए यह स्थावर है।

इसी श्रृंखलामें सोचता हुआ मैं घूमने चला गया और खेतोंपर पहुँचते-पहुँचते एक सूत्र मेरे हाथ लगा, जिसकी तीन धाराएँ हैं :

– जिसमें जीवन है, पर गति नहीं है, वह पेड़ है,

– जिसमें जीवन है और गति है, वह पशु है, पर

– जिसमें जीवन है, गति है और गतिकी सही दिशा–प्रगति–भी है, वह मनुष्य है।

इन तीनों धाराओंका समन्वित भाष्य हुआ कि प्रगतिशीलता ही मानवकी कसौटी है और यही उसे वृक्ष और पशुसे पृथक् करती है।

धीरे-धीरे जियो !

हमेशा जिस बरतनमें मेरे स्नानके लिए पानी रखा जाता है, वह एक क़लईकी कूँड़ है और उसमें कोई तीन बाल्टी पानी आता है। उस दिन समयके समय एक अतिथि आ गये, तो गरम पानीका बँटवारा हो गया। अब कूँड़ मिली उन्हें और अलमुनियमका बड़ा भिगौना मुझे—यह अपनेमें बड़ा होकर भी इतना छोटा कि एक बाल्टीमें भरपूर !

भिगौना देखकर मुझे लगा कि आज पानी कम है और बिना सोचे भी इसका अर्थ हुआ—आज स्नानमें वैसा आनन्द न आयेगा। फिर भी स्नान तो करना ही था, करने लगा, पर स्नान आज कुछ और तरहका लग रहा है। कैसा लग रहा है, सो कुछ स्पष्ट नहीं, पर लग रहा है कुछ और तरहका ही। ज़रा सचेष्ट होकर सोचता हूँ, तो यह लगना अच्छा है, कुछ बुरा नहीं।

यहाँ मेरा मन जाग-सा गया है। यह जाग एक प्रश्न बन रही है—जब पानी आज और दिनसे कम है, तो स्नान अधूरा है। अधूरा होनेका अर्थ है कि उसमें आनन्दकी कमी है, पर यहाँ उलटी बात है कि आनन्द अधिक है, तो यह क्यों ?

प्रश्न उत्तर चाहता है, पर उत्तर तैयार तो है नहीं, उसे तैयार होना है। तैयारी प्रयोग चाहती है, काम माँगती है। इधर-उधर ध्यान गया, तो देखा कि रोज़ बड़ी कूँड़के साथ स्नान करनेको एक लोटा रहता था—संयोगवश आज गिलास ही है। लोटा शायद कूँड़के साथ ही चला गया है। लोटा एक बारमें सेर-भरसे ज़्यादा पानी लेता है, तो यह गिलास पाव-भर ही और यों लोटेसे नहानेमें तीन बाल्टियोंका पानी जितना समय लेता है, आज एक बाल्टी पानी उससे ज़्यादा समय ले रहा है।

मैं सोच रहा हूँ, यह देर तक नहाना ही आजका आनन्द है।

प्रश्नका उत्तर तो पूरा हो गया, पर प्रश्न भी तो एक पुरुष है, जो अकसर अपने साथ अपना कुटुम्ब रखता है। मुझे लग रहा है कि मनके भीतर एक नया प्रश्न उभरता आ रहा है। यह लो, वह आ गया ऊपरकी सतहपर – स्नानकी तरह जीवनकी भी स्थिति नहीं है क्या, जो जल्दी-जल्दी जीनेकी अपेक्षा धीरे-धीरे जीनेमे अधिक आनन्द देता है ?

स्नानकी बात जीवनमे उतरी, तो गहरी हो गयी और मैं जाने विचारोंके पातालमे कहाँ-कहाँ घूम आया। इस घूम-घाममे ज्ञानका यह सूत्र हाथ लगा : "सदा अंजलिको छोटी रखो; भले ही प्रश्न जीवनका हो या जीवनके किसी अंगका हो !, सवासेरी लोटेसे स्नान करने और गिलाससे स्नान करनेमे यही तो अन्तर है कि पहलेमें अंजलि बड़ी है, दूसरेमें छोटी !"

तभी मुझे याद आ गये गौन साहब। वे मेरी ही जन्मभूमिके एक युवक थे। प्लेगमे पिताकी मृत्यु हो गयी, तो सम्पदा हाथ आयी। आँखें कमज़ोर थीं, सो चौंधिया गयीं और खुल खेले। अब वे पूरे ज़ोरोमे थे। इठलाकर चलते, इतराकर बोलते। हरेक बातके अन्तमे कहते : गो-ओन। बस नाम ही पड़ गया गौन-साहब !

गौन साहबकी चारों तरफ़ चर्चा थी। होलीमें साँग खिलवाया, तो समा बँध गया। हज़ारों रुपये साँग-मण्डली, शराब और दावतमें उड़ गये। "वाह साहब, आदमी तो गौन साहब है कि रुपयेको कुछ समझते ही नही !" जो मिलता गौन साहबके जस गाता और जो जस गाता, कुछ पाता। मुफ़्तके पीनेवाले कहाँ सुलभ नहीं ? गौन साहब हमेशा दस-बीसमें घिरे रहते !

चैतके मेलेमें गौन साहबका डेरा सबको मात कर गया। फुलवाड़ी भी रही, आतशबाज़ी भी और नाच-मुजरा भी। जो आया, खाकर गया, जो बैठा, पीकर ही उठा और देखनेवालोंके तो ठट्ट लग गये। अब गौन साहबकी चर्चा गली-गलीसे घर-घर पहुँच गयी !

दो साल यही हाल रहा कि होली आयी, तो गौन साहबकी और

दीवाली आयी तो गौन साहबकी। शहरके सब चमकते सितारे फीके पड़ गये, कुछ ऐसे चमके गौन साहब !!

बिना कमाये, तो कारूँका खजाना भी ख़ाली हो जाता है। गौन साहबकी तिजोरी भी अब आज्ञा-पालनमे हिचर-मिचर करने लगी, पर गौन साहबके तो हाथ और दिमाग़ दोनों ही खुले हुए थे। रुपयेकी कमी आयी, तो धीरे-धीरे जमीन साफ हुई, बाग गया और हवेली भी गिरवी होकर, अन्तमें कुटुम्बियोंके हाथ बिक गयी। इन्हीं आँखों, उन्हे तीसरे वर्ष मैंने फटे हालो भटकते देखा और तब उनका कोई दोस्त न था !!!

इस सबका सार संक्षेपमें यही तो है कि गौन साहब जल्दी-जल्दी जिये !

ध्यान भी कहाँसे कहाँ चला जाता है। कहाँ गौन साहब और कहाँ उस तीर्थके भिखारी ! उस दिन वर्षगाँठ थी मेरी। पत्नीने कुछ परांवठे बना दिये कि मै भूखोंको खिला आऊँ। छोटी-सी छबियामे लेकर गया, तो वहाँ उस समय तीन-चार भिखारी थे। उन्हें मैने कई-कई परांवठे दिये कि इतनेमे पाँच-सात भिखारी और आ गये। हाथ सकोड़ा और उन्हे एक-एक परांवठा दिया, पर तबतक और आठ-दस आ गये। उन्हे आधा-आधा दिया कि परांवठे समाप्त, पर कई भिखारी अब भी मेरे सामने, जो भूखी आँतों और प्यासी आँखो मुझे देख रहे थे !

बातका रूप कुछ हो, पर है वही बात कि अंजलि बड़ी थी। जो शक्ति थी, जो जीवन था, वह जल्दी समाप्त हो गया और जिन्हें मै कुछ-न-कुछ दे सकता था, जो सुख भोग सकता था, उन्हे न दे पाया, वह सुख न भोग सका !

महात्मा तॉल्स्तॉयकी एक कहानी है कि राजाको कहीसे एक अनाजका दाना मिला। यह होगा कोई पाव-भरका, पर आकृति और बनावट उसकी गेहूँ-जैसी ! आख़िर यह क्या है ?

राजाने आदेश दिया कि राज्यमें जो सबसे बूढ़ा हो उसे बुलाया जाये, वह शायद इस बारेमे कुछ बता सकेगा कि यह क्या है ? राजाके प्यादे चारों

और दौड़ गये और एक दिन वे एक आदमीको लिये आये। आँखें उसकी लगभग ज्योतिहीन और पैरोंमे खड़े रहनेकी शक्ति नहीं, इसलिए राजाके प्यादे उसे कन्धोंपर उठाये हुए।

अनाजके दानेको देखकर बूढ़ेने कहा : "यह गेहूँ है, पर इसके बारेमे मै अधिक नहीं जानता। हाँ, मेरे पिता इस बारेमें आपको बता सकते है, वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये, उसकी आँखोंमे रोशनी थी, पैरोंमे ताक़त; प्यादे सिर्फ़ उसे सहारा दिये, लिये आ रहे थे !

अनाजके उस दानेको देखकर तुरन्त बूढ़ेने कहा : "हाँ, हाँ, यह गेहूँ है। अपने बचपनमें हमने इसे खूब खाया है, पर मैं इस बारेमें और कुछ नहीं जानता। हाँ, मेरे पिता बहुत कुछ बता सकते है। सौभाग्यसे वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये, उसकी आँखोंमें रोशनी थी, कन्धोंमें उभार था। पैरोंमें ठुकाव था और वह बिना किसीका सहारा लिये धीरे-धीरे चला आ रहा था।

उसने राजासे कहा : "हाँ, जी, यह तो गेहूँ है, हमने बोया है, काटा है, गाहा है, खाया है।"

राजाने पूछा : "तब यह क्या भाव बिकता था महाशय ?"

हँसकर बूढ़ेने कहा : "बिकना-बिकाना हम नहीं जानते, पर जितना चाहे, मिल जाता था। जिसके पास गेहूँ होता, वह दे देता और मिठाई या कपास, जो उसके पास न होती, ले लेता !"

कहानी तो समाप्त हो गयी और कहानी तो फिर कहानी ही है, पर मै अब भी उसी दरबारमे बैठा उन तीनों बूढ़ोंको देख रहा हूँ – बेटेसे बाप और बापसे बाबा अधिक स्वस्थ है, यानी बेटेके पास पचहत्तर वर्षकी आयुमे जितना जीवन-धन शेष है, बापके पास सौ वर्षकी आयुमें उससे अधिक और बाबाके पास एक सौ पचीस वर्षकी आयुमें उससे भी अधिक शेष है।

क्या अर्थ हुआ इसका ? अर्थ क्या और फलितार्थ क्या; वही एक बात देखभाल कर ख़र्च करनेकी, अंजलि छोटी रखनेकी और धीरे-धीरे जीनेकी बात ।

काग़ज़ दियासलाईके छूते ही जल उठता है और भभककर बुझ जाता है, पर कोयला धीरे-धीरे आग पकड़ता है और धीरे-धीरे ही जलता है । जलना ही उसका जीवन है ।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं और अनुभव उसका समर्थन करता है कि किसी बालकका अपनी छोटी आयुमें अधिक बुद्धिमान् होना भयावह है । ऐसे बालक आगे चलकर डल हो जाते है या पागल । इसके विपरीत संसारके अनेक महापुरुष अपने बालकपनमें बहुत ही धीमे थे ।

अपनी स्मृतियोंके मण्डपमें आ विराजे अपने पिताजीके मैं दर्शन कर रहा हूँ इस समय । वे सत्तर वर्षकी आयुमें भी पूर्ण स्वस्थ थे । उनमें इतना जीवन था कि देखकर ही जीवन मिलता था ।

पिताजी, आप बुढ़ापेमें भी इतने स्वस्थ हैं, इसका रहस्य क्या है ? एक दिन यह मैंने उनसे पूछा, तो बोले : तीन मुख्य कारण है इसके :

१. मैं सदा ब्रह्मवेलामें नियमित रूपसे जागता हूँ और स्नान, भोजन, विश्राम और भ्रमण आदिमें नियमित रहता हूँ ।

२. मैं सदा आदमी रहता हूँ, भगवान् कभी नहीं बनता । तुम्हें सौ रुपये मिल गये, तो खुश और खो गये तो गुम ! मैं मानता हूँ सब काम ठाकुरजीकी इच्छासे हो रहा है । आया भी उनका, गया भी उनका, सुख भी उनका, दुःख भी उनका ।

३. मैं हमेशा बच्चोंमें खेलता हूँ । ये मुझे नया जीवन और फुरती देते हैं । हँसकर बोले : मेरे बालमित्रोंमें और बुढ़ापेमें युद्ध हो रहा है । वह मुझे जितना थकाता है, ये मुझे उतनी ही शक्ति दे देते है । किसी दिन तो बुढ़ापा जीतेगा ही, पर खैर अभी तो बेचारा पिट रहा है !

लोटे और गिलासके ऊहापोहमें पड़ा, आज मैं सोच रहा हूँ कि मेरे

पिताजीने उस दिन धीरे-धीरे जीनेका व्याकरण ही तो मुझे पढ़ाया था।

मेरा जीवन ही उनका जीवन है – यानी व्यक्तिका जीवन ही राष्ट्रके जीवनका आधार है। यों व्यक्तिकी तरह राष्ट्र भी धीरे-धीरे ही जिये, तो श्रेयस्कर है, पर सभ्यता और विज्ञान दोनों ही उसे आज तेज़ी दे रहे हैं, जो सुविधा हमें भले ही दें, सुख कहाँ दे पाते हैं !

भारतीय जीवन धीरे-धीरे जीनेका ही जीवन है। उसमें उद्वेग और आवेग नहीं है, सन्तोष और शान्ति ही उसके मूल आधार हैं।

सन्तोष और निराशा एक नहीं है। जो हमें मिला है, धैर्यके साथ हम उसका उपभोग करें और जो हमें मिलना है उसके लिए धैर्यके साथ उद्योग भी, पर इस उपभोग और उद्योगमें हाय-हाय न हो, अशान्ति न हो, क्योंकि 'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' जो हमारा है, हमें मिलना है, वह किसी औरका नहीं हो सकता !

क्या हमें मिलना है और क्या पानेका हम उद्योग करें, इसकी भी एक मर्यादा है। यह मर्यादा ही भारतीय जीवन-दर्शन है। गान्धीजीने इस जीवन-दर्शनको पूरी तरह समझा था और उनका चरखा उनकी दृष्टिमें इसके पुनरुज्जीवनका ही प्रतीक था !

संक्षेपमें जीवनका आदर्श साँचेमें ढला पुरज़ा नहीं, वृक्षपर खिला पुष्प है। वह बटन दबाते ही खिंच जानेवाला फ़ोटो नहीं, ब्रश और उँगलियोंकी कारीगरीसे धीरे-धीरे बननेवाला चित्र है।

हम जीवनमें दौड़ने लगते हैं। दौड़ना बुरा नहीं है। दौड़नेकी शक्ति हममें हो, समयपर हम दौड़ सकें, यह आवश्यक है, पर दौड़ना जीवनका कोई साधारण नियम नहीं है – शयनकक्षसे दौड़कर रसोईघरमें घुसना तो एक पागलपन ही है !

धीरे-धीरे जीनेका अर्थ रुकना नहीं है। रुकना मृत्यु है। यह जीवनमें पाप है; क्योंकि यह जीवन नहीं, जड़ता है। 'धीरे-धीरे जियो' का अर्थ इतना ही तो है कि जीवनकी शक्तिको सँभालकर खर्च करो।

जीवनके इस सत्यको एक बार पहले भी मैंने अनुभव किया था। उस दिन मै शौचालयमे गया, तो विचारोंमे डूबा हुआ था। जब तामलोटके बहुत-से पानीका उपयोग कर चुका, तो मुझे अनुभव हुआ कि अभी मैं पूरी तरह नहीं निपट पाया। अब मेरे सामने प्रश्न था कि यह पानी तो कम है, क्या करूँ? सोचकर मैंने निश्चय किया कि जितना पानी शेष है, उसे ही हाथ थामकर बरतूंगा।

अन्तमें मैने यही किया और मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस स्वच्छताके लिए पूरा बरतन-भरा पानी अभीष्ट था, वह थोड़े पानीमे भी हो गयी। तभी मैंने सोचा था : जीवनका भी बहुत अंश योंही फल-फल बह जाता है। हम उसके बहुत थोड़े अंशका ही उपयोग कर पाते हैं, पर मानते रहते है कि इतने कामके लिए इतनी शक्ति, इतने साधन चाहिए, जब कि सत्य होता है यह कि हम उससे बहुत कम शक्ति और साधनोंसे ही वह काम कर सकते है।

मरना : एक कला; एक चान्स !

हरेक मित्र अपने मित्रोंसे बहुत-से प्रश्न पूछता है, जिनसे उनके जीवन-का सम्बन्ध होता है। प्रश्न पूछनेका अर्थ है : जीवनकी समस्याओंमें साझीदार होना ! मैं भी आपका मित्र हूँ और इसीलिए आपसे एक प्रश्न पूछ रहा हूँ ।

प्रश्न बिना किसी भूमिकाके यह है : आप अपने लिए कैसी मृत्यु चाहते हैं ?

अरे; आप प्रश्न सुनकर चौंक रहे हैं ! क्यों ? इसलिए कि यह अशुभ बात, बेतुकी बात आपसे पूछकर मैं अशिष्टता कर रहा हूँ ?

आश्चर्य है कि आप इस आवश्यक, शुभ और महत्त्वपूर्ण प्रश्नको अशुभ और बेतुका बता रहे हैं। बात यह है कि जीवनकी व्यस्ततामें आपने इस प्रश्नपर कभी विचार ही नहीं किया।

आपने सोचा है : आपका पुत्र जो अभी पाँचवीं क्लासमें पढ़ता है, एम० ए० पास करके कलक्टर हो जायेगा !

आपने सोचा है : अभी आप जो मरियल-सी दूकान कर रहे हैं, बीस वर्ष बाद वह एक बड़ी फ़र्मके रूपमें बदल जायेगी।

आपने सोचा है : अगले चुनावमें तो शायद, पर हाँ, उससे अगले चुनावमें आप अवश्य प्रान्तकी विधान सभाके सदस्य चुन लिये जायेंगे।

आपने सोचा है : यह, वह, वोह, पर जो कुछ आपने सोचा है, वह सब तो जीवनमें क़तई अनिश्चित है। जीवनमें निश्चित है मृत्यु और उसीके बारेमें आपने कुछ सोचा नहीं ! इसपर आश्चर्य यह कि आप अनिश्चित बातोंपर निरन्तर विचारको अपनी बुद्धिमत्ता और निश्चित बातके सम्बन्धमें विचार करनेके मेरे निमन्त्रणको बेतुका बता रहे है !!!

कृपा कर अपनी भूलको समझिए और तुरन्त सोचिए कि आप अपने लिए कैसी मृत्यु पसन्द करते हैं ?

मनचाही मृत्युका मिलना निश्चित नहीं; ठीक है, फिर भी उसके सम्बन्धमें सोचना आवश्यक और उचित है। क्या आप नहीं मानते कि आसमानके तारे तोड़नेका प्रोग्राम बनानेवालेकी अपेक्षा, वह आदमी अधिक बुद्धिमान् है, जो पेड़से आम तोडनेका प्रोग्राम बनाये ?

फिर विश्वके अनुभवकी साक्षी है कि मृत्यु मनुष्यकी एक विवशता ही नहीं, एक कला और एक चान्स भी है !

दारा एक सुकुमार साहित्यिक और औरंगजेब एक क्रूर शासक। दोनों सगे भाई, पर दारा जेलमें बन्दी और औरंगजेब दिल्लीके तख़्तपर। फिर भी दारा एक ख़तरा, एक काँटा और औरंगज़ेब काँटोंको कुचल डालनेका आदी–एक दिन दाराका वध करने कुछ जल्लाद दाराकी कोठरीमें पहुँचे।

एक महान् पुरुषके सामने कुत्तेकी मौत और उससे बचनेका कोई चारा नहीं। कहाँ दारा और कहाँ एक मामूली बकरे-सी यह मौत !

उसने हरबे-हथियारोंसे लैस क्रूर जल्लादोंकी जलती आँखोंमें झाँका और फिर अपनी तरफ़। उसके हाथोंमें एक मामूली चाक़ू था, जिससे वह इस समय सेब छीलकर खा रहा था।

दारा कूदकर खड़ा हो गया। उसने ललकारा : "कम्बख़्तो, तैमूरका वंशज दारा कुत्तेकी तरह घुटकर नहीं, एक बहादुरकी तरह लड़ते-लड़ते मरेगा !" और उसने उछलकर अपना चाक़ू अपने हत्यारोंपर चलाया।

क्रूर हत्यारोंके तेज़ हथियार चले और पलक मारते दाराकी लाश ज़मीनपर आ गिरी, पर तभी स्वर्गके शहीदोंने पुकारा : "दारा, तू आज हमारा अतिथि होगा !"

एक चाक़ूके वारने वधको बलिदानमें बदल दिया और दाराको मृत्यु इतिहासकी शानदार शहादतोंमे शुमार हो गयी !

और मौतने ही महान् राष्ट्र-निर्माता स्वामी श्रद्धानन्दको जनताके स्मृति-संस्कारोंमें एक साम्प्रदायिक नेता-सा बना दिया !

स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने उस अँधेरे निशीथमे शिक्षाके राष्ट्रीयकरणका स्वप्न देखा और अपने हाथों गुरुकुलके रूपमें उसे साकार किया !

वे स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने हिन्दुओंमे एक-मात्र यह सौभाग्य प्राप्त किया कि वे दिल्लीकी जुमा मसजिदमे हजरत इमामकी जगह खड़े होकर प्रवचन दे !

और स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जिन्होंने मार्शल्लाके दिनोंमें अपनी खुली छाती अँगरेज़ी संगीनके सामने अड़ा दी !

पर हाय, स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जो एक साम्प्रदायिक दीवानेके हाथों गोली खा, मर गये। मौत जीवनसे ताक़तवर निकली। मनुष्य मनुष्यकी तरह जीता है अपने पुरुषार्थसे, अपनी प्रतिभासे, पर मनुष्यकी तरह ही उसे मौत भी मिले, यह उसके भाग्यके अधीन है या उसकी कलाके इसे मै नहीं जानता – शायद यह दोनोंके ही अधीन है !

स्वामी श्रद्धानन्दके विरुद्ध मौलाना मुहम्मद अलीका जीवन है। वे जीवन-भर ख़ादिम-ए-काबा रहे, कभी ख़ादिम-ए-वतन न हुए; निश्चय ही अँगरेज़के कभी दोस्त नहीं ! मुल्कके मैदानमें उतरे भी, तो ख़िलाफ़तकी डोर पकड़े और जिये भी, तो तबलीग़के तबेलेमें साँस लेकर। हद हो गयी उस दिन, जब वे कांग्रेसके प्रेज़ीडेण्ट चुने गये और उन्होंने अपने ख़ुतबए

सदारत – सभापति-अभिभाषणमें अछूतोंको आधा-आधा बाँटकर हिन्दू-मुसलिम एकता स्थापित करनेकी बात कही !

इसके बाद तो वे बेनाम हो गये और एक दिन अचानक उनका नाम देशके पत्रोंपर तब छा गया, जब गोलमेज़ कान्फ्रेन्समें भाषण देते हुए उनकी भावुकता एक वाक्यमें बोल उठी : "मैं भाषणके लच्छे उड़ाने इंग्लैण्ड नहीं आया। मैं अपने देशके लिए स्वतन्त्रता लेने आया हूँ। आपको मुझे वह स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी या फिर मेरी क़ब्रके लिए जगह !" और सचमुच दूसरे दिन उनका हार्टफेल हो गया !

एक; और बस एक वाक्यने मृत्युकी मनहूसियतपर उमंगोंकी रंगीनियाँ छिड़क दीं और मुहम्मद अलीका भूला नाम लोगोंके दिलोंमें ताजा कर दिया ! लोगोंने सोचा और कहा : "भटक गया तो क्या, आखिर ख़ानदानी देशभक्त था !"

मृत्युकी मसखरियाँ अजीब हैं। किसीको वह अपनी गोदमें सुलाकर महत्ता देती है, तो किसीको अपने आँचलकी छायासे दूर रखकर !

महात्मा सुकरातके विचारोंकी आग उस युगके पोपले धर्म-नेता न सह सके, तो उन्होंने राज-सत्ताका सहारा ले, एक मुक़दमेका स्वाँग रचा और उनके लिए मृत्यु-दण्डकी घोषणा की।

मृत्यु-दण्डसे पहली रातमें सुकरातके भक्तोंने तिकड़म लड़ा, यह प्रबन्ध कर लिया कि वे सुकरातको जेलसे ले उड़ें, पर जब वे रातमें अपना प्रस्ताव लिये सुकरातके पास आये, तो उत्तर मिला : "क्या तुम चाहते हो कि जिन सिद्धान्तोंका प्रचार मैंने जीवन-भर किया, उन्हें मृत्युसे डरकर मैं स्वयं ही झूठा सिद्ध कर दूँ ? जाओ, मैं यहीं मरूँगा ओर भागूँगा नहीं।"

और यों मृत्युकी गोदमें सो, सुकरात एक साधारण प्रचारकसे बहुत-बहुत ऊपर, एक अमर विचारक हो गये।

नेपोलियन महान् था, अपने जीवनसे, अपने कर्मसे, अपनी विजयोंसे। युरॅपको उसने कई बार अपने पैरों रौंदा और जिधर बढा, बढ़ता ही चला गया, पर उसकी महत्ताके महलका कलश क्या यह बढ़ना है ?

ना; एक बार नहीं और सौ बार नहीं ! उसकी अमरताका रहस्य उन विजयोंमे नहीं, उस पराजयमें है, जिसने उसे सम्राट्से एक बन्दी बना दिया। नेपोलियनने पराजित हो, हिटलरकी तरह आत्म-हत्या नहीं की – वह पन्द्रह साल एक कैदीकी सूरतमे जिया; और यहीं – एक क़ैदी बनकर ही, वह महान् है !

मनुष्य अपनी कला और अपने भाग्यसे ही अच्छी मृत्यु नहीं पाता; कभी-कभी मनुष्यके शत्रु ही उसकी मृत्युको सौन्दर्य देनेका काम किया करते है।

१९२४मे लाला लाजपतरायने काँग्रेससे क्या बगावत की, अपने भाग्य-से ही बगावत की। वे पंजाब-केशरी होकर जिये थे और इस तरह कि जिधर वे जायें, वातावरणमें एक गरमी बरस पड़े, पर जी अब इस तरह रहे थे कि जीवनके चारों ओर उदासीका घना कोहरा था !

और यों १९२९का साल, साइमन कमीशनके बायकाटकी गरमी लिये देशमे आया। साइमन कमीशन लाहौरमे और लालाजी बायकाटके नेता। एक दिन उन्होंने भीम-गर्जना की : 'साइमन, गो बैक !' तो पुलिस प्रबन्धक सौण्डर्सके कानोंपर उनकी ललकार हथौड़े-सी पड़ी। उसका दिल-दिमाग़ ही नहीं, हाथ भी बेक़ाबू हो गये और उसके डण्डेकी लालाजीपर वह मार पड़ी कि उन्हे मारकर ही रही !

सौण्डर्सने उन्हें चुटीला कर मरनेको मजबूर कर दिया, पर मरकर ही तो वे जीवनके चारों ओर छाये हुए, उस कोहरेको भेद सके ! उनकी अरथीके साथ सारा लाहौर था और आज भी उनकी याद आती है, तो

अरथीके उस जलूसकी गौरव-गर्वित गरमी लिये आती है, १९२४ से १९२८ तक उनके जीवनपर छायी उदासी लिये नहीं !

ये हुई नेताओंकी कथाएँ, बड़े आदमियोकी कहानियाँ, पर मृत्युका चमत्कार बड़े और छोटेको नहीं देखता । १९५१ मे जरा-सी बातने आसाम-के एक डाकियेकी दयनीय मृत्युको एक महान् मृत्युका रूप दे दिया ।

दो डाकिये, जिनमे अपना आवश्यक कार्य लेनेमे उदार होकर भी समाज जिन्हें मान देनेमे कृपण रहा है, देहाती डाकके थैले लिये एक जंगलसे गुजर रहे थे । अचानक कहींसे शेर आ कूदा और उनमे-से एकको थाम ले चला । मौतके भयंकर जबड़ेमें फँसे उस डाकियेने अपना थैला दूसरे डाकिये-की तरफ़ ज़ोरसे फेंककर कहा : "ले, यह थैला अच्छी तरह डाकघर पहुँचा देना, भूलना मत । नही तो मेरी आत्मा वहाँ तड़पेगी !"

कर्तव्यकी यह निष्ठा उसके सारे विभागमे प्रशंसित हो, सदा-सदैवको प्रेरणाका एक स्रोत बन गयी !

मृत्युसे मोरचा लेना तो बड़ी बात है ही, कभी-कभी मृत्युको एक मीठा निमन्त्रण दे देना ही जीवनको एक नयी रौनक़ दे देता है ।

'हरिजन-सेवक' मे प्रकाशित यह घटना कितनी मर्मस्पर्शी है । एक शिकारी किसी गाँवमें गया और एक मोरपर निशाना साधने लगा । एक देहातीने उसे मना किया, पर वह न माना, तो देहाती मोर और शिकारीके बीच आकर खड़ा हो गया । शिकारी जोशमें था, उसने गोली दाग दी । देहाती घायल हो, गिर पड़ा । अब नज़दीक था कि देहातके लोग शिकारीका कचूमर निकाल दें, पर वह देहाती, तेज़ीसे सरककर भीड़ और शिकारीके बीच आ गया । उसने जो कुछ कहा – उसकी सरल अभिव्यक्ति यह है : "मैंने जब मोरको ही नहीं मारने दिया, तो इसे क्यों मारने दूँगा !"

और बस अपने इस उदाहरणसे वह सामान्य देहाती, भारतीय जीवनमे

रमें दया-करुणा और अहिंसाके शाश्वत संस्कारोंका सजीव प्रतिनिधि हो गया !

मृत्यु इस जीवनका अन्त है ।
मृत्यु दूसरे नये जीवनका आरम्भ है ।
मृत्युसे जबतक बन सके, बचे रहना ही जीवनका पुरुषार्थ है ।
मृत्युका यथार्थ वरण ही जीवनका चरम विकास है ।

मृत्युके सम्बन्धमें ये भिन्न-भिन्न मत हुए, पर मृत्युके सम्बन्धमें हमारे ज्ञानकोषका सर्वोत्तम रत्न क्या है ?

हमारे राष्ट्रीय इतिहासका सबसे सनसनीख़ेज़ मुक़दमा भगतसिंह-बम-केसके नामसे अँगरेज़ी अदालतके सामने आया, तो राष्ट्रके सोये-से वातावरण-में एक बिजली-सी कौंद गयी ।

मुक़दमा उभरा ही था कि क्रान्तिकारी पार्टीका एक सदस्य फणीन्द्र मुकर्जी पुलिसका भेदिया बन बैठा। पार्टीके रहस्य अब ख़तरेमें थे। निश्चय हुआ कि उसे गोली मार दी जाये, पर गोली कौन मारे ? बिहारमें कहीं पार्टीकी मीटिंग हुई । मीटिंगमें पार्टीके नेता श्री किशोरीप्रसन्न सिंह भी थे और उनकी पत्नी सुनीति देवी भी !

सुनीति देवीने प्रार्थना की : यह काम मुझे सौंपा जाये, पर किशोरी बाबूने आदेशके इशारेसे उन्हें बैठा दिया । सलाह-मशवरेके बाद यह काम एक-दूसरे सदस्यको सौंप दिया गया, जिन्होंने उसे पूरी सफलताके साथ किया भी ।

इस घटनाके कुछ वर्ष बाद सुनीति देवीको तपेदिक़ हो गया । लाख प्रयत्न हुए, पर मृत्युका पंजा ढीला न पड़ा । मृत्युसे कुछ घड़ियाँ पहले सुनीति देवीने अपने पति श्री किशोरी बाबूसे कहा : "मेरी बिदाईका समय अब दूर नहीं, इसलिए मुझे आपसे एक बात कहनी है ।"

"हाँ, हाँ, कहो भी !" फूल और फ़ौलादसे निर्मित किशोरी बाबूने कहा ।

"जब किसी आदमीको आदमीकी तरह मरनेका मौक़ा मिल रहा हो, तो उसे कभी रोकना मत !" सुनीति देवीने कहा ।

यह संस्मरण उस बार मसूरीमे गद्गद कण्ठ किशोरी बाबूसे सुना, तो सोचा : मृत्युके सम्बन्धमें मनुष्यके ज्ञान-कोषका सर्वोत्तम रत्न यही है कि मनुष्य अधिकसे अधिक जीनेका पुरुषार्थ करे, पर उसे मनुष्यकी तरह मरने-का जब भी अवसर मिले, तो वह चूके नहीं ।

शुभकामना; एक जीवन-तत्त्व !

दीपमालिकाके उपलक्ष्यमें मित्रकी शुभकामनाका पत्र मिला – मित्रके स्वभावका ही प्रतीक-सा निर्मल और सरल, पर यह है क्या ? एक छपा हुआ पत्र, सुन्दर कवर और एक शिष्टाचार ! बस इतना ही; तो यह सब कुछ नहीं । मित्रने व्यर्थ ही मेरे मूक प्राणोंमें यह खलबली उठायी और अपने श्रमकी कमाईके कई पैसे डुबाये ।

"यह शुभकामना है जी !" तब यह ठीक है और इसके लिए जरूरी हो तो धन्यवाद, पर यह धन्यवाद जरूरी है नहीं; अरे व्यर्थ है बाबू, और नाराज न हों तो मुझे कहना है कि बेहूदा है । यह पश्चिमकी गंगामें बहकर आया हुआ कूडा-कचरा है ! थैंक्स और धन्यवादका भी जीवनमें स्थान है, यह माने लेता हूँ, पर कहाँ और कितना, यह तो विचारणीय हुआ ही !

हाँ, तो यह शुभकामना है । अँगरेज़ीमें एक चीज़ है 'गुडविश'; यह इसीका अनुवाद है शुभकामना । वहाँ थैंक्सकी तरह यह भी एक शिष्टाचार है, पर हमारे भारतीय जीवनके अन्तस्तलमें जो सुदृढ़ स्तम्भ हमारी संस्कृति-को थामे हुए हैं : उसे प्रलयंकारी तूफ़ानों, दिगन्तव्यापी बवण्डरों और शैतानियतके मनोरम, पर सर्वनाशकारी प्रवाहोंसे बचाये रहे हैं, उनमें ही एक है : शुभकामना । यह हमारे ऋषियोंकी स्वयं-उपार्जित सम्पदा है और हमारे राष्ट्रकी मौलिक विभूति, जो शायद दुनियामें और कहीं प्राप्य नहीं ।

इतनी बड़ी बात है यह हमारी शुभकामना ! और जानते हैं इस शुभकामनाका आधार है सन्तोष – अपने प्रति हाय मैं, हाय मेरी प्यासको जीतकर सारे जगत्के साथ 'विराग' की भावनाका उद्रेक करनेवाला अमृत, सन्तोष ।

यह शुभकामना क्या है ? सारे जगसे पृथक्, पर सारे जगके विपुल प्राणोंमे प्राण डाले, कही सुदूर वनमें, पर्वतकी कन्दरामे, हिमालयके बर्फ़ीले शिखरपर बैठा योगी भगवान्से माँग रहा है। क्या माँग रहा है; यह तो जानना ही है, पर प्रश्न तो यह उठ खड़ा हुआ कि यह कम्बख्त अपनी सम्पदा, नारी, शिशु और मान सब कुछ छोड़कर तो यहाँ आया था, पर यहां भी इसमे इच्छाएँ शेष हैं, यहाँ बैठा भी यह कुछ चाहता है ? हाय री चाह ! कहाँतक तू इसे लिपटी रही ? यहाँ भी यह कुछ माँग ही रहा है !

पर यह जाननेमे ही कि वह क्या माँग रहा है, इस प्रश्नकी समाधि होगी। वह माँग रहा है – 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु !' मेरा मन शिव-संकल्पसे भर उठे – इसमे शुभकामनाका आलोक प्रदीप्त हो उठे मेरे प्रभु !

फिर प्रश्न उमड़ा। योजनाकी शक्ति है उसके पीछे कार्य करनेवाला व्यवहार; कर्म न हो तो योजना क्या करे ? पर यह योगी, कर्मका संन्यास लेकर तो यहाँ आ बैठा, लगोटी तक तो इसके पास नहीं, फिर इसके शिव-संकल्प क्या करेंगे ? है न प्रश्न गहरा और भेदभरा ? पर इस संसारमे योगीकी यही तो क़ीमत है कि वह संसारके लिए, हमारी जीवन-लताके लिए, शिवसंकल्प करता है। यही उसकी सेवा है, यही उसकी देन है, और यहीं तो वह दूर बैठकर भी हमारे जीवनका पूर्णतया भागीदार है। तभी तो वह हमारा है, हम उसपर गर्व करते हैं, उसे पूजते हैं। यदि वह एकान्तमें बैठा अपने निर्वाणके लिए तप कर रहा है, तो हमसे उसे मतलब, उससे हमे काम ! वह करे तप, मरे-जिये, मुक्त हो या योगभ्रष्ट होकर योनियोंके मायाजालमें भ्रमता फिरे या स्वर्गकी अप्सराओंके इन्द्रजालमे पड़कर भ्रष्ट हो, नष्ट बने; हम उसमे दिलचस्पी क्यों लें ?

पर ऐसा तो नहीं है न। वह हमारा है, हमारा अपना है, हमारे जीवनमें उसका स्थान है, जैसे घड़ीमे फनर ! हमारे लिए वह काम करता है,

हम अपने लिए दिनके प्रकाशमें काम करते हैं, वह रातकी अँधेरी और उजारी घड़ियोंमें भी हमारे लिए काम करता है। हम काम भी करते हैं, आनन्द भी लूटते हैं, विश्राम भी लेते हैं, पर उसका काम, आनन्द और विश्राम यही है कि वह हमारे लिए शुभकामना करे – अपना मन सदा शिवसंकल्पसे भरा रखे।

बस यहीं एक प्रश्न और; और बहुत ज़रूरी प्रश्न, जो इस समस्याको भीतर तक उधेड़कर रख दे। योगी बड़ा अच्छा है, हमारे लिए रात-दिन शुभकामना करता है, हम उसके कृतज्ञ, पर जीवनमें सबसे बड़ा प्रश्न तो उपयोगिताका है। हमारे लिए वह शुभकामना करता है ठीक, पर हमें इन शुभकामनाओंसे मतलब? हमारा उनसे लाभ? पागलके प्रलाप-सी खूब है ये शुभकामनाएँ। अरे भाई, उन योगीजीका भी अजीब दिमाग़ है कि हमें छोड़कर वहाँ जंगलमें जा बैठे और अब हमारे लिए शुभकामना कर रहे हैं! क्या खूब? यह अद्‌भुत इश्क़ है! तिलस्मी मुहब्बत है! इन शुभकामनाओंकी हमारे लिए उपयोगिता क्या है?

उपयोगिताका प्रश्न व्यावहारिक है, इसका समाधान भी भावुकताके रूपमें न हो, यह ठीक होगा।

अच्छा, यह जो अन्तरिक्ष है विराट्, व्यापक, जाने कहाँ-कहाँतक फैला, यही विचारोंका केन्द्र है, इसमें अनन्त विचार भरे हैं। कवि अपने शान्त, एकान्तमें बैठा कविता लिख रहा है और चोर अपने शान्त एकान्तमें स्थिर, राजाके महलमें पाड़ लगानेकी विधि सोच रहा है। कविको भाव मिले, चोरको विधि, तो क्या यह भाव और विधि, कवि और चोरकी सृष्टि हैं? ऊपरसे देखकर हम कहते है हाँ-हाँ, पर सत्य अभी और नीचे हैं।

भाव और विधि चिरसे अन्तरिक्षमे थे, चोर और कविने उन्हें पकड़ लिया। रेडियोका यन्त्र हमारे घरमें लगा है, गाने गाता है, भाषण देता है, नाटक करता है, पर यह सब उसकी सृष्टि तो नहीं, वह अन्तरिक्षमें-से इन्हें पकड़ता है, यही उसकी चरितार्थता है। तभी तो चोरको चोरीकी विधि

मिली और कवि पा गया कोमल भाव। वहाँ सब कुछ है, जैसा जिसका यन्त्र है, वह वैसा ही ग्रहण करेगा।

हाँ, वाल्मीकि था डाकू–एक सत्सम्पर्क पा, वह साधक हो गया, पर एक पक्षीका वध देखकर बन गया आदि-कवि! अरे, एक पुराने डाकूकी यह क्षमता? यह भाग्य है। अन्तरिक्षमें बहती एक दिव्य भावना उसके मानसयन्त्रमे उतर आयी, पर एक डाकूके मानस-यन्त्रमे ऐसी दिव्य ध्वनि क्यों और कैसे? यह पूछना चाहते है न आप?

जब पक्षी मरा और पक्षिणी विरह-वेदनामें तड़पी, तो एक तरफ़ पक्षी-की प्यास-भरी आँखें, दूसरी ओर पक्षिणीकी प्यार-भरी आँखें, यही था न, चारों ओर पारिवारिक जीवनका कोमल, करुण प्रवाह! इस प्रवाहमे डाकू बह गया और निकला एक भावुक मानव। बस बदल गया रेडियो और जहाँ ध्वनित था वध, लूट, डाका; वहाँ प्रतिध्वनित हुई कविता, आदि-कवि वाल्मीकिकी रसवाणी! ऊपरसे दीखता है कि डाकूको यह कविता मिली, पर डाकूको नही, एक भावुकको ही तो कविता मिली!

अच्छा, हमारे रेडियोमे तो वह बजता है, जो दिल्ली, लन्दन या मास्को बोलते हैं, पर इस मानस-यन्त्रमें अन्तरिक्षसे जो उतरा, वह कहाँसे आया? उस धरातलका 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन' कहाँ है?

बस आ गये तुम सही जगह; वह स्टेशन है योगी, तापस, विचारक और प्रत्येक शुभकामना करनेवाला मानव और आँखों-ही-आँखोंमे शिव संकल्प करनेवाले पशु-पक्षी। इनका क्षेत्र है भावनाओंकी अन्तरिक्षमें सृष्टि और परिष्कार। वायुको विशुद्ध करनेवाली ओषधियोंकी तरह, ये हमारे मौन संरक्षक है और यहीं इनका सम्मान है। प्राचीन समाज-व्यवस्थाका महान् ब्राह्मणत्व यही है और यही है शुभकामना!

राष्ट्रके लिए सिपाही युद्ध करता है, पर कवि? वह केवल कविता लिखता है। और एक बूढ़ा, युद्धसे दूर पड़ा अपाहिज? वह केवल शुभकामना

करता है । राष्ट्रके जीवन-यन्त्रके ये सब पुरजे समान महत्त्वके है । पिछली लड़ाईके दिनों आधे संसारमें जो 'वी' का आन्दोलन चला था, वह क्या है ? कोई अपने कोटपर 'वी' लगाये या 'सतिया', रणभूमिमें लड़ते सिपाहियोंको उससे मतलब ? हाँ, मतलब है और बड़ा भारी मतलब है और इस मतलब-में ही तो छिपा है : शुभकामनाका महत्त्व !

गान्धीजी जब नया आन्दोलन आरम्भ करते, तो धन भी माँगते, जान भी माँगते और शुभकामना भी माँगते थे । जो न खद्दर पहने, जो न जेल जाये, जो न चन्दा दे, उसकी शुभकामनामें आग लगे, यह हमारी भाषा है, पर उस महापुरुषके लिए तो उसका बहुत महत्त्व था । वह जिससे लड़ते, उससे ही लड़ाईके साधनोंपर, रूपपर भी विचार करते । वायसराय उनका शत्रु था या सलाहकार ? केवल एक क्षेत्रमें 'शत्रु' था – इंग्लैण्डके प्रति-निधिके रूपमे, जहाँ वह हमारी ग़ुलामीका बाडीगार्ड था, बस केवल वहीं और बाक़ी जो विशालक्षेत्र पड़ा है, वहाँ वह मित्र ही क्यों न रहे ? जीवन-गृहके एक ही कोनेमें तो युद्ध है । बाक़ी तीनमे शुभकामनाका राज्य क्यों उजड़े ? समझनेकी बात है, पर अमल करनेकी भी तो बात है ? है न !

हमारे देशमे 'दाना दुश्मन' को 'नादान दोस्त' से श्रेष्ठ माना जाता है । दोस्त आख़िर दोस्त है, वह दुश्मनसे भी गया-बीता क्यों ? बड़ा चुभता प्रश्न है । हमारे अपढ़ देहातोंमे ऐसे उदाहरण है सैकड़ों-हज़ारों कि बापूके साथ जन्म-भर दुश्मनी रही, उसे मिटानेका यत्न कभी शिथिल न हुआ, पर वह मरा और आप स्वयं उसके अबोध बच्चोंके संरक्षक हैं । क्यों, उन्हें मिटा क्यों न दिया कि जन्म-भरकी दुश्मनी सफल हो ? "ना, दुश्मन तो मर गया, अब दुश्मनीका क्या मज़ा ? बच्चे ! अरे वे जैसे उसके, वैसे अपने । कोई उन्हें तिरछी आँखसे देखे, तो आँख न निकाल लें । ये यतीम तो नही, वही मर गया, हम तो हैं !" वाह री, शुभकामना ! भारतीय जीवनके रोम-रोममें व्याप्त जीवनका अमरतत्त्व !!

मुसलमान शासककी युवती बेगमें शिवाजीके हाथ लगीं, पर क्या किया

उन्होंने ? उन्हें लूट लिया ? उनके रूप-रसका पान किया ? उन्हें क़त्ल कर दिया ? ना, तो उन्हें दरबारमें नंगी नचा, अपनी दुश्मनीका बदला लिया ? यह भी नहीं ! उन्हे सम्मानके साथ उनके घर भेज दिया। क्यों ? यह शुभकामनाका अस्त्र है।

तो इतनी बड़ी है शुभकामना ! मैं अब और क्या कहूँ कि हममें सच्ची शुभकामना जागे, उसकी शक्ति हम जानें और उसका प्रयोग भी ।

जब कुत्ता भौंक रहा था !

अपने एक मित्रकी बैठकमें बैठा, मैं उनसे बातें कर रहा था। बैठकमें खिड़कियाँ इस तरह कि सड़क दूर तक दिखाई दे। मेरे मित्र मेरे लिए शिकंजवी लेने गये, तो मेरा दिमाग़ ज़रा खाली हुआ और स्वभावके अनुसार उसे सोचनेकी फ़ुरसत मिली, पर वह सोचे क्या ?

भौंः, भौंः ! शब्दने मस्तिष्कको राह दी, देखा – सामने गलीके मोड़पर एक मकानकी दहलीज़में कुत्ता बैठा है और जो सड़कपर आता-जाता है, उसे भौंकता है। भौंकना उसकी आदत है।

अब सोचना कुत्तेसे जा मिला है। यह क्यों भौंकता है ? इसकी यह आदत क्यों है ? आख़िर यह क्या कहता है ? प्रश्न तो बहुत-से हैं, पर उत्तर तो किसीका भी नहीं। कुत्ता मेरी भाषा नहीं जानता कि मुझे बताये और मैं उसकी भाषा नहीं जानता कि उसे समझूँ। दोनों तरफ़की इस नासमझीमे अन्दाजको खुल-खेलनेका अवसर है, पर अन्दाज़ भी कुछ नये सवाल पैदा करके ही रह गया।

क्या यह कुत्ता इसलिए भौंकता है कि वह शान्तिके साथ बैठना चाहता है और लोग इधरसे गुज़रकर उसके अमनमें ख़लल डालते हैं ? या आनेवालोंसे यह ख़तरा खाता है कि उसके मालिकके घरको लूट लेंगे और इसीलिए वह उन्हें भगानेको भौंकता है ? क्या उसकी निगाहमें हर आदमी चोर है ? कुत्ता बराबर भौंके जा रहा है – भौंः, भौंः, भौंः ! और मैं बराबर सोचे जा रहा हूँ क्यों, क्यों, क्यों ?

मित्र शिकंजवी ले आये, तो मैं पीने लगा। वे अपनी कहे जा रहे हैं इसलिए न दिमाग़ ख़ाली है, न मुँह। सोचना बन्द हो गया है, पर आँखें कुत्तेको देखे जा रही हैं। सोचनेकी शक्ति भी उन्हें ही मिल गयी, तो वे और पैनी हो गयी है।

एक आदमी तभी उधरसे आया और कुत्ता भौंका – यों ही हलकी-सी गुर्राहट। आदमी तेज़-तर्रार है। उसने कुत्तेको ज़ोरसे घूरा और कहा भी कुछ। कुत्ता अब तेज हो गया और पूरे जोरसे भौंका। आदमी भी गरमा गया और उसने गालियोंकी एक तकड़ी बौछार फेंकी। कुत्तेकी आवाज अब आसमान तक पहुँच गयी और वह कूदकर दहलीज़से बाहर आ गया। यह आक्रमणकी प्रस्तावना थी।

आदमीने अब पास ही पड़ा, एक बड़ा-सा ढेला हाथमें उठा लिया। यह मोरचेपर जमनेकी स्वीकृति थी। इससे कुत्ता एकदम बौखला गया। अब कुत्तेका रूप देखने लायक़। ढेलेसे बचनेको पटेके दावसे चौकन्ना, पर वार करनेको बराबर तिरछी कन्नी काटे-काटे बढ़ता। गरदन फूली हुई, जीभ दाँतोंके बाहर लपलपाती, भौंकमें पूरी ताक़तका भभकारा, पंजोंसे पृथ्वीको उधेड़ता-सा और दोनों तिरछी आँखोंमें अपने शत्रुका रोम-रोम साधे – यों कि उसका बस चले तो दुश्मनका कलेजा ही उधेड़ दे!

आदमी भी, पर खिलाड़ी है। बराबर अपनी राह बढ़ रहा है और कुत्तेकी ओरसे भी सावधान है, पर जितना वह बढ़ता है, उतना ही कुत्ता आगे आ जाता है। कुत्तेके पैरोंमें उचक मचमचा रही है, पर आदमीके सतर्क हाथका ढेला उसे पनपने नहीं देता। आदमी ज्यों ही गालियोंकी बौछार छोड़ता है, कुत्तेकी भौंकमें भभक आ जाती है और आँखोंमें खून उतर आता है। दूसरी लड़ाईमें गोर्यरिंग, जुकोव, रोमेल और मैकार्थरने भी इतनी तल्लीनतासे अपने किसी शत्रुका पीछा न किया होगा! मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ – यह पालतू और डरपोक कुत्ता अपने घरपर कैसा शेर हुआ जा रहा है?

"मियाँ, अपना रास्ता लो। ख़ामख़ा कुत्तेके मुँह क्यों लगते हो?"

ऊपर छतसे यह किसीने पुकारा। ये महाशय शायद कुत्तापति थे। मोड़ आ गया था और यह मोड़ ही शायद श्वानदेवके साम्राज्यकी सीमा थी, इसलिए एक तकड़ी-सी झोंक देकर वे अपनी दहलीजमें जा विराजे

और आदमी भी ढेला फेंककर अपनी राह लगा, पर मै तो वहीं था ।

मैने अपनेमे ही कहा : क्यों जी, भला खामखा क्यों ? भलामानस कहता है : कुत्तेके खामखा मुँह क्यों लगते हो ? अरे भाई, जब वह बिना कारण भौंकता है, तो राहगीर उसका प्रतिवाद भी न करे ? मालूम होता है यह कुत्ता इन्हें नहीं भौंकता !

अब मै मित्रके साथ बातोंमें उलझ गया, पर भीतर मेरे जो विचार-धारा बहती रही, वह थी उस कुत्तेके ही इर्द-गिर्द । संक्षेपमें शायद उसकी सूरत-मूरत यह थी कि कोई आदमी अपनी राह जाये, तो यह क्यों भौंके ? और क्यों उसे परेशान करे ? और करे ही, तो वह क्या उपाय है कि तुरन्त इसका मुँह बन्द कर दिया जाये ?

कुछ देर बाद उसी राह एक और सज्जन आये । घुटने तो इनके जवानोंसे भी बढ़कर थे, पर ये थे वृद्ध ही ! आहट सुननेमे कुत्ता कभी चूकता नहीं और मालूम होता है थोडी देर पहले लड़ी कुश्तीका जोश भी अभी भूभलमे दबा अंगारा था—वह पूरी तरह ठण्डा न हुआ था, इसलिए इस बार कुत्तेने भीतरसे ही चैलेंज नहीं किया, पहले ही वारमे वह मोरचे-पर आ गया—दहलीजके दरवाज़ेपर; और गुर्राया । ग़ुर्राहट बहुत हलकी, जैसे सिपाहीने तलवारके क़ब्जेकी ओर अभी एक नजर ही डाली हो, मूठपर हाथ न रखा हो !

बूढ़ा क्या बहरा था ? उसने न कुत्तेकी तरफ़ ज़रा झाँका, न ज़बान हिलायी, न चालमे ही उसकी फ़र्क़ पड़ा । वह सीधा अपनी राह चले चला । जैसे कुत्ता उसके लिए है ही नहीं । बूढ़ा उसकी सीधसे निकल चला, तो उसने एक बार हलकी-सी ललकार दी : भौः ! यह भौः इतनी बे-उभार कि जैसे जलसेमें कोई अकेला श्रोता बेमौक़े नारा लगा दे और अपनी बेवक़ूफ़ी-पर खुद ही झेंप जाये ! अब वह खड़ा रहा और बस बूढ़ेको देखता रहा । जब बूढ़ा मोड़पर आ गया, तो कुत्तेने उधर देखा और एक बहुत हलकी भौः-की, गले-ही-गलेमे, ओठ जिसमें न हिलें, बस ज़रा-सी नाक चिकुड़कर

रह जाये । वह चुप हो रहा । मन-ही-मन जैसे कह रहा था : जा भा
बूढ़े, अब तुझे मैं क्या कहूँ और वह अपनी जगह जा बैठा ।

मैंने सोचा : कुत्ता शायद थक गया है, तभी यह बूढ़े मियाँसे नह
उलझा । मेरा प्रश्न अभी जमा भी न था कि दस-बारह सालका एक बालव
उधर आ निकला । कुत्तेने उसे देखा कि ज़ोरसे गुर्राया । वह गुर्राया वि
लड़केने अपनी चाल तेज की । लड़का ज़रा झपटा कि कुत्तेने उसे पूरे ज़ोरसे
एक झोंक दी : भौंः भौंः और कूदकर सड़कपर आ गया । अब लड़केवे
होश गुम ! वह ज़ोरसे चिल्लाया और सिरपर पैर रखकर भागा कि कुत्तेवे
पर लग आये । चार ही कुलाँचमें उसने लड़केकी दायीं पिण्डली जा पकड़ी
लडका गिरा कि उधरसे एक तरुण आ निकला ।

तरुणने पूरे ज़ोरसे अपनी छड़ी कुत्तेकी कमरपर जड़ी । कुत्ता तड़कक
भागा और अपने दरवाज़ेपर जाकर टिका । तरुण लड़केको मोड़ तव
पहुँचाकर लौटा, तो कुत्ता युद्धके लिए तैयार । पूरे ज़ोरकी भौंः भौ
जिसमें क्रोधकी किचकिचाहट और बदलेका खूनी जोश, पर तरुण भं
असावधान नहीं । वह छड़ी उठाये उसके पीछे चला । अब कुत्ता भौंकत
जाता है और लौटता जाता है । वह दहलीज़ तक पहुँच गया, पर तरु
अभी बढ़ा ही आ रहा है । दूरी कम हो रही है, छड़ी ऊपरको उछलतं
है । उसके उठनेका रस कुत्ता चख चुका है, इसलिए वह उछला औ
दहलीज़के भीतर हो रहा ।

अब स्थिति यह कि कुत्ता दहलीज़के भीतरसे भौंक रहा है और तरु
बाहर खड़ा उसे गालियाँ दे रहा है । कुत्ता जब भी दो पैर बढ़ा, बाहरक
भौंकता है, तरुण धरतीपर अपनी छड़ी फटकार देता है । कुत्तेकी हुंकारप
आतंककी बौछार पड़ जाती है और वह भीतर हो जाता है । कई मिनि
युद्धका यही रूप स्थिर रहा कि कुत्तेका भौंकना बन्द नहीं हुआ, पर व
बाहर आकर आक्रमण भी न कर सका । गालियोंकी एक तकड़ी बौछा
फेंक, तरुण चला गया । कुत्ता तब भी भौंकता रहा ।

मै मित्रसे वातें कर घर लौट आया और इस प्रकार यह कुत्ता-नाटक समाप्त हो गया, पर मैं इसके फलितार्थोपर विचार करता रहा । ये फलितार्थ इस प्रकार थे :

१. प्रतिवाद करनेपर कुत्तेका भौंकना उग्र हो जाता है ।

२. उधर ध्यान न देकर, उपेक्षा करनेपर, कुत्तेका प्रतिवाद जन्मसे पूर्व ही निस्तेज हो जाता है ।

३. डरने – घबराकर भागने – पर कुत्ता शेर हो जाता है और उसका प्रतिवाद तो इससे उग्र होता ही है, वह काट भी लेता है ।

४. यदि बलपूर्वक उसका प्रतिवाद किया जाये, तो वह मैदान छोड़कर आड़ ले लेता है, पर अपनी बकवाद जारी रखता है ।

इसमे दो समझदारोंमे मतभेद नहीं हो सकता कि इनमे सर्वश्रेष्ठ मार्ग नम्बर दोका ही है – कुत्तेका प्रतिवाद न करना, उसकी तरफ़ ध्यान न देना, उसकी उपेक्षा करना, उसके सम्पर्कसे दूर रहना ।

और ज्यों ही यह परिणाम मेरे सामने आया, एक वीती घटना मेरी आँखोंमे घूम गयी ।

मैं जब छोटा-सा बालक था, मेरे पिताने एक मकान खरीदा । खरीदा क्या, मकान-मालिकने थोड़े-से रुपये लेकर, उनसे प्रभावित होनेके कारण, वह उन्हे दे दिया । हमारे कुटुम्बके दूसरे धनी सदस्य अधिक रुपये लगाकर भा उसे न ले सके । धनके दर्पने इसमे अपना घोर अपमान समझा और वह फुंकार उठा !

एक दिन प्रातः पिताजी भोजनके आसनपर बैठे ही थे कि अपने पाँच-छह बेटे-पोतोके साथ वे वहाँ आ धमके । लाठियाँ उनके हाथोंमें, क्रोध उनके हृदयोंमें और गालियोंसे भरे मुँह ! आते ही उन्होंने गालियों और धमकियोंका एक दौंगड़ा-सा पिताजीपर बरसा दिया ।

आज भी याद करता हूँ, तो मन शान्तिसे भर जाता है । पिताजीने बड़ी हो ठण्डी आँखोंसे उनकी तरफ़ देखा और सदाकी भाँति उद्वेगहीन

स्वरमें बोले : "आओ भाई, पहले खाना खा लो, फिर मार लेना ।" गरम तवेपर ठण्डे पानीकी ये बूँदें पड़ीं, तो वह छन्ना गया । शेर लोग और भी दहाड़े, तो वे बोले : "तुम बहुत हो, मैं अकेला हूँ । भागा मैं कहीं जा नहीं रहा । आओ पहले खाना खा लें ।"

शेर लोग और भी जोरसे दहाड़े, तो पिताजीने गलेकी माला निकाली और 'नमः शिवाय'का जाप करने लगे । पाँच-सात मिनिटमें वे लोग बक-झक कर चले गये । माँने नाराज़ होकर कुछ कहा, तो बोले : "मैं कुछ बोलता, तो और घण्टा-भर ख़राब करते और खानेका स्वाद मारा जाता । ऐसे लोगोंसे बावली, बात न करना ही कल्याणकारी है ।"

आज सोचता हूँ, पिताजीने कुत्तेकी मनोवृत्तिको कितना स्पष्ट समझ लिया था ! ये लोग जो गरज रहे थे, स्वरूप और भाषामें भले ही इनसान थे, स्वभावमें उस कुत्तेसे कहाँ कम थे ? समाजमें हम क्या ऐसे मनुष्योंको नहीं देखते, जो दोपाये हैं, पर चौपायोंसे कहीं बढ़कर ! उनका सही इलाज है, उनसे दूर रहना ।

साहित्य-गोष्ठियोंके सम्बन्धमें पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी कहा करते हैं कि इनमें समानशील साहित्यिकोंको ही निमन्त्रित किया जाये, अन्यथा विरोध बढ़ता है और काम कुछ नहीं होता । मैंने विविधताके नामपर उनका कई बार विरोध किया था, पर उनकी बातका ठीक-ठीक महत्त्व मैंने आज समझा ।

कुत्तोंकी और मानव-समाजमें विचरते उनके द्विपद प्रतिनिधियोंकी उपेक्षा करो, उनके सम्पर्कसे दूर रहो, जीवनमें शान्त रहनेका यह मन्त्र आज मुझे सिद्ध हो गया ।

भगवान् दत्तात्रेयके एक सौ आठ गुरुओंमें कुत्ता भी था । उससे भगवान्ने सीखा था सन्तोष; जितना मिले उतनेमें ही सन्तुष्ट रहो ।

अपनेसे मैंने पूछा : तो दत्तात्रेयके गुरुसे क्या मैंने इससे भी बड़ी बात आज नहीं सीखी ?

जीवन; एक ताना-बाना

क्यों जी, आपने कभी सोचा है कि आपमें कितनी सहकार-भावना है ?

"जी, हमने यह तो नहीं सोचा कि हममे कितनी सहकार-भावना है, पर यह जरूर सोचा है कि आप क्यों बार-बार हमसे ऐसे फ़ालतू प्रश्न पूछते रहते है !"

तो मेरा यह प्रश्न आपकी रायमें फ़ालतू है ?

"जी, फ़ालतू नहीं तो क्या कामका है ? आज हम यह सोचें कि हममें कितनी सहकार-भावना है, कल यह कि हममे कितनी असहकार-भावना है, परसों यह कि हममें लड़ाईकी कितनी भावना है और परले दिन यह कि हममें लड़ाईसे भागनेकी कितनी भावना है ? बस पण्डितजी, फिर तो हम कर चुके काम; और यह भी ठीक है कि फिर काम करके करेंगे भी क्या ? पाँच-सात सालमें हममे क्या है और क्या नहीं है, यही सोचते-सोचते एक पूरा भावना-कोश तैयार हो जायेगा और बस उसे छपाकर बेच खायेंगे ।"

तो आप मेरे प्रश्नको यों हँसीमें उड़ा रहे हैं, पर यह कोई गैसका गुब्बारा नहीं है कि नन्हेके हाथसे धागा छूटा और वह उड़ गया। खैर, यह गुब्बारा हो या हिमालयका शिखर, यह बात है कि आपने इस प्रश्नपर कभी नहीं सोचा और इसलिए मेरा यह कहना है कि आप बन्दर हैं ।

"बन्दर ! हम बन्दर हैं या कि बन्दरके छोटे भाई ? तो पण्डितजी, अब हमें आप हमारे मुँहपर ही गालियाँ देने लगे । सच बताइए, आपका आज इरादा क्या है ?"

अरे भाई, आप तो एकदमसे भड़क गये, जैसे आतिशबाजीका अनार हो । गाली मैं तुम्हे क्यों देता भला, यह तो एक सत्य है, पर भाई, सत्य यह है कि कोरा सत्य कभी-कभी गालीसे भी पैना होता है ।

"तो यह एक सत्य है कि हम बन्दर है? सचमुच आज तो आप लड़ने-के लिए ही आये दीखते हैं।"

ओह, किस क़दर जल्दबाज़ हैं आप कि पूरी तरह बात नहीं सुनते और बीचमे टमक पड़ते है। मेरा मतलब यह है कि बन्दरका यह स्वभाव है कि वह अपने बारेमें कभी कुछ नहीं सोचता। अंगदसे जब रामका दूत बनकर लंकामे जानेको कहा गया, तो वह सकुचाया, क्योंकि उसने अपनी शक्ति और योग्यताके बारेमे कभी कुछ सोचा ही न था। बादमे जब उसे याद दिलाया गया, तो वह तैयार हो गया और आप तो जानते ही है कि लंकामे जाकर फिर तो उसने वो काम किये कि आज भी इतिहास उसके गुण गाता है।

"हूँ, तो यह मतलब है आपका कि जो अपने जीवनके प्रश्नोंपर विचार नहीं करता, वह बन्दर है। लो, मान ली हमने आपकी यह बात, पर अब एक प्रश्न हमारा भी है।"

हाँ, हाँ, पूछो भी अपना प्रश्न!

"पण्डितजी, इन प्रश्नोंपर बड़ी उम्रमें ही विचार करना चाहिए, पर खैर छोड़ो इस बातको और यह बताओ कि आपने इस प्रश्नपर सबसे पहले कब विचार किया था कि आपमें कितनी सहकार-भावना – मिल-जुलकर काम करनेकी चाह – है?"

वाह भाई वाह, कैसा फ़िट सवाल पूछा है आपने भी। बस समझ लो कि आपकी हमारी बातचीत अब जम गयी। मै यह तो बताऊँगा ही कि पहले-पहल मैंने कब सोचा था यह प्रश्न, पर यह भी बताऊँगा कि इस मामलेमे मेरे गुरु थे दो बकरे और बीस-तीस बन्दर!

अरे, हँस रहे हैं आप। ठीक भी है हँसना। आप सोच रहे हैं कि यह तो सुना था कि पण्डितके पढ़ाये पाधा, पाधाके पढ़ाये पधोकड़े और पधो-कड़ोंके पढ़ाये आलमाल होते हैं, पर आज आपके सामने बकरे और बन्दरों-से ज्ञान पाया, एक पण्डित विराजमान है। है न यही बात, पर लो, अब भूमिका तो बहुत हो ली, कुछ कामकी बात सुनो।

जब मैं छोटा-सा बालक ही था, तो स्कूलकी किसी पुस्तकमें मैंने एक कहानी पढ़ी कि दो पास-पास खड़े पहाड़ोंके बीचसे एक नदी बहती थी। उसपर आर-पार जानेके लिए गाँववालोंने लकड़ीका एक लट्ठा रख रखा था। एक दिन एक ही समयमें उसपर एक बकरा इधरसे चला, एक उधरसे। लट्ठेके बीचमें पहुँचे, तो दोनों आमने-सामने, न मुड़नेकी जगह, न बचनेकी गुंजाइश। करें तो क्या करें? मौत दोनोंके सामने, पर थे दोनों समझदार और समझदार क्या दोनोंमें सहकार-भावना थी। सलाह करके दोनोंमें-से एक वहीं लट्ठेपर बैठ गया और दूसरा उसके ऊपरसे धीरे-धीरे उतर गया। बादमें यह भी उठकर अपनी राह लगा और यों दोनों मौतसे बच गये।

मुझपर इस कहानीका बड़ा असर पड़ा। मैं सोचने लगा कि दोनों बकरे आपसमें बहस करने लगते, तो भूखे-प्यासे थककर नदीमें जा गिरते। आपसके मेल-जोलसे कितने काम निकल सकते हैं।

मैं इस कहानीको भूल भी जाता, पर उन्हीं दिनों वह बन्दरोंकी घटना हो गयी, जिसका मैं अभी आपसे ज़िक्र कर रहा था और जिसपर आप मेरी अभी-अभी हँसी उड़ा रहे थे।

"हाँ वह बन्दरोंकी घटना सुनाइए पण्डितजी!"

ओहो, फिर वही जल्दबाज़ी। अरे भाई, सुना तो रहा हूँ बन्दरोंकी घटना। जिस पाठशालामें मैं पढ़ता था, उसके सामने ही था बूढ़े महादेवका मन्दिर। मैं एक दिन दोपहरको मन्दिरमें गया, तो क्या देखता हूँ कि एक काला साँप शिवजीको लिपटा हुआ है और अपना भयंकर फन उसने शिव-जीके ऊपर फैला रखा है। मैं देखकर उलटे पाँव लौट आया, पर मेरे बाहर निकलते ही एक बन्दर मन्दिरमें घुसा। बात यह है कि बूढ़े महादेवके असली पुजारी ये बन्दर ही हैं और भक्त लोग चावल, मिठाई, फल आदि जो चढ़ाते हैं, वह इन्हींके हिस्सेमें आते हैं।

मैं दूरसे देखने लगा कि देखें हनुमान् और शेषनागके वंशधरोंमें कैसी पटती है। बन्दर झपाटेके साथ बढ़ा चला गया और जब उसने फल-फूलकी

तरफ़ हाथ बढ़ाया, तो उसे साँप दिखाई दिया। पीछे हटनेका मौक़ा ही न था; क्योंकि साँप वार कर चुका था। बन्दरने कमाल किया कि फ़ुर्तीसे साँपका फन अपने पंजेमें इस तरह दबोच लिया कि काटनेके लिए वह मुँह ही न खोल सके।

मैंने अपने मनमें कहा : कहो शेषनागके पुत्र, सुरसाके वधकर्ता हनुमान्के पौत्रका पैंतरा कैसा रहा ?

मन-ही-मन शेषनागके पुत्रने कहा : ले तो मेरा भी पैंतरा देख और वह शिवजीकी लिपटनको छोड़ एक सपाटेमें बन्दरके पेट और छातीपर लिपट गया। अब हनुमान्का पौत्र बड़े संकटमें, जैसे शिकंजेमें कसी किताब, पर भाई, मैं उसके धीरजकी प्रशंसा करूँगा। फिर भी उसने अपनी उँगलियाँ ढीली नहीं कीं और शेषनागके पुत्रको कसे-ही-कसे अपने दो पैरोंके बल ठुमकता-ठुमकता और पुकार मचाता मन्दिरसे बाहर चला आया।

उसकी चिल्लाहट सुन बीस-तीस बन्दर इकट्ठे हो गये। अब मैं देख रहा हूँ कि वे बन्दर अपने साथीके चारों ओर घूम रहे हैं, मदद करनेको बेचैन हैं, पर उन्हें सूझ नहीं पा रहा कि कैसे क्या करें। तभी कहींसे आ गया उनका मोटा चौधरी। जो समयपर संकटसे समाजकी रक्षा न कर सके, वह चौधरी क्या ? चौधरीने आते ही वह पैंतरा चला कि शेषनागके पुत्रका ब्रह्मास्त्र कट गया। चौधरीने साँपकी पूँछ पकड़ ली और वह उस बन्दरके चारों ओरको घूम गया। अब हालत यह कि साँपका मुँह तो दबा हुआ उस बन्दरके हाथमें और पूँछ चौधरीके हाथमें। आपसमें सबने कीं-कीं की और बस इसके बाद जो कुछ हुआ वह एक चमत्कार है।

बन्दर पीपलकी छोटी-छोटी टहनियाँ उठा लाये और बीच-बीचमें-से साँपको रगड़ने लगे। पाँच-सात मिनिटमें साँपके तीन-चार टुकड़े हो गये और मुँहका छोटा-सा टुकड़ा उस बन्दरके हाथमें रह गया। उसने उसे बहुत ग़ौरसे देखा और उँगलियाँ ज़रा ढीली कीं, पर साँपके उस टुकड़ेमें अब भी दम था। उसने ज़रा-सी जीभ लपलपायी। बन्दरने झट अपना पंजा फिर कस लिया

और कुछ देर बाद उस टुकड़ेको धरतीपर इस तरह घिसना शुरू किया कि जैसे लौकीको कद्दूकसपर कसा जाता है। वह उसे थोड़ा-सा घिसता और देखता और फिर घिसता। बस यों ही घिसते-घिसते उसने शेषनागके पुत्र-का पूरी तरह भुरता कर दिया और एक भयंकर संकटसे बच गया।

यह घटना मैंने अपनी आँखों देखी और अपनेसे पूछा कि यदि यही संकट हमारे किसी विद्यार्थीपर आया होता, तो क्या हम उसे इतनी ही आसानीसे टाल सकते ? मेरे मनने इसपर हाँ नहीं की और तब मेरे मनमे यह दूसरा प्रश्न उठा कि क्या हम मनुष्योंमें बन्दरों-जितनी सहकार-भावना भी नहीं है ?

बस तबसे मेरी यह आदत बन गयी कि मैं अपनेसे और अपनोंसे बराबर यह प्रश्न पूछता रहता हूँ कि आपमें कितनी सहकार-भावना है, पर आप उसे एक फ़ालतू सवाल ही बता रहे हैं।

सचाई यह है कि यदि मेरा यह प्रश्न फ़ालतू है, तो हमारा यह जीवन कुछ नहीं है, क्योंकि सहकारके सिवाय हमारा जीवन और है ही क्या ? मेरी तरफ़ मुँह बाये घोंघा-से क्या देख रहे हैं ? ठीक तो कह रहा हूँ कि सहकारके सिवाय यह जीवन और है ही क्या ? लो सुनो, आपको पुराने सन्तोंकी सुनायी एक कहानी सुनाता हूँ।

एक बार शरीरके अंगोंमें लड़ाई हो गयी। इसका आरम्भ पैरोंने किया। वे बोले : लड्डू लाना हो या पेड़ा, कचौरी लानी हो या आलूकी टिकिया, हमें ही दौड़ना पड़ता है, पर चीज़ लेते ही हाथ उसे थाम लेते हैं, मुँह चट कर जाता है, आँखें देखती हैं, पेट खा जाता है, नाक सूँघती है, हमें क्या मिलता है – हम क्यों बेगार करें ! आजसे हम नहीं चलेंगे, जो खाते हैं, लेते हैं, वे ही जायें, वे ही दौड़ें।

बस पैरोंकी देखा-देखी औरोंको भी सूझी। हाथोंने कहा : तुम चलकर जाते हो तो क्या, ढोकर तो हमीं लाते हैं, पर हमे क्या मिलता है, यह अकेला मुँह सब कुछ चट कर जाता है। उन्होंने भी अपना काम छोड़ दिया

और इस तरह एकके बाद एक सभीने छुट्टी की, पर पेट ख़ाली रहा तो शामको ही सबपर सुस्तीकी छाया पड़ी। दूसरे दिन बेचैनी हुई और तीसरे दिन तो सबके सब दम ही तोड़ने लगे।

हँसकर पेटने कहा : क्यों भाई, कुछ आया मज़ा ? तुम समझते थे कि सब कुछ मैं अकेला ही अपने थैलेमे रख लेता हूँ। अरे भोले भाइयो, यह तो सहकारकी बात है। तुम सब अपना काम करके मुझ तक कुछ पहुँचाते हो और मैं अपना काम करके तुम तक कुछ पहुँचाता हूँ और यों हम सब एक दूसरेको जीवित रखते है।

इसीका नाम सहकार-भावना है। अंगोंने समझा और उठकर अपने-अपने काममे लगे। बस जो हाल शरीरका है, वही समाजका है। यहाँ भी सब अपना-अपना काम करते हैं, तो समाज ठीक चलता है। नहीं तो समाजके संगठनमे शिथिलता आ जाती है। अब यह बात साफ़ है कि जिसमें सहकार-भावना नहीं है, वह समाजका शत्रु है और उसे समाजसे जीवन-शक्ति ग्रहण करनेका कोई अधिकार नहीं है।

"अच्छा, इस सहकार-भावनाका मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?"

असलमें अब आये हैं आप तालपर। मै बहुत खुश हूँ कि अब आप बातचीतमे गहरे उतर रहे है।

लो सुनो, सहकार-भावनाका मनोवैज्ञानिक स्वरूप यह है कि एक आवाज़ उठी कि यह काम है और तुरन्त दूसरी आवाज़ आयी कि लो, मैं भी आ गया।

रल गये, नहीं आया समझमे कि यह क्या कह गया मैं। लो, मैं एक और कोशिश करता हूँ।

काम और मसले ज़िन्दगीमे आते ही रहते हैं। वे आयें और बिना हुए पड़े रहें, यह बीमारीकी निशानी है। बीमारी मनुष्यकी और बीमारी समाजकी भी। स्वास्थ्यकी निशानी यह है कि कोई काम सामने आया कि एक आवाज़ उठी : आओ करें; इस आवाज़का अकेला रह जाना भी

बीमारीकी निशानी है। इस आवाज़के साथ ही बहुत-से कण्ठोंकी यह आवाज़ आये : लो हम भी आ गये, तो इसका अर्थ हुआ कि यहाँ अब कोई काम अधूरा नहीं रह सकता।

"अच्छा, यह पहली आवाज़ किसकी हो?"

शाबाश! यह पूछा है आपने एक लाख रुपयेका प्रश्न। सच यह है कि बातचीत ऐसे ही प्रश्नोंसे जमती है। जमती भी है और खिलती भी है।

पहली आवाज़ उसकी हो, जो उस कामको पहले देखे या समझे कि यह काम है, जो होना चाहिए। जो पहली आवाज़ लगाये, वही नेता। बादमें यह कहनेवाले तो हो ही जाते हैं कि लो, हम भी आ गये।

"और क्यों जी, अगर पहली आवाज सुनकर कोई पीछे न आये?"

ठीक है यह आशंका, पर इसका उत्तर बड़ा सरल है। जिसने पहली आवाज़ लगायी है, वही पहला हाथ और पहला क़दम भी उठाये। मतलब यह कि वही उस कामको आरम्भ कर दे और करता चले।

उत्तर प्रदेशके एक ज़िलेमें एक पुराना तालाब फिरसे खुदना था। कई गाँवके किसानोंके लिए यह जीवन-मरणका प्रश्न था, पर कोई उधर ध्यान नहीं दे रहा था। बाबा राघवदासने इसे अनुभव किया और एक फावड़ा और टोकरी लेकर वे उसे खोदने लगे। एक आदमी और कई बीघेका तालाब! चिड़ियाका समुद्र शोषण है, पर उस सन्तने इधर ध्यान नहीं दिया और प्रातःकाल दो-तीन घण्टे रोज़ वे अपना काम करते रहे। बस तीन दिनमें ही यह बात गाँव-गाँवमें फैल गयी और हज़ारों फावड़े, हज़ारों टोकरियाँ और इससे भी बढ़कर हज़ारों हृदय आ जुटे और देखते-देखते तालाब खुद गया। हमारे देहातोंमें एक भावपूर्ण कहावत है कि जो देखे सो पूरे। मतलब यह कि दीपकको जो डूबता देखे, वही उसकी बत्तीको ठीक कर दे और तेल डाल दे, किसीकी प्रतीक्षा न करे और न किसीपर हुक्म ही चलाये। अरे भाई, दीपक सबका है, जो देखे सो पूरे। इसमें और किसी बातकी गुंजाइश ही कहाँ है?

इसमें एक शर्त भी है कि जो महसूस करे, औरोंको पुकारे और पहला हाथ ख़ुद बढ़ाये, उसका हृदय और भावना शुद्ध हो, क्योंकि ऐसा न हो तो उसका बढ़ा हुआ हाथ कार्यका निर्माण नहीं, नाश ही करेगा।

"यह क्यों ?"

इसमें क्यों कुछ नहीं, यह तो एक जीवनका सत्य है और यह सत्य पूरी तरहसे एक लोक-गाथामें खिला हुआ है। एक यज्ञमें दूधकी आवश्यकता थी। राजाने आज्ञा दी कि हर एक आदमी कल ब्रह्मवेलामें उपवनकी हौज़में एक-एक लोटा दूध डाल जाये, पर जो आदमी सबसे पहले दूध डालने गया, उसने सोचा और सब तो दूध डालेंगे ही, मैं पानीका ही लोटा डाल दूँ, तो कौन पहचानेगा ? वह पानीका लोटा डाल आया। राजाने जब प्रातः उठकर देखा, तो सारा हौज़ पानीसे भरा था, क्योंकि नगरके सभी आदमी एक-एक लोटा पानी डाल गये थे; यही सोचकर कि और तो सब दूध डालेंगे ही। अन्तमें राजाने पता लगाते-लगाते उस आदमीको पकड़ लिया, जो सबसे पहले पानी डाल गया था और उसे फाँसी दे दी। राजाके वज़ीरोंने पूछा : यह काम तो सभीने किया है। राजाने कहा : उस पाप-भावनाकी लीक इसीने बनायी, जिसपर बादमें सब लोग चलकर पतित हुए, इसलिए यही मुख्य पापी है।

इस लोकगाथामें 'भावनाकी लीक' यह बहुत महत्त्वका शब्द है। यदि कोई तिरछी दागबेल डाल दे, तो सड़क तिरछी हो ही जायेगी। जो पहले आगे बढ़े, उसका काम है कि अपनेको शुद्ध और सावधान रखे।

सहकार-भावना असलमें जीवनकी एक कसौटी है। लो, फिर आपको ही इस कसौटीपर कसता हूँ। जब आपका कोई साथी भूलसे रपट जाता है तो आप क्या करते हैं ? हँस पड़ते हैं, तो आप भी उस बादशाहके एक ख़ानदानी हैं, जो शहर जलते देखकर वंशी बजाया करता था। खड़े रहते हैं, तो अपाहिज, ध्यान ही नहीं देते, तो मिट्टीके लौंदे, घेरकर खड़े हो जाते हैं, तो पशु और बढ़कर उसे मदद देते हैं, तो मनुष्य !

अच्छा मान लो, आपकी बहन, माँ या पत्नी अभी खाना बनाकर उठी है और गरमीमें पसीने तर आपके लिए थाली परोसकर ला रही है। थाली रखकर वह पानी लायेगी और फिर पंखा, तो क्या तबतक आप बैठे-बैठे देखते ही रहेंगे ? हाँ, तो आप निश्चय ही पशु हैं और यदि उठकर पानी और पंखा ख़ुद ले आयें, तो मनुष्य।

सहकार कोई एहसान नहीं है। यह असलमें ज़िन्दगीका ताना-बाना है। ताना बानेसे टिका है, बाना तानेसे। दोनोंका सहकार टूट जाये, तो दोनों सूत रह जायेंगे। लो, चलते-चलते आपको एक गहरी बात बताऊँ। सहकार प्रजातन्त्र है और असहकार फ़ासिज़्म। पहलेका अर्थ है – मैं ही सब कुछ नहीं हूँ और दूसरेका स्वरूप है – मुझे किसीकी ज़रूरत नहीं !

जब वे रौबीको कमरेमें ले गये !

पण्डित आशारामजी एक संस्कारी पुरुष थे । देखनेमें ही राजा नहीं, वे मनके भी राजा थे । देवबन्दके तो वे सबसे बड़े आदमी थे ही, अपने सारे प्रदेशमें भी उनकी धाक थी । वे सबको प्यार करते थे, सबपर उनका रोब पड़ता था। यों कहना काफ़ी होगा कि पुरानी पीढ़ीकी सब ख़ूबियाँ उनमें थीं।

शामको उनका घर राज-दरबार हो जाता । इस दरबारमें बूढ़े भी होते, बालक भी, दर्दी भी, ग़रज़ी भी ! मैं भी अकसर उनके यहाँ जाता । वे अपने बालकोंकी तरह ही हम सबको भी लाड़ करते । जिन दिनोंकी बात मैं कह रहा हूँ, एक ईसाई नवयुवक भी उनके यहाँ आया करता था । उसे हम सब रौबी कहा करते – पता नहीं यह उसके किस नामका संक्षेप था। वह कहीं बाहर पढ़ता था और छुट्टियोंमें ही वहाँ रहता था । पण्डितजी उसे भी हमारी ही तरह मानते और खिलाते-पिलाते। वे बहुत ही प्रेमी स्वभाव-के मनुष्य थे ।

एक दिन शामको बैठे थे, गपशप हो रही थी कि रौबी आया । उसके हाथमें एक छोटा-सा फूलोंका गुच्छा था – निश्चय ही वह पण्डितजीके बाग़से तोड़ लाया होगा। जाने रौबीको क्या सूझी कि वह सीधा पण्डितजीकी कुरसी तक पहुँच गया और शोख़ीके साथ गुलदस्ता उनकी ओर बढ़ाकर बोला : "लीजिए, यह आपको इनाम देता हूँ ।"

पण्डितजीने तेज़ीसे रौबीकी तरफ़ देखा और मैंने पण्डितजीकी तरफ़ । गुस्सेसे उनका प्रभावशाली चेहरा तमतमा रहा था । मैं पण्डितजीका स्वभाव जानता था । मैंने मान लिया कि अब रौबीपर चमड़ेका हण्टर बरसेगा, पर जाने कैसे पण्डितजीने अपनेको सँभाल लिया और उठकर पासके कमरेमें चले गये । वहींसे वे गुर्राये : "रौबी, यहाँ आ !"

मैंने सोचा : शायद मरम्मतकी मुनासिब जगह भीतर समझी गयी है। रौबी भीतर चला गया, पर न तो हण्टरकी सपसपाहट सुनाई दी, न थप्पड़-घूँसोंकी धमकधम और दस मिनिटमें दोनों बाहर चले आये। मैंने गौरसे देखा : पण्डितजी शान्त थे और रौबी गम्भीर। कुछ समझमें न आया कि भीतर क्या हुआ ?

मैं बैठा रहा। रातमें दस बजे जब भीड़ छँट गयी, तो मैंने धीरेसे पूछा : "पण्डितजी, आपने भीतर ले जाकर रौबीको क्या कहा था ?"

बोले : "बदमाश मुझे इनाम दे रहा था। आज उसे हण्टरोंसे रंगता, पर मुझे उसके बूढ़े बापका ख़याल आ गया बेटा !"

मैंने कहा : "जी हाँ, यह तो ठीक है, पर आपने उसे भीतर ले जाकर क्या कहा था ?"

बोले : "मैंने उससे कहा कि तुम अभी बालक हो। बड़े आदमियोंमें बैठते हो, तो बड़ी बात सीखो और याद रखो कि किसी तरह भी मर्यादामें जो तुमसे बड़े है, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करते है, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मैं उनके पैर छूकर चला आया। चलते-चलते मैंने मनमें सोचा : रौबी घाटेमें रहा हो या लाभमें, मुझे तो जीवनका एक बहुत क़ीमती मोती आज मिल ही गया : "किसी तरह भी मर्यादामें जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करते हैं, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं !"

कृपा सिर झुकाकर, नम्र भावसे, कृतज्ञताके साथ, स्वीकार की जाती है और अधिकारका हम मनमाना उपयोग कर सकते हैं। कृपा वह है, जो हमें किसीसे प्राप्त हो, अधिकार वह जो हमारा अपना हो। जो हमें किसीसे प्राप्त है, वह सँवारकर रखने और सँभालकर ख़र्च करनेकी चीज़ हैऔर जो हमारा है, उसे हम चाहे जैसे रखें, जैसे बरतें – हाँ, उपयोग दुरुपयोग न हो जाये, यह सावधानी तो रखनी ही पड़ेगी। यों पाबन्दी दोनोंमें है, पर

पहलेमें वह नैतिक है, दूसरेमे वैधानिक है। उचित पाबन्दीको निभाकर चलना उतना ही कल्याणकारी है, जितना अनुचित पाबन्दीको तोड़कर चलना और यों मर्यादा और विद्रोह जीवन-सरिताके दो स्थायी तट हैं। कब हम इस तट, कब हम उस तट, इस प्रश्नमें कबका, अवसरका, ज्ञान ही हमारी कसौटी है। हम मर्यादाको तोड़ते हैं, तो उच्छृंखल हो जाते हैं और बन्धनको तोड़ते है, तो विद्रोही। उच्छृंखल दण्डका और विद्रोही वन्दनाका अधिकारी है।

बैंकमें मेरे एक मित्रका पुत्र काम करता है। मैं एक दिन बैक गया, तो उसने कहा : 'नया जीवन' मुझे बहुत अच्छा लगता है, पर पढ़नेको नहीं मिलता। मैंने उसे बिना मूल्य 'नया जीवन' ले लेनेको कह दिया। तीन-चार दिन बाद मै फिर बैंक गया, तो उसे देखकर मुझे उसकी बात याद हो आयी। 'नया जीवन' की प्रति मेरे बैगमें थी, मैंने उसे दे दी। इसके दूसरे मास वह मुझे मार्गमें मिला और माँगकर उसने मुझसे 'नया जीवन' ले लिया।

तीन-चार महीने बाद मैं एक दिन फिर बैंक गया, तो वह बोला : "आपने कई महीनेसे हमें 'नया जीवन' ही नहीं दिया!" उसके चेहरेपर रोष था, वाणीमें तीखापन और मुद्राओंमे शिकायत। सब मिलाकर एक ऐसा भाव कि जैसे मैं उसका ज़ेवर मँगनी लाया था, पर वह मैंने लौटाया नहीं और वह उस अभद्रताके लिए मेरी भर्त्सना कर रहा है।

मैंने उसे ज़रा ध्यानसे देखा कि मुझे पण्डितजीकी वह सीख याद हो आयी : "किसी तरह भी मर्यादामें जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मेरे मित्र हैं श्री महावीर त्यागी। मानवकी समानताके हामी और बहुत ही प्रेमी। उन्होंने घरेलू कामके लिए एक नौकर रखा। समयकी बात, पहले खार चढ़ आया। त्यागीजीने उसे दूसरे दिन सुबह नहीं उठाया, स्वयं उठकर चाय बनायी और एक गिलास उसे दिया। बादमें उठकर उसने थोड़ा-बहुत काम किया। दो-तीन दिन जबतक उसकी तबीयत

ख़राब रही, यही सिलसिला रहा। चौथे दिन सुबह त्यागीजी लेटे रहे; क्योंकि उनका नौकर अब स्वस्थ था और उन्हें आशा थी कि आज वही उठकर चाय बनायेगा, पर वे उसके उठनेकी बाट जोह ही रहे थे कि उनके कानोंने सुना : "बाबूजी, आज चाय नहीं बनाते !" त्यागीजीने उठकर देखा : अपनी बुक्कलमे मुँह छिपाये, उनका नौकर उन्हें उनके कर्तव्यकी याद दिला रहा है। वही बात, वह उनकी कृपाको अपना अधिकार मान बैठा !

यह बेवक़ूफ़ी भी है, बदमाशी भी, पर दोनों ही दशाओंमें इसकी समान प्रतिक्रिया है यह कि मनुष्य अपनी उदार भावनापर ब्रेक लगानेकी आदत डालने लगता है और इसका अर्थ यह हुआ कि हम कृपाको मूर्खता-से अधिकार मानें या धूर्ततासे, दोनों हालतोंमें उससे समाजकी उदारताका कुछ-न-कुछ अंश कम करते हैं।

हज़रत उमर ख़लीफ़ाकी गद्दीपर थे। यों कहनेको ही वे ख़लीफ़ा थे, असलमें बादशाह थे – हज़रत पैग़म्बर मुहम्मदके पूरे प्रतिनिधि। पड़ोसके किसी बादशाहसे उनकी लड़ाई चल रही थी – फ़ैसलेकी बातचीतके लिए उन्हें बुलावा आया, तो वे अपने ऊँटपर चढ़ चले।

वे ऊँटपर सवार और उनका ग़ुलाम नकेल पकड़े आगे। चार कोस गये कि उनके हुक्मसे ऊँट रुका। वे नीचे उतरे और ग़ुलामके हाथसे नकेल लेकर बोले : "अब तू बैठ जा ऊपर, मैं नकेल लेकर चलूँगा !" ग़ुलाम धक कि मुझसे क्या ख़ता हुई, जिसकी यह सज़ा है !"

उसने भरे गलेसे कहा : "मेरे आक़ा, मेरे पीर, मेरे मालिक, मुझे माफ़ करो !"

हज़रतने उसका कन्धा प्यारसे थपथपाकर कहा : "बैठ जाओ ऊपर, अब थोड़ी दूर मैं पैदल चलूँगा, आख़िर तुम भी तो उसी ख़ुदाके बन्दे हो।"

मालिकका हुक्म, ग़ुलाम ऊँटकी पीठपर और दुनिया-भरके मुसलमानों-का ख़लीफ़ा नकेल थामे आगे-आगे। यों ही उतरते-चढ़ते ख़लीफ़ा उस

बादशाहकी राजधानीमें पहुँचे और क़िस्मतका करश्मा कि राजधानीमें पहुँचे, तो नकेल खलीफ़ाके हाथमें और ग़ुलाम ऊँटकी पीठपर !

बादशाहके वज़ीर-वुज़रा ग़ुलामको सलाम करने लगे, तो घिसियाकर उस बेचारेने कहा : "अरे, मैं तो ग़ुलाम हूँ, हज़रत ख़लीफ़ा तो वे हैं, जो नकेल थामे हैं !"

विरोधी बादशाहने सुना, तो वह सुन्न हो गया – जो अपने ग़ुलामके साथ ऐसा व्यवहार करता है, उससे लड़कर कौन जीत सकता है और उसने बिना शर्त अपनेको हज़रत उमरके क़दमोंमें सौंप दिया ।

ग़ुलामके साथ मालिककी यह कृपा है, पर कल वह इसे अपना अधिकार मान ले और किसी दिन आगे चलते-चलते ऊँट थामकर ख़लीफ़ासे कहे : "ज़रा नीचे आइए, मैं थक गया हूँ और लीजिए, यह नकेल थामिए, मैं ऊपर बैठ रहा हूँ ।" तो खलीफ़ाकी उदारता भले ही समुद्र-सी गहरी और हिमालय-सी ऊँची हो, वह उसी क्षण कृपण हो उठेगी और दूसरे ही दिन हम उनके व्यवहारमें एक ऐसा अन्तर पायेंगे, जिसे पचाना हमारे लिए सुगम न होगा ।

आवश्यकता है कि हम दूसरेकी ढील देखकर अपनेको ढील न दें, क्योंकि ढील भी मशीनके एक पुरज़ेकी तरह है, जो अपनी ही जगह फ़िट होकर काम देता है, हर जगह नहीं और यह बात तो हर पतंगबाज़ जानता है कि छोटी पतंग बेमौक़े ढील देनेपर पेटा खा जाती है ।

अपने एक कार्यकर्ता मित्रको मैं अपने राज्यके एक मन्त्रीसे मिलाने ले गया । मैं उनकी मूक साधनाका वर्णन माननीय मन्त्रीसे कर चुका था । हम दोनोंके बड़े कमरेमें घुसते ही उन्होंने मेरे मित्रको अपने पास बुलाया । मेरे मित्रने दरवाज़ेपर ही जूता निकाल दिया । मैंने कहा : इसकी ज़रूरत नहीं, तो गम्भीरतासे बोले : मुझे अपने जूतेकी क़ीमत मालूम है ।

जब-जब किसीको किसी बड़ेकी उदारताका दुरुपयोग करते देखता हूँ, इन मित्रकी याद आ जाती है और इसके साथ ही याद आ जाते हैं वे

ब्रह्मचारीजी जो बहुत बड़े शाक्त बना करते थे। एक राजा साहबसे मैंने उनका परिचय करा दिया। राजा साहब शामको थोड़ी-सी पी लिया करते थे और ब्रह्मचारीजीके लिए तो बोतल कर्मकाण्ड ही थी।

एक दिन हम दोनों शामके समय राजा साहबके यहाँ जा निकले। राजा साहबने गिलास ब्रह्मचारीजीके सामने किया कि मेरे इशारा करते भी उन्होंने हाथ बढ़ाया और जाने कितने टन-टूमन करनेके बाद पहली घूँट भरी। मैंने देखा : ब्रह्मचारीजीने पहली घूँटमें जो सुस्ती बरती थी, बादमें गिलासपर गिलास उँडेलनेमें उतनी ही चुस्ती बरती।

पेट भरा, तो दिमाग़ खिला। अब वे काली माईके पास थे और राजा साहबका नाम लेकर तू-तेरामें बोल रहे थे। मुझे यह बुरा लगा, पर राजा साहब 'हाँ महाराज' ही कहते रहे। दूसरे दिनसे ब्रह्मचारीजी राजा साहब-का नाम लेकर पुकारना अपना अधिकार मानने लगे।

एक दिन ब्रह्मचारीजी मिले, तो मुँह सूजा हुआ था। बोले : जाड़में कई दिनसे दर्द है, पर शामको राजा साहब मिले, तो बोले : "भैया, कल हमने ब्रह्मचारीजीकी काली उतार दी। कल वह आया, तो कई दोस्त बैठे थे। लगा नाम लेकर पुकारने और तू-ताम बाँधने। हमने बाहर बरामदेमें बुलाकर जबड़ेपर एक घूँसा दिया और बाहरकी राह दिखा दी !"

अब तीन प्रयोग हमारे सामने हैं। पहला हमारे कार्यकर्ता मित्रका, जो कभी अपने जूतेकी क़ीमत नहीं भूलते। दूसरा पण्डितजीका, जो भूलने-वालेको इशारा दे देते हैं और तीसरा राजा साहबका, जो भूलनेवालेको भूलना भुला देते हैं, पर एक चौथा प्रयोग भी है, जो हमारे लोक-जीवनमें बिनलिखा सुरक्षित है।

साँप एक दिन ऋषिके पास जा बैठा। ऋषिने उसे अहिंसाका उपदेश दिया। साँपने व्रत ले लिया कि अब वह किसीको न काटेगा। ऋषि अपनी यात्रापर चले गये और साँपके व्रतकी बात सबको मालूम हो गयी। लड़के उसे उठा लेते और घण्टों तोड़ते-मरोड़ते। एक दिन एक ग्वालेने

उसे अपनी गायके सींगोंमें बाँध दिया और दिन-भर गाय झाड़ियोंमें सींग मारती रही – बेचारा लहूलुहान होकर बड़ी मुश्किलसे शामको छूटा, पर दूसरे दिन लड़कोंने उसे फिर खींच लिया और उसके मुँहमें रेत भर दिया।

लड़के उसकी आँखोंमें सीक देकर उसे अन्धा करनेवाले ही थे कि ऋषि उधर आ निकले। मोटा-मतंगा साँप लटकर रस्सी हो गया था और रूप बटरूप !

खिन्न होकर बोले : "अरे यह क्या हुआ तुझे साँप ?"

"महाराज, आपने ही तो अहिंसाका उपदेश दिया था !" साँपने भक्ति-भावसे, पर कातर स्वरमें कहा।

ऋषि समझ गये कि क्या हुआ है उसके साथ और बोले : "अरे मूर्ख, मैंने यही तो कहा था कि काटना मत, पर यह कहाँ कहा था कि फुंकारना भी मत।"

साँप समझ गया और आज बहुत दिन बाद उसने फन उठाकर फुंकार मारी। बस, सारे खिलाड़ी नौ-दो-ग्यारह और साँप अब व्रती भी और मौजमें भी।

मतलब यह कि उदार रहो, कृपा करो, सबके साथ समानता निबाहो, पर सस्ते न बनो, अपना भेद न दो कि दूसरे सिरपर-से रास्ता करनेकी ठानें।

हमारे राष्ट्रके महाकवि कालिदासने महाराज दिलीपके वर्णनमें कहा है :

"भीमकान्तैर्नृपगुणैः सः बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥"

दिलीपमें भयंकरता भी थी और कमनीयता भी, इसलिए उसके आस-पासवाले न उसकी अवज्ञा कर सकते थे, न उपेक्षा; जैसे भयंकर जल-जीवोंके कारण लोग समुद्रको मथ नहीं सकते, पर रत्नोंके कारण छोड़ भी नहीं पाते।

कविने अपनी बात कवितामें कही, पर लोक-भाषामें बिना कविताकी कविता गायी गयी है : 'न गुड़-सा मीठा, न नीम-सा कड़वा !' न ऐसा ही बन कि निगला जाये और न ऐसा ही बन कि तुझे लोग थूक दें ।

कविका काव्य और लोक-भाषाका उपदेश पढ़कर मुझे याद आ जाते हैं स्वर्गीय पण्डित आशारामजी और रौबीको कमरेमें ले जाकर कहा गया उनका वाक्य : "जो तुमसे मर्यादामें किसी तरह भी बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझ, अपना अधिकार नहीं।" और तभी वे ब्रह्मचारीजी, जो उस दिन मुँह फुलाये मुझे राहमें मिले थे !

मैं सोचता हूँ, यह रोग और उसकी पूरी चिकित्सा है ।

लाल सेनाकी हवाई उड़ानके नीचे

लाल सेनाकी हवाई उड़ानके नीचे हिटलरकी तरह वह अडिग अकम्प बैठा अपना काम करता है; जैसे यहाँ कुछ भी भयंकर या अशान्तिकर नहीं है। पूरी बात सुनकर आप कहेंगे कि हिटलरकी उपमामें अतिशयोक्ति है, बात बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी है, पर मैं भी उत्तरके लिए तैयार हूँ कि कहूँगा – बेशक वह हिटलर नहीं है, एक मामूली दूकानदार है, पर मेरे वाक्यकी लाल सेना भी तो रूसकी वीर लाल सेना या अँगरेज़ी सरकारकी पुलिसके लिए भूत १९४२ के विख्यात विद्रोही मगनलालकी लाल सेना नहीं है, लाल ततैयोंकी फ़ौज ही है।

फिर बहसकी क्या बात है, आप पूरी बात जो सुन लें!

मोरगंजकी मण्डीमे एक गुड़-शक्करकी दूकान है और उसका मालिक है, एक पतला-दुबला दूकानदार। मैं अकसर देखता हूँ कि उसकी दूकान-पर, दूकानके बाहर सड़कपर, हज़ारों लाल ततैयोंकी हवाई उड़ान जारी रहती है और उसके बीचमें बैठा दूकानदार अपना काम करता रहता है। मैं उसकी दूकानके सामनेसे निकलता हूँ, पर दूर-दूर और बहुत सावधानीके साथ, हाथ-पैर बचाकर। फिर भी एक दिन एक दुर्घटना हो ही गयी।

मैं बचा-बचा जा ही रहा था कि देखता हूँ एक ततैया; सच मानिए, एकदम बमवर्षक-सा मेरी ओर बढ़ा आ रहा है। मैं भी अपनेको तीस-मारख़ाओंमें शुमार करता हूँ, इसलिए मैंने हथेलीकी ढालसे उसे पीछे ढकेल दिया, पर मैं अपनी बहादुरीकी तारीफ़ भी अभी न कर पाया था कि देखा वह अपने एक साथीके साथ पूरे वेगसे मेरी ओर आ रहा है। आ रहा है क्या, वे दोनों आ गये और मुझपर झपटे। मेरी होश गुम, पर विपत्तिके

समय भी प्रयत्न करना मेरा स्वभाव है, इसलिए मैं अन्धाधुन्ध दोनों हाथ चलाने लगा; जैसे घूँसेबाज़ी कर रहा हूँ।

अब मैं पसीनेसे तर हूँ, विवेक मुझे है नहीं और हाथ बराबर फेंक रहा हूँ। अचानक मुझे लगा कि वे दोनों बस मेरी गरदनपर लिपटनेको ही हैं। बस, मैंने दोनों कुहनियोंके बीचमें कर लिया अपना मुँह और गरदनको लपेट लिये दोनों हाथ — बिलकुल वही मुद्रा, जैसे पाधाजीके यहाँ बच्चे सबक़ याद न करनेपर कान पकड़ते हैं।

"बाबूजी, आपने यही तो ग़लती की, जो हाथ हिलाये। हाथ हिलानेसे ये और ऊपर आते हैं!"

यह एक पल्लेदारकी आवाज़ थी, जो राह चलते इधर आ निकला और जिसने हाथके एक इशारेसे उन दोनोंको भगाकर मेरी जान बचायी थी। मैं इतनी देरमें काफ़ी अस्त-व्यस्त हो गया था, इसलिए पानी पीनेके लिए पासकी दूकानपर बैठ गया। नौकर पानी लेने गया है और मैं सामने ही देख रहा हूँ कि हज़ारों ततैयोंकी भीड़में वह दूकानदार गुड़ तौल रहा है।

एक ततैया उसके कानपर बैठ रहा है, ज़रूर काटेगा, पर नहीं, वह उड़ गया। एक दूसरा उसकी नंगी खोपड़ीपर बैठ गया। अब भिन्ना जायेगा इसका सिर, पर नहीं, वह भी उड़ गया। वह गुड़ तौल रहा है और मैं देखता हूँ कि उसे जो डला तराज़ूपर चढ़ाना है, उसपर दस-बीस ततैये जमा हैं। दूकानदारने उँगलीके हलके इशारेसे वह डला हिलाया और अरे, वे सब उड़कर दूसरे डलोंपर जा बैठे!

पानी पीकर मैं चला आया; यह सोचता हुआ कि इस दूकानदारको ततैये कीलनेका मन्त्र सिद्ध है या इन ततैयोंसे इसकी दोस्ती है?

श्रद्धेय श्री स्वामी कृष्णानन्दजीने बहुत दिन हुए अपने प्रवचनमें कहा था : एक बार भगवान् बुद्ध सायंकालके समय एक मठमें पहुँचे और रात-

भरके लिए स्थान माँगा। मठाधीश कट्टर हिन्दू महन्त था। वह बुद्धको देखकर जल गया और घृणासे बोला : "उस नदी-तटवाली कोठरीमें स्थान है, तुम्हें पसन्द आये, तो वहाँ टिक सकते हो!"

बात यह थी कि उस कोठरीमे एक साँप रहता था, जो कई आदमियों-को काट चुका था। महन्तके यहाँ जो मालदार यात्री आ फँसता, वह इस कोठरीमे ठहराया जाता। प्रातःकाल यात्रीकी लाश नदीमे फेंक दी जाती और मालमता महन्त अपनी सन्दूक़में रख लेता!

भगवान् बुद्धने वहाँ निवास किया। रातमें जब वह भयंकर साँप निकला, तो भगवान् ध्यान-मग्न थे। साँप उनके सामने आया, फुंकारा, पर उन्हे क्या? उनका ध्यान न टूटा। साँप क्रोधमें अन्धा होकर सिर पटकने लगा और मर गया। प्रभातमे जब महन्त भगवान्को नदीमें फेंकने आया, तब उसने देखा भगवान् अब भी ध्यान-मग्न है और साँप मरा पड़ा है।

महन्तके रोम-रोममें एक प्रश्न उठा : यह क्या?

मेरे मनमें भी बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि ध्यान-मग्न भगवान् बुद्धको साँपने काटा क्यों नहीं, पर एक दिन एक दृश्य मैंने स्वयं देखा। मैंने एक कुत्ता पाल लिया। कुत्ता क्या भेड़िया था। उसकी एक ही गुर्राहटमें आनेवाली रूह क़ब्ज़ हो जाती थी! सुबह-शाम हम उसे घरके भीतर रखते और दोपहरको बाहर छज्जेपर बाँध देते। इस छज्जेपर-से तीसरी मंज़िलमें जानेका रास्ता था और दोपहरमें ऊपर कोई आता न था।

एक दिन अचानक दोपहरकी गाड़ीसे चाचा मधुसूदनदास आ गये। वे हैं थानेदार! उन्होंने मुझे पूछा और ऊपर चले। बच्चोंने यह देखा और कुत्तेकी ओरसे उन्हें सावधान किया, पर वे ऊपरकी ओर चढ़ चले। उनकी आवाज़ सुनकर मैं भी (तीसरी मंज़िलपर) कमरेके बाहर निकल आया। अब मैं देखता हूँ कि वे 'टाइगर' की ओर दृढ़ गतिसे बढ़े चले आ रहे हैं और

वह खड़ा तो हो गया है, पर भौंकता नहीं। मैं बोलनेको हूँ ही कि वे उसके पास आ गये और बिना उसकी ओर देखे आगे निकल आये।

"टाइगरने आपको कुछ नहीं कहा ?" मैंने पूछा तो बोले : "यह तो टाइगर है, हमे तो भइया, चोर-डाकुओंमे जाना पड़ता है !"

जो 'टाइगर' किसीके दहलीज़में आते ही हुंकार उठता है, वह चाचाजीके पास आनेपर भी क्यों चुप रहा, क्या यह एक ज़रूरी सवाल नहीं है ?

क्रान्तिकारी शहीद श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल' उस दिन किसी स्टेशनसे गाड़ीमे चढ़नेवाले थे और किसी तरह पुलिसको यह सुराग़ मिल गया था। स्टेशनको पुलिसने घेर रखा था, पर उनमे-से कोई बिस्मिलको पहचानता न था। समयपर बिस्मिल साहब आये – सूट, बूट, हाथमे हण्टर; एकदम साहब। फ़र्स्ट क्लासका टिकिट और सूटकेस कुलीके सिरपर। प्लेटफ़ॉर्मपर आते ही कुली ठोकर खा गया। अटैची सिरपर-से गिरी और उसमे रखा रिवाल्वर प्लेटफ़ार्मपर निकल पड़ा। पुलिस अफ़सर उधर झपटा और सारी स्थिति बिस्मिलके सामने, पर घबरा गया, तो क्रान्तिकारी क्या ? बिस्मिल साहबने बिना सामानकी तरफ़ ध्यान दिये कुलीपर हण्टर बरसाने शुरू किये। क़ुली पिट रहा है, लोच रहा है और वे चिल्ला रहे है : "सूअर, मेरा माउज़र टूट जाता, तो क्या होता !" पुलिस-अफ़सरका सन्देह दूर हो गया और उसने आगे बढ़कर रिवाल्वर अटैचीमें रखा और क़ुलीसे सामान फ़र्स्ट क्लासमें रखवा दिया। बिस्मिलने अफ़सरको धन्यवाद दिया और अपने डिब्बेमें जा बैठे।

शिकारको अपने हाथमें पाकर भी पुलिस-अफ़सर क्यों चूक गया ?

चारों उदाहरण अपने-अपने ढंगपर अलग-अलग क़िस्मके है, पर उन चारोंसे जो चार प्रश्न उठकर हमारे सामने आते हैं, उनका उत्तर हम एक शब्दमें पा सकते हैं और वह शब्द है स्थिरता ! स्थिरता, यानी संकटका,

चिन्ताका, समय होनेपर भी अपने मनको, विवेकको, सोच-विचारकी शक्तिको स्थिर रखना।

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥"

"घबराहटका अवसर होनेपर भी जिनके मन अस्थिर नहीं होते, वे ही वास्तवमें धीर पुरुष है।" यह धीरता कुछ लोगोंमें स्वभावसे ही होती है और जिनमें नहीं होती, वे भी अभ्याससे इसे बहुत कुछ पा सकते है। इसका एक उदाहरण स्वयं मै हूँ।

बचपनमें मै बहुत डरपोक था, क्योकि मेरी माँ लाड़के कारण मुझे मनुष्य नहीं, चिड़ियाका बच्चा समझती थी। शाम होते ही मैं घर आ जाता था। अँधेरेके नामसे भी मैं घबराता था और मुहल्लेसे बाहर तो मै दिनमें भी नहीं जा सकता था। बड़े होनेपर मैंने धीरे-धीरे अपनेको सबल किया और उसीका फल है कि जिन परिस्थितियोंमें बहुत-से लोग प्राण छोड़ देते है, आज मैं उनमे हँस सकता हूँ – हँसता रहा हूँ।

धीरता प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय ईश्वर-विश्वास है। जो भगवान् करेंगे ठीक है, मेरा काम केवल काम करना है, इस तरहका चिन्तन मनुष्यको धैर्य देता है और धीरे-धीरे धैर्य आदत हो जाती है। जब जीवनमें अधीरताकी कोई घटना हो, तो बादमें उसपर एकान्तमें बैठकर कुछ देर पछताइए – बात ही क्या थी कि मैं घबरा गया, भविष्यमें ऐसे अवसरपर मैं शान्त रहूँगा, इस तरहके विचारोंसे चरित्र बनता है। दण्डस्वरूप एक समय या एक दिनका भोजन छोड़ दीजिए, तो जल्दी सफलता मिलेगी, आ-पड़े संकटोंको सुगम भी करेगी।

घबराये मनुष्य! तेरे भीतर ईश्वरकी विभूति है, खुदाका नूर है। मनको शान्त कर, हाथोंकी मुट्ठियाँ बाँध, अपने रास्तेपर पैर बढ़ा। रास्तेकी रुकावटें, कायरोंके लिए ही रुकावटें हैं। धीर पुरुषके लिए वे रास्तेकी

सीढ़ियाँ बन जाती हैं। विपत्तियोंको दूर या पाससे देखकर हाथ-पैर न फुला। अपने मनको पकड़े रह। भगवान् बुद्धकी आत्म-साधना हमारे पास भले ही न हो, गुड़वाले दूकानदार, मेरे चाचा थानेदार और बिस्मिलकी स्थिरता तो हम सब मनुष्योंकी अपनी ही चीज़ है। हम बिना टिकिट सफ़र नहीं कर रहे हैं। टिकिट हमारे पास है, इस जेबमें नहीं, तो उस जेबमें, यहाँ नहीं मिलता, तो स्टेशनपर हम उसे पा ही लेंगे। यह जो अचानक चलती रेलमें टिकिट-चैकर आ खड़ा हुआ है, इससे हम क्यों झेंपें, क्यों घबरायें ?

मैं यह हूँ, मैं वह हूँ !

हिन्दीके एक प्रख्यात कहानी-लेखकसे उनके एक साथीने एक बार पूछा कि आपकी अपनी अमुक कहानीके सम्बन्धमें क्या राय है ?

कहानी-लेखक महाशय बोले : "मेरा काम कहानी लिखना है, सो मैंने कर दिया। अब उसपर सम्मति देना कि वह कैसी रही, यह आपका काम है। भला अपना काम आप मुझसे क्यों कराना चाहते हैं ?"

इस प्रश्न और उसके उत्तरसे स्पष्ट है कि लेखकके लिए पूरा अवसर था कि वह अपनी प्रशंसा स्वयं कर सके, पर उसने उसका वैसा उपयोग नहीं किया। हम कह सकते हैं कि यह उसकी शालीनता थी और यों वह हमसे प्रशंसा पा गया।

एक दूसरे लेखक हैं। उनकी पुस्तक पढकर एक दूसरे साथीने उनसे कहा : "आपकी यह पुस्तक बहुत अच्छी रही।" लेखक महोदय हाथ जोड़कर खिमियाते-से बोले : "अजी, पुस्तक तो आपकी है। हम तो यों ही कागज काला करते हैं।"

इस प्रश्न और उसके उत्तरसे यह स्पष्ट है कि लेखक अपनी पुस्तककी उस प्रशंसाको काफ़ी नहीं समझता और अपनी सामाजिक चतुरतासे वह अपने साथीको मजबूर कर रहा है कि वह उस पुस्तककी और अधिक प्रशंसा करे।

एक तीसरे लेखक हैं। अभी हालमें उनकी एक पुस्तक छपी है। उस दिन रास्तेमें मिल गये ओर मिलते ही बोले : "भाई साहब, हमारी पुस्तक आपने पढ़ी ?"

मैंने कहा : "हाँ देखी तो थी; खूब लिखते है आप !", बोले : "आजकल धूम है हिन्दीमें उस पुस्तककी !" मुझे काम जाना था, इसलिए मैंने

उन्हें धकेलते हुए-से कहा : "अरे साहब, आपकी धूम न होगी, तो किसकी होगी।" मेरा ख़याल था कि अब वे मुझे जाने देंगे, पर उन्होंने ज़ोरसे ठहाका मारकर हाथ मिलानेके ढंगपर मेरा हाथ थाम लिया और हाथ पकड़े-ही-पकड़े बोले : "भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत क, श्रीयुत ट और श्रीयुत श की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली पुस्तकमें ही पछाड़ दिया है; यह सब आपकी कृपा है।"

अब बताइए; मैं क्या कहूँ ? क्या यह कहकर अपनी प्रतिष्ठा कम करूँ कि नहीं जी, मेरी कृपामें यह ताक़त कहाँ कि आपको सर्व-श्री क, ट, श को पछाड़नेकी शक्ति दे सके या यह कहकर अपने ही हाथों अपनेको बेवकूफ़ बनाऊँ कि हाँ जी, यही बात है, सचमुच आपने अपनी पहली ही पुस्तकमें उन तीनों अँगरेजोंको चारों खाने चित्त दे मारा है ? आख़िर, क्या कहूँ मैं उनसे ?

"चुप रहूँ।" यह आपकी राय है, पर मालूम होता है कि आप रायके ही बहादुर हैं, तभी तो आपकी यह राय है। यह राय देते समय आपने इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि मेरा हाथ उनके हाथमें इस तरह दबा हुआ है; जैसे कन्यादानके समय दुलहिनका हाथ दुलहेके हाथमें होता है कि दुलहिन चाहे, तब भी उसे खींच नहीं सकती ! फिर वहाँ, तो सामाजिक मर्यादाका ही बन्धन होता है और यहाँ ताक़तका सवाल है। आप देख नहीं रहे हैं कि लेखक महोदयने मेरा हाथ इस तरह कसकर चुस्त-चौकस थाम रखा है कि जैसे कोई समझदार डॉक्टर मेरे हाथकी टूटी हुई हड्डीका अन्दाज़ा ले रहा हो। तो मतलब यह है कि मैं कन्नी नहीं काट सकता और मौन धारण करके पीछा छुड़ानेका भी अवसर मुझे मिल जाये, यह सम्भव नहीं। यह देखिए, मेरे मित्र मेरा हाथ दबाकर मुझपर उत्तरका तक़ाज़ा कर रहे हैं। बात यह है कि मेरे मित्र समझदार हैं और ख़ूब जानते हैं कि नीबू हो या सन्तरा, रस दबावसे ही निकलता है।

तो मुझे उनकी बातपर कुछ कहना ही पड़ेगा और उनकी बात है यह

कि – "भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत क, श्रीयुत ट और श्रीयुत शकी कई-कई पुस्तकें निकल चुकी है, पर हमने उन्हे पहली ही पुस्तकमें पछाड़ दिया है। यह सब आपकी कृपा है!"

सत्यको रक्षाका आश्वासन और असत्यको थपथपी देते हुए मैंने कहा : "जी, बहुत-से खिलाड़ी ऐसे भी होते हैं, जो फ़ील्डमें उतरते ही दर्शकोंका मन मोह लेते हैं।"

लेखक महोदयके चेहरेपर मुसकानकी लहर खेल गयी और तब उत्साह क्या, उल्लासमें भरकर उन्होंने पूरे जोरसे मेरा हाथ झकझोर दिया। मैंने इसे इस चौराहा-चौकड़ीका बिदाईपत्र समझा और अपनी तरफ़से भी इसमे अच्छा खासा हिस्सा लिया, पर मेरा यह सोचना मेरी भूल थी; क्योंकि मेरा हाथ अब भी उनके हाथमे, सच मानिए, उसी तरह दबा था, जैसे जिल्दसाज़के शिकंजेमें किताब कसी रहती है!

कसे-ही-कसे बोले : "भाई साहब, आपको मालूम है कि विख्यात समालोचक डॉ० शिवकुमार शर्माने हमारी पुस्तकपर क्या सम्मति दी है?"

"जी, नहीं, मुझे मालूम नहीं" मैंने यह कहा, तो आश्चर्यसे वे बोले : "वाह वाह, उस सम्मतिकी तो आज-कल साथियोंमे धूम है और आपको उसका पता भी नहीं?"

मौन रहकर मुझे मानना पड़ा कि मुझसे साहित्य-देवताके मन्दिरमे यह भयंकर भूल हो गयी है कि अभीतक मुझे इनकी पुस्तकके सम्बन्धमे लिखी डॉ० शर्माकी उस सम्मतिका ज्ञान ही नहीं हुआ, जो किसी पत्रमें नहीं छपी, शायद एक पत्रमें इनके पास आयी, जिसे इन्होंने किसीको नहीं दिखाया – हाँ, इन्हींके शब्दोंमें जिसकी आज-कल साथियोंमें धूम है!

मेरे मौनको, प्रसन्नताकी बात है कि उन्होंने काफ़ी गम्भीर प्रायश्चित्त मान लिया और बोले : "भाई साहब, डॉ० शर्माने कहा है कि इस पुस्तकमें जो निबन्ध संकलित किये गये हैं, उन्होंने हिन्दीमें एक नयी शैलीको जन्म दिया है, जो शताब्दियों तक भावी लेखकोंको राह दिखायेगी!"

अब मैंने धारको काटनेमें मूर्खता और उसके साथ तैरनेमें अक़्लमन्दी मान ली थी। तैराकीका आनन्द लेते हुए मैंने कहा : "वाह, तब तो यह निश्चय है कि ईसाकी तीसवीं शताब्दीमें निबन्धोंके जो क्लासिकल संकलन छपेंगे, उनमें आपके निबन्धोंको भी ऊँचा स्थान मिलेगा।"

लेखक महोदय फूलकर कुप्पा हो गये और फूँटकी तरह खिलकर बोले : "यह सब आपका आशीर्वाद है भाई साहब ! अच्छा, आपको इस बारेमें एक और बात बताऊँ ?"

मुझे तो अब जमकर तैरना था, इसलिए कहा : "हाँ, हाँ, ज़रूर बताइए, यह तो हमारी राष्ट्रभाषाके लिए बहुत ही गौरवकी बात है।"

मैंने देखा कि उनके चेहरेपर एक नयी चमक ही नहीं आयी, स्वर भी भुरभुरा हो गया; जैसा कि अकसर आपने मोन दिये शकरपारेमें अनुभव किया होगा।

बोले : "इसे आप अहंकारी बात न समझें, मेरा यह विश्वास है कि मेरे इन निबन्धोंने कहीं-कहीं तो विश्वविख्यात अमेरिकन निबन्ध-लेखक इमर्सनके निबन्धोंको फीका कर दिया है।"

ज़रा रुककर बोले : "आप देख लीजिएगा कि आज नहीं तो कल, यह बात आलोचकोंको झक मारकर स्वीकार करनी पड़ेगी और मेरे निबन्धोंका अनुवाद शीघ्र ही संसारकी सब भाषाओंमें हो जायेगा।"

यह सब सुना तो मैं तैरना भूलकर अवाक् रह गया। अवाक्; जैसे पत्थरकी मूर्ति। मेरे दिलकी धड़कन ही धीमी नहीं पड़ी, आँखें भी खुली ही रह गयीं। मैं क्या सोच रहा था ? सच यह कि कुछ भी सोचनेके लायक़ मैं नहीं था। एक मानसिक सन्नाटा मुझपर छा गया था !

हर आदमी दुनियाको अपनी ही आँखसे देखता है और हर आँखके देखनेका अपना ढंग है। लेखक महाशयने मेरे मानसिक सन्नाटेको वैसी मुग्धता समझी, जैसी कि अमरनाथके निकट पहुँचकर एक भावुकके मनपर

छा जाती है और तब स्वयं भी मुग्ध होकर वे बोले : "भाई साहब, आपको मालूम है कि यह पुस्तक मैंने कितने दिनोंमें लिखी है ?"

मैंने सिर हिलाया, तो बोले : "कुल साढ़े पाँच महीनेमें ! लीजिए, पूरा हिसाब ही जो आपको दिये देता हूँ। १९ मार्चको पहला निबन्ध लिखा था और २४ जूनको पुस्तक प्रेसमें दी। यों समझिए कि आधे ही निबन्ध तबतक तैयार थे। इधर वे छपते रहे, उधर मैं आगेके लिखता रहा और इस तरह पुस्तक १४ सितम्बरको तैयार होकर बाजारमें आ गयी !"

मैंने कहा : "भाई, आपने तो पाँच महीनेमें वो काम कर दिया कि दिल्लीसे न्यूयार्क तक छा गये। सचमुच आप राष्ट्रभारतीके वीर पुत्र हैं !"

यह मेरी कराह थी, पर आपसे कहा नहीं अभी मैंने कि हर आदमी दुनियाको अपनी ही आँखोंसे देखता है और हर आँखके देखनेका अपना ढंग है। मेरी कराहमें उन्हें संवर्धनाके स्वर सुनाई दिये और हाथ छोड़कर उन्होंने मेरे पैर छू लिये। यह शायद इतनी देर मन लगाकर बात सुननेका पारिश्रमिक था।

जब लेखकोंकी बात चल निकली है, तो एक और सुन लीजिए। हमारे देशमें ईसाकी बीसवीं शताब्दीके आरम्भिक भागमें एक ऐसे लेखक हो गये हैं, जिन्हें हमारे साहित्यका ही नहीं, हमारे राष्ट्रका इतिहास सदा आदरके साथ याद करेगा।

उन्होंने अपने उभरते दिनोंमें एक मासिक पत्रिकाके विशेषांकका सम्पादन किया। विशेषांकमें लेख थे, कविताएँ थीं, गद्यगीत थे, आलोचनाएँ थीं, परिचय थे, टिप्पणियाँ थीं, यात्रावृत्तान्त थे, अनुसन्धानोंकी भूमिकाएँ थीं – संक्षेपमें, सर्वांगपूर्ण विशेषांक था यह। आलोचकोंने लिखा कि हरेक लेख अधिकारी लेखकसे ही लिखाकर सम्पादक महाशयने इस विशेषांकको एक गुलदस्ता बना दिया है।

बादमें धीरेसे बातकी पुड़िया खोल दी गयी कि ये सब रचनाएँ उन विशेषाक-सम्पादक-द्वारा ही रची गयी थीं। बस फिर क्या था, पत्रोंमें इस समाचारकी ही डौंडी नहीं पिटी, इस समाचारपर नफीरी भी बजायी गयी और अनेक कार्यालयोंसे एक साथ उन महाशयकी चहुँमुखी प्रतिभाका जयघोष हुआ।

ये चार नमूने आपके पास हैं। इनमें विभिन्नता है, ये चारों अलग-अलग मानसिक मानदण्डोंके प्रतिनिधि हैं, पर इनमें एक बात समान है कि सभी अपनी प्रशंसा चाहते हैं। इस समानताको देखकर क्या हम जीवन-शास्त्रका यह सामान्य-सूत्र रच सकते हैं कि आत्मप्रशंसा मनुष्यकी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है ?

निश्चय ही हम इस सूत्रकी रचना कर सकते हैं, पर इसे रचकर हमें कहीं उलझना न पड़े, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि सूत्रकी रचना करते ही एक तीखे प्रश्नका हमें सामना करना पड़ेगा। वह प्रश्न यह है : जब अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होनेकी वृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक है, तो चौराहेपर मिले लेखक महाशयकी बातें सुनकर हमारे मनमें वितृष्णा क्यों पैदा हुई ? वे बेचारे अपनी प्रशंसा ही तो कर रहे थे !

प्रश्न सचमुच तीखा है और अपने लिए जगह चाहता है। यह जगह देनी पड़ेगी और यह हम इस तरह करेंगे कि कहें – अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होनेकी वृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक है, पर इस वृत्तिके वशमें होकर यहाँतक बढ़ जाना कि हम अपनी प्रशंसा आप स्वयं करने लगें, जीवनकी, हमारे चरित्रकी एक हीनता है। इसे हम यों समझें कि भोजन मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्ति है, पर बासी होकर और सड़कर यही भोजन विष हो जाता है।

संसारके महान् जीवनशास्त्री भगवान् कृष्णने तो इस हीनताको आत्म-हत्या ही कहा है। यह कहना भी एक कहानी है। लीजिए यह कहानी भी सुन लीजिए।

महाबली अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे धनुष गाण्डीवकी निन्दा

करेगा, मैं उसकी हत्या करके ही जल पीऊँगा। घरमें सब लोगोंको यह मालूम था, पर शोकका आवेग प्रबल होता है, युधिष्ठिर ही उस दिन कह बैठे कि धिक्कार है अर्जुन, तेरे गाण्डीवको, जो वह अभिमन्युकी रक्षा न कर सका।

अर्जुनने कहा : "यह तो जो कुछ है, सो ठीक है, पर अब आप जीवित नहीं रह सकते और मैं आपको हत्या करके ही जल पीऊँगा।"

अर्जुनकी बात सुनी, तो सब सन्न, क्योंकि सभी उसकी गम्भीरतासे परिचित थे। मामला बिगड़ता देखकर कृष्ण बीचमें आ बैठे और बोले : "ठीक है तुम्हारी प्रतिज्ञाकी पूर्ति होनी चाहिए; क्योंकि जिसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण रहे, वह कैसा क्षत्रिय ? आइए धर्मराज, यहाँ सामने बैठिए और अर्जुनको अपना काम करने दीजिए !"

धर्मराज सामने आ बैठे। अब मामला और भी संगीन दिखाई दिया, पर तभी चतुर-शिरोमणि कृष्णने कहा : "अर्जुन, तुम्हारी प्रतिज्ञा हत्या करनेकी है सिर काटनेकी नहीं और शास्त्रोंमें किसीकी उसके सामने कड़वे शब्दोंमे भर्त्सना करना भी हत्या है। तुम इसी रूपमें धर्मराजकी हत्या कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो !"

प्रतिज्ञा पूरी हुई, लोगोंका बोझ उतरा, पर तभी भीमने एक नयी फुलझड़ी छोड़ दी। उसने कहा : "हम सब भाइयोंकी यह प्रतिज्ञा है कि यदि किसी एककी मृत्यु हो गयी, तो बाक़ी भी आत्महत्या कर लेंगे। अब क्योंकि धर्मराजकी मृत्यु हो गयी है, इसलिए हम सबको भी चितारोहण करना चाहिए।" वातावरण फिर ज्योंका त्यों गम्भीर हो गया। कृष्णने सोचकर कहा : "परिणाम कुछ भी हो, प्रतिज्ञाकी पूर्ति तो होनी ही चाहिए, पर आपकी प्रतिज्ञा जीवनका अन्त करनेकी नहीं, आत्मघात करनेकी है। शास्त्रोंमे अपनी प्रशंसा आप करनेको आत्मघात ही माना है। आप लोग भी अपने गुणोंका स्वयं बखान करके यह प्रतिज्ञा-पूर्ति करें।" सबने अपनी-अपनी डींग हाँकी और उठ खड़े हुए।

हाँ, यह एक कहानी है, पर क्या जीवनका एक महान् सत्य नहीं है ? जो सुन्दर है, जो स्वस्थ है, जो गुणी है, उसे अपने सौन्दर्यका, अपने स्वास्थ्यका, अपने गुणोंका ज्ञान रहे और वह इस ज्ञानसे अपने भीतर एक प्रसन्नता, एक आनन्द अनुभव करे, यह मनुष्यकी स्वस्थ दशा है। वह यह चाहे कि मैं अपने सौन्दर्य, अपने स्वास्थ्य और अपने गुणोंको दूसरोंके मस्तिष्कमे ठूँसूँ और उन्हें विवश करूँ कि वे उनका महत्त्व स्वीकार ही न करें, उसकी घोषणा भी करें, यह मनुष्यकी अस्वस्थ दशा है। अपनी प्रशंसा आप करनेकी वृत्ति इस अस्वस्थाको वैसे ही बाहर प्रकट करती है; जैसे देहके भीतरकी गन्दगीको फोड़े।

"तो क्या यह एक मानसिक रोग है ?" प्रश्न ठीक है और उत्तर है : हाँ, यह एक मानसिक रोग है। यह उत्तर निश्चय ही एक नये प्रश्नको जन्म देगा। नया प्रश्न यह होगा कि रोगके निवारणका उपाय करना रोगी-का भी कर्तव्य है और समाजका भी, तो इस रोगके निवारणका उपाय क्या है ?

उपाय है और वह बहुत कठिन भी नहीं है। जिन्हें यह रोग है, वे उसे, उसकी हीनताको अनुभव करे और बार-बार सोचें कि वे इस हीनताका शिकार होकर, समाजकी आँखोंमें न गिरेंगे। बार-बारके इस चिन्तनसे उनका रोग निश्चय ही घटेगा, पर उनके साथ ही समाजको भी अपने हिस्सेका काम करना पड़ेगा। वह यह कि जिनकी जितनी प्रशंसा होनी उचित है, उतनी प्रशंसा करनेमें वह कृपण न हो और जो प्रशंसाके पात्र नहीं हैं, किसी भी कारणसे उनकी प्रशंसा न करे।

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि जब हम उचित प्रशंसा नहीं पाते और इससे भी बढ़कर उन्हे प्रशंसा पाते देखते हैं, जो हमारी अपेक्षा गुणहीन हैं, तो हममें अपनी प्रशंसा आप करनेकी हीनता उत्पन्न हो जाती है।

मैं, तुम, वे; सब अधूरे !

"चश्मा लिये बिना आपका सिर-दर्द ठीक हो ही नहीं सकता !" एक अनुभवी मित्रने कहा, तो मैं मजबूर हो गया कि आँखोके डॉक्टरको आँख दिखाऊँ !

जीवनके आरम्भिक वर्षोंमे पाधाजीने जो वर्णमाला पढ़ायी थी, उसकी फिरसे तीव्र परीक्षा करके डॉक्टरने कहा : "योर लाँग साइट इज़ आल राइट ।" तुम्हारी दूरसे देखनेकी शक्ति तो ठीक है ।

ताज़ी परीक्षाकी जो थकान मुझपर छा-सी रही थी, उसे उतारते हुए मैंने कहा : डॉक्टर, संसारमे लाँग साइट तो सभीकी ठीक है, निर्बल तो शार्ट साइट – पाससे देखनेकी शक्ति – ही है ।

डॉक्टर खो गया है, यह मैंने उसकी मुद्रासे जाना । ठीक भी है, वह आये दिन ऐसे रोगी देखता है, जिनकी दूरसे देखनेकी शक्ति निर्बल है और मैं कह रहा हूँ कि डॉक्टर, लाँग साइट तो संसारमें सभीकी ठीक है ।

राह टटोलते-से उसने कहा : "जी"

मैंने उसके चारों ओर जैसे एक जाला और पूर दिया : जी, क्या डॉक्टर, ठीक बात है, संसारमें दूर देखनेकी शक्ति तो सभीकी ठीक है, निर्बलताने तो पास देखनेकी शक्तिको ही घेर रखा है ! और तभी मैंने यह सारा जाला समेट-सा लिया : डॉक्टर, तुम्हारी स्त्रीको सारे गुण मुझमे और सारे दुर्गुण तुममें दिखाई देते हैं, पर मेरी स्त्रीको सारे गुण तुममें और सारे दुर्गुण मुझमें दिखाई देते हैं, यह इसके अतिरिक्त और क्या है कि लाँग साइट इज़ आल राइट !

डॉक्टर सुलझ गया : "यस-यस पण्डितजी", और सुलझ गया कि ज़ोरसे हँस पड़ा । तब सुनायी मैंने उसे एक अपनी कहानी । साहित्यिक

क्षेत्रमें प्रवेश करते-करते ही मैं बनाया गया एक विशेषांकका सम्पादक। यह सूचना पत्रोंमे छपी और वे पत्र मेरी जन्मभूमिके पुस्तकालयमे भी आये।

समयकी बात; मै पुस्तकालयमे बैठा भीतर एक पुस्तक देख रहा और बाहर बरामदेमे कुछ लोग पढ रहे पत्र। उस समाचारपर दो-तीनका ध्यान गया और आश्चर्य कुहरा-सा उनपर बरसा, तो बात चल निकली। यह सुनकर दूर बैठे एक सज्जनने पूछा : कौन प्रभाकर ? उन मित्रोंने बताया : समझाया, तो वे बोले : "अच्छा, वो रामा मिस्सरका लौण्डा !" मैंने सुना और मान लिया कि मैं उनके पास हूँ, तो सम्पादक, लेखक या और कुछ विशिष्ट भला कैसे हो सकता हूँ ? मै हूँ सिर्फ़ 'रामा मिस्सरका लौण्डा !' और बस यही !

डॉक्टर साहब हँसे और तब सुनायी उन्होंने अपनी भी कहानी : "मैने डॉक्टरी पास की, तो अपने ही कस्बेमें काम आरम्भ किया। मै जब देहातसे आये किसी बीमारको देख रहा होता, पास-पड़ौसकी कोई बुढ़िया अपने पोतेको लिये आती और ज़ोर-जोरसे मुझे कहती : "अरे रामधन, ले इसकी आँखमे ज़रा-सी दवा डाल दीजो" यह सुनना भी एक साधारण बात थी : "अब तो भाई, बड़ा आदमी हो गया है तू !" ऊबकर दवाखाना यहाँ उठा लाया और अब मजेमे हूँ।

डॉक्टर साहब हँसे, तो मैने भी उनकी हँसीमे अपनी हँसी मिला दी : तो अब तो आप मान गये कि संसारमे दूरसे देखनेकी शक्ति अधिकतर लोगोंकी सही है ?

जगजीवनकी स्त्री एम० ए० पास है, संगीतमें तानसेन और नृत्यमें उदयशंकरके पास बैठती है। स्वतन्त्रता-दिवसको क्लब-गोष्ठीमें उसने अपनी कलाका जो प्रदर्शन किया, उसकी धूम मच गयी !

वासुदेवकी स्त्री साधारण पढ़ी-लिखी है, नम्र है, सेवाशील है, रात-दिन अपने पति और परिवारकी सेवामे लीन रहती है।

रातमें प्रायः जगजीवन कहता है : "गाना-नाचना तो मनुष्य सिनेमामे जाकर भी देख-सुन सकता है, अपनी पत्नीसे वह कुछ और ही आशा करता है। वासुदेवकी पत्नी साक्षात् देवी है, दिन-भर काम करती है और क्या मज़ाल कि बिना पैर दबाये वासुदेवको रातमें सोने दे !"

प्रायः ठीक इसी समय वासुदेव कहता है : "खाना-बरतन, झाड़ू-बुहारू, पैर दबाना और कपड़े धोना; यह सब तो दस रुपयेका नौकर भी कर लेता है, मनुष्य अपनी स्त्रीसे कुछ और ही आशा करता है। देवीजी, जगजीवनकी स्त्री है, क्लब जाती है, अफ़सरोंसे मिलती है और अपने पतिके दस काम बनाकर लाती है। अगर वह बैठी पैर ही दबाती रहे, तो क्या फ़ायदा ?"

यहीं एक प्रश्न : यदि जगजीवन और वासुदेव परस्पर अपनी पत्नियाँ बदल लें; तो क्या सन्तुष्ट हो सकते हैं ? ऊपरसे कहनेको जी चाहता है – हाँ, पर अनुभव इसका समर्थन नहीं करता। कुछ सप्ताहोंमें ही जगजीवन-का मन गूँजती स्वर-लहरी और थिरकते घुँघरुओंके लिए और वासुदेवका मन पिंडलियोंकी हड़कलका विष चूसनेको उचकती उंगलियोंके लिए विह्वल हो उठेगा !

फिर ? यह एक प्रश्न है, जो मनमे यहाँ उमड़ता है। प्रश्न छोटा-सा है, पर इसके भीतर जिज्ञासाके पुराण बिखरे हैं। फिर कुछ नहीं, बात यह है कि मनुष्य क्या चाहता है ? यह चाहता है ? वह चाहता है ? ना, सत्य यह है कि वह सब चाहता है, न यह, न वह। चाहता है वह यह भी और वह भी और कमाल यह है कि एक ही स्थानमें, एक ही पात्रमे, पर जीवन-का सत्य चिर अतीतमें संस्कृतके कविने पा लिया था, जो इस प्रकार है :

"प्रायेण सामग्रविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।"

– ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है – वे कहीं कुछ रचते हैं, तो कहीं कुछ और !

इकराम और हरिसिंह, दो पुराने साथी । इकराम ऐसा कि दुश्मनोंके भी काम करता चले और यही नहीं कि दूसरोंके काम आना उसका स्वभाव, यही उसका चाव भी । अपना समय और शक्ति लगाकर दूसरोंके काम करे और उसमें रस भी ले । हरिसिंह उस दिन मिला, तो नाराज़, इकरामके बारेमें उसे शिकायत कि एक बात कही थी, उसने नहीं मानी ! बात न मानना इकरामके स्वभावके ही विरुद्ध, फिर यह क्या बात ? जाँच की, तो जाना कि इसी वर्षमें इकरामने हरिसिंहके दस काम सँवारे हैं । ग्यारहवें कामके समय वह बीमार हो गया और काम न कर पाया । अब हरिसिंह उन दस कामोंकी कहीं चर्चा नहीं करता, पर उस एक कामके नारे सब जगह लगाता है । उसके मनमें उन दस कामोंका आभार तो कहीं नहीं है, इस एक कामका उपालम्भ जरूर भरा है – उस बच्चेकी तरह जो दिन-भरकी सेवाको सायंकालका पैसा न मिलनेपर भूल जाता है और रूठा फिरता है ।

एक सार्वजनिक मित्र हैं श्री तेलूराम । वे तब थे डिस्ट्रिक्ट बोर्डके प्रधान । उन्होंने मित्रोंका एक मर्मस्पर्शी, पर मनोरंजक अनुभव सुनाया । बोले : "हरेक कहता है कि मैं इस पदपर रहते संस्थाकी प्रतिष्ठाका ध्यान रखूँ और हरेक चाहता है कि इस पदपर रहते, उसकी अनुचित माँगको तुरन्त पूरा कराऊँ !" कोई भला आदमी समुद्रके इन दो किनारोंको एक साथ भला कैसे मिलाये ?

डॉक्टर कहता है, वकालतमें बड़ा आनन्द है, वकील कहता है आनन्द तो बस डॉक्टरीमें है । एडीटरको आडीटर और आडीटरको एडीटर सुखमें दिखाई देता है । बात यह है कि जो हमें प्राप्त है, हम उसे नहीं देख पाते, जो दूर है, वह हमारी उत्सुकताका केन्द्र है – उसके छिद्र हमें दिखाई नहीं देते !

जीवनका सच्चा पथ यह नहीं है कि जो हमें प्राप्त नहीं, उसके लिए हम रोते रहें । जीवनका सच्चा पथ यह है कि यत्न या योगसे जो हमने

पा लिया उसे पहचानें, उसे अपने अनुकूल बनायें, उसमें रस लें और सन्तोषका सुख पायें।

सब कुछ अधूरा हमें मिला, सब कुछ पूरा दूसरोंको; यह मृगतृष्णा है, जीवनका दिग्भ्रम है। जीवनका सबसे बड़ा सत्य है : अपूर्णता। मैं, तुम, वे, सब अपूर्ण, अपनेमें सब अधूरे; इस अपूर्णताका समन्वय, इस अधूरेपनका सदुपयोग ही जीवनकी सबसे बड़ी कला है।

अब दूध नहीं मिल सकता !

कौशलजी, मैं और विद्याजी दिल्लीका लम्बा चक्कर काटते, दीवान हॉलकी चौथी मंज़िलमें अपने प्रवास-स्थानपर पहुँचे, तो थककर इतने चूर और निंदियाये कि जीने कहा : हम यहाँतक आ कैसे गये ?

हाथ-पैर धो, ज़रा ताज़े हुए, तो भीतर कोई बोल-सा उठा : आज तो हम दूध पीते !

भीतर ही किसीने पूछा : पीते तो, पर लाये कौन ?

तो फ़ैसला हुआ कि अब दूध नहीं मिल सकता ! ठीक है, नहीं मिल सकता, क्योंकि दूध पीनेवाले मुँह और दूध देनेवाले हाथके बीच, जो ये यमयात्रा-सी सीढ़ियाँ हैं, इन्हें उतरनेका उत्साह किसीमें नहीं और फिर उतरनेका उत्साह भी ज्यों-त्यों उभरे, पर उतरकर फिर चढ़ना जो है। पतन आसान है, उत्थान कठिन, तो फ़ैसला हुआ कि अब दूध नहीं मिल सकता !

फ़ैसला तो ठीक है, पर फ़ैसलेको मन आज मान नहीं रहा। मैं खुद आश्चर्यमें हूँ कि यह आज मुझे हो क्या गया है। मुझमें प्यास न हो ऐसा नहीं, पर कभी किसी प्राप्तिके लिए वह इतनी प्रबल नहीं होती कि मुझ-पर छा जाये। निराकुल मन मेरे जीवनमें निर्माताका एक वरदान है। मैं अपनेसे कह रहा हूँ : आज यह वरदान अपनी अमोघता क्यों खो रहा है ? और फिर फिसला भी तो एक कुल्हड़पर ? मैं सोच रहा हूँ, सब समझ भी रहा हूँ, पर प्यास जो एक बार उभर आयी है, तो उभर आयी है !

कौशलजीका थकान सिनेमासे उतरता है। इसमें क्यों-कैसेकी गुंजाइश नहीं। अपनी-अपनी मूड है यह तो !

वे झटकेके साथ पलंगसे उठे कि हमने भाँपा – बस जम गया इनका तो सैकेण्ड शो ! मेरे लिए यह मुँह-माँगी मुराद – तै हुआ कि वे दूध देते जाये और कोई बीचमें ले ले। न हम पूरी सीढ़ियाँ उतरें, न वे पूरी चढ़ें।

मैंने अपनेसे कहा : हो क़िस्मतके धनी। चाहा, सो पाया। लो आ रहा है दूध !

जो चाहा, सो पाया – सचमुच ख़ुशीकी बात है, पर यह क्या कि कौशलजी क्या गये – मेरी प्यास ही लेते गये ! मैं अपनेको बाहर-भीतर तलाश रहा हूँ, पर मुझमें दूधकी वह प्यास कहाँ है कि मैं आकुल हूँ। वह कहीं नहीं है, पर अभी तो वह इतनी थी कि मैं उसपर आश्चर्य कर सकूँ !

दूध आ गया, गरम कुल्हड़ मेरे हाथमे है, मलाई आँखोंमे और उसकी सुहावनी सुगन्ध मस्तिष्कमें, पर भीतर उसकी माँग नहीं है, पूर्ण तृप्ति है। यों पिऊँ, तो पी ही लूँ, पर न पिऊँ, तो पाऊँ कि पी चुका। प्यास रस्सा तोड़ जागी और जागकर यों सो गयी, यह बात क्या है ?

भीतर-ही-भीतर बहुत पैड़ियाँ उतर गया,तो हाथ आया कि अब दूध नहीं मिल सकता, अभावकी इस भावनाने प्राप्तिकी कामनाको उग्र कर दिया था !

आज संसारके जीवनमें जो हाहाकार है, छीना-झपटी है, उसके आधार-तत्त्वका यह मेरे लिए साक्षात्कार ही न था, सन्तोषके पक्षमें यह एक नयी दलील भी थी !

जीवनका अनुभव है कि रोज़ दोपहरको भूख लगती है, पर व्रतके दिन प्रातःकाल ही उचाट लग जाती है – मनकी भूख ही तनकी भूखका रूप धारण कर लेती है। 'अन्नक्षये वर्धति जाठराग्निः' का, कण्ट्रोलकी चीज़ोंको अधिक माँग बढ़ जानेका रहस्य और कंजूस माता-पिताओंकी सन्तानके भूखे-पनका मर्म ठीक-ठीक आज जाना !

और जाना कि अपने प्रति दूसरोंका विश्वास पाकर और दूसरोंके प्रति अपना सब कुछ सुलभ होनेका विश्वास दिलाकर – यह गान्धीकी स्वेच्छासे हो, या मार्क्सकी वैधानिकतासे – हम मानवकी प्यासको बहुत कुछ नियन्त्रित कर सकते हैं !

१९; यानी एक कम बीस मिनिट !

देहरादूनसे सहारनपुर; कोई ख़ास लम्बा सफ़र नहीं – फिर आज-कलके आरामदेह सरकारी मोटर। उनमें बैठे कि मान लिया घर पहुँच गये, पर विघ्न तो जीवनके चिर साथी हैं।

उस दिन मोहण्डसे नीचे आये कि गाड़ी ठप्प। ड्राइवरने उतरकर देखा – एन्जिन शायद तेल ही नहीं ले रहा है। उसने अपने औज़ार निकाले और खट-पट करने लगा। क्लीनर भी उसके साथ। ड्राइवर जो अभी मोटरके ऊपर सवार था, अब मोटरके नीचे लेटा हुआ – कभी नाव गाड़ीपर, तो कभी गाड़ी नावपर।

मुसाफिर भी नीचे उतर आये। मैंने ड्राइवरके पास जाकर पूछा : "भैया, मेरी किसी मददकी ज़रूरत हो, तो हाज़िर हूँ !" उसने कहा : "नहीं बाबूजी, अभी ठीक हुई जाती है, आप फ़िक्र न करें।"

मैंने अटैचीसे एक पत्र निकाला और पास ही कटे-पड़े एक वृक्षके तनेपर बैठ पढ़ने लगा। शामके ठीक छह बजेकी यह बात है।

एक सरदारजी ड्राइवरको लक्ष्य करके बोले : "अबे, मुझे तो अम्बाले जाना है। मेरी गाड़ी निकल गयी तो क्या होगा ?"

एक दूसरे कोट-पतलून-धारी सज्जन बोले : "अजी साहब, गाड़ी निकलेगी तो आपकी; इसके बापका क्या बिगड़ेगा। यह तो गद्दा बिछाकर आरामसे गाड़ीके नीचे लेट गया है।"

एक तीसरे साहब आगे बढ़े : "भाई साहब, यह हमारी सरकारका इन्तज़ाम है। टैक्स लगानेको तो ये मिनिस्टर रात-दिन हबकाये फिरते हैं, पर इन्तज़ामकी इनमें ज़रा भी सैन्स नहीं।"

एक चौथे साहबने कमी पूरी की : "अजी, बेचारोंके बाप-दादे मर

गये मूंगफली बेचते और ये बन गये सरकार ! इन्तज़ामकी सैन्स इनमे कहाँसे आये ?"

एक मोटे सेठजी अभीतक मोटरमे ही बैठे थे। वहींसे बोले : "देख लीजिए, ये सोशलिस्ट कहते हैं कि सारी इण्डस्ट्रीपर हुकूमतका क़ब्ज़ा होना चाहिए। सरकारने इन मोटरोंको हाथमें लिया, तो उनकी यह हालत है कि पड़े हैं यहाँ जंगलमें – चाहे कोई चीता-भेड़िया निकलकर हमे खा ही ले !"

किसी कॉलेजके एक विद्यार्थी भी वहीं थे। तमककर बोले : "सेठ साहब, लाख स्यापे लीजिए, सारी इण्डस्ट्रीपर तो सरकारका क़ब्ज़ा होगा ही और इण्डस्ट्री क्या, आपकी कोठीके कमरे तक बटेंगे।"

सेठ साहब शायद कुछ कहने ही वाले थे कि एक सज्जन ड्राइवरके ज़रा पास पहुँचकर बोले : "अबे, इसके नीचे मीण्डक-सा घुसा क्या खुटर-पुटर कर रहा है, जब गाड़ी चली, तब क्या अपनी बहनका डोला बिदा कर रहा था ?"

उनके साथीने इस डोलेपर नयी वारनिश दी : "अजी बहनका डोला क्यों, सरकार आरामसे चाय पी रहे होंगे !"

तुरन्त किसीने दो ब्रश और मारे – "इन लोगोंके ख़िलाफ़ दस-पाँच हरजानेके दावे किये जायें, तो इनकी होश ठिकाने आये !"

"ये लोग असलमें हरामकी तनख़्वाह लेना चाहते है !" यह एक नया रेकॉर्ड चढ़ाया गया और तभी यह भी : "तनख़्वाह तो साहब है ही, पर ऊपरकी आमदनी भी कुछ कम नहीं है।"

गाड़ीके नीचेको झाँककर एक बाबूजी बोले : "क्यों सरकार, आपके यहाँ वर्कशाप नहीं है, जो आप यहाँ जंगलमें यह कलाबाज़ी दिखा रहे हैं ?"

उत्तर भी किसीने दिया : "है तो सब कुछ, पर इनको तो शराबसे ही फ़ुरसत नहीं मिलती !" और तुरन्त यह भी : "भाई, हरामकी कमाई-का तो यही हाल होता है।"

यह सरस प्रश्नोत्तरी चल ही रही थी कि ड्राइबर अपनी जगह आ गया और उसने हार्न बजाया। गाड़ी अब ठीक थी।

मैंने उठते-उठते घड़ी देखी – मरम्मतमें कुल १९ मिनिट लगे थे। सब साथियोंकी ओर देखकर मैंने कहा : "शान्त और एकाग्र रहनेपर ड्राइवर साहब जो काम ९ मिनिटमें कर लेते, आपकी दिलचस्प बातोंके कारण वह १९ मिनिटमें हुआ। १० मिनिटके इस मनोरंजनके लिए आपको धन्यवाद !"

ड्राइवर मेरी बातसे शान्त हुआ, पर बाक़ी साथियोंमें कुछ आँखें तिरछी हुई, कुछ नीची, कुछ होंठ फड़के, कुछ मुसकराये और बस मोटर चल दी !

मनमें विचार आया : इस सारी बकवादका उद्गम कहाँ है ? उत्तर मिला : इसका उद्गम है अस्थिरतामें अधीरतामें – हल्केसे संकटमें भी परेशान हो जानेमें, हाथ-पैर फुला लेनेमें।

और इस अस्थिरता-अधीरताका उद्गम कहाँ है ? इसका उद्गम है व्यक्तित्वकी हीनतामें। ये १९ मिनिट हमारे व्यक्तित्वकी सामूहिक हीनता-का एक रेकॉर्ड ही तो थे !

जी, क्या कहा, एँ ?

१९३१ के दिन थे, गान्धी-इरविन समझौता चल रहा था और गान्धीजी दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्समें शरीक होने विलायत गये हुए थे। वायसराय विलिंगडनकी सख़्त हुकूमत जारी थी और देशमें जगह-जगह समझौता टूटनेके आसार दिखाई दे रहे थे। जनतापर आशा-निराशाकी एक अजब-सी धूपछाँह छायी हुई थी।

मैं सहारनपुरसे देहली जा रहा था, इण्टर क्लासके डिब्बेमें काफ़ी जगह थी। मैं आरामसे पसरा एक नया मासिक पढ़ रहा था। उसमें एक हास्य रसकी कहानी थी। कहानी-लेखकका नाम तो अब याद नहीं, पर उसमें एक पात्रने कहा था कि "हिन्दुस्तानमें बेवक़ूफ़ लोग सबसे ज़्यादा इण्टर क्लासमें सफ़र करते हैं।" मैं भी इण्टर क्लासमें सफ़र कर रहा था; इसलिए मन-ही-मन कह रहा था कि यह लेखक एक दम गधा है। भला यह भी कोई बात कही इस जाहिलने !

मुज़फ़्फ़रनगरमें डिब्बा ज़रा-ज़रा भर गया और महफ़िल गरम हुई। काशीकी गलियोंकी तरह घूम-घामकर बात राजनीतिके चौराहेपर आ टिकी। एक साहबने तपाकसे फ़रमाया : "बस साहब, अब गान्धीजी हिन्दुस्तान नहीं लौट सकते। अँगरेज़ उन्हें वहीं क़ैद कर लेंगे और मुमकिन है सर सैम्युअल होर उन्हें गोली मार दे !"

एक दूसरे साहब बोले : "यह हरगिज़ नहीं हो सकता। लार्ड इरविन-ने अपनी ज़मानतपर उन्हें वहाँ बुलाया है !"

पहले साहब बोले : "अजी जनाब, ये इरविन और विलिंगडन, सब एक ही थैलेके चट्टे-बट्टे हैं। दरअसल यह समझौता अँगरेज़ोंकी एक जाल-साज़ी थी, जिसमें काँग्रेस उलझ गयी।"

दूसरे साहब बातचीतको बहकनेसे सँभालते हुए बोले : "खैर जाल-साज़ी हो या कुछ, अँगरेज़ गान्धीजीको नहीं रोक सकते !"

इस तरह अब ये दो मत थे और क़रीब-क़रीब सारा डिब्बा इन दो हिस्सोंमें बँट गया था। हरेक दल अपनी बातपर मजबूतीके साथ ठहरा हुआ था और अपनी बातको इस दावेके साथ कह रहा था कि जैसे अभी वह ह्वाइट हॉलसे टेलेफ़ोन करके लौटा हो !

खतौली पहुँचते-पहुँचते दोनों दलोंमें गरमी आ गयी और मामला गालियोंकी गलीको पार कर गुत्थमगुत्थाके चौराहेपर जा पहुँचा। तब मैंने खड़े होकर ज़ोरसे कहा : दोस्तो ! मैं आपके सामने अपना दायाँ कान पकड़ कर इस लेखकसे माफ़ी माँगता हूँ, जिसे अभी-अभी मैं अपने मनमें गधा कह रहा था और तब मैंने ऊँचे स्वरसे वह लाइन पढ़ी : 'हिन्दुस्तानमें सबसे ज़्यादा बेवक़ूफ़ लोग इण्टर क्लासमें सफ़र करते हैं।' कुछ लोग झेंप गये, कुछ हँस पड़े और कुछ झन्ना-से गये, पर खैर मामला निमट गया और मेरठ छावनी पहुँचकर तो बहुत ही लुत्फ़ आया, जब अखबारमें पढ़ा कि गान्धीजी इटली होकर हिन्दुस्तान लौट रहे हैं।

दोनों दलोंकी बात, एक मामूली अन्दाज़से ज़्यादा कुछ न थी, पर दोनों उसे वेदका वचन और क़ुरानकी आयत समझ रहे थे। फिर समझ रहे थे, तो कोई हर्ज नहीं, समझा भी रहे थे मेरे शेर। हमारे स्वभावकी यह कैसी हिमाक़त है !

एक दूसरे सफ़रका हाल सुनिए। वह इससे भी बढ़कर है।

उस दिन मैं लाहौरसे सहारनपुर लौट रहा था। रेलके डिब्बेमें पुरुष-ही-पुरुष थे; सिर्फ़ एक स्त्री थी। अपने साथी तरुणके साथ बातें करती जा रही थी। देखनेमें सुन्दर, बोलनेमें मधुर, उम्र कोई अठारह-उन्नीस। मैं अपने पढ़नेमें तल्लीन, पर अचानक देखता हूँ कि डिब्बेमें एक अहम मसला

पेश है और सब तरफ़ खुसबुस-खुसबुस । उसपर निहायत सरगरमीके साथ, पार्लामेण्टकी पार्टियाँ बहस फ़रमा रही हैं ।

बहस यह है कि यह नौजवान इस औरतका कौन है ? एक दलकी राय है कि यह इसका पति है, दूसरेकी राय है कि यह इसका साथी है और एक बूढ़ा तो शर्त लगानेको तैयार है कि यह इसके साथ घरसे भागकर जा रही है ।

एक बार तो मेरा दिमाग़ गुस्सेसे गरमा गया और मनमे आया कि पाँच-पाँच चप्पलोंसे नम्बरवार इन सबकी पूजा करूँ, पर मन जल्दी ही शान्त हो गया और मुझे एक मज़ाक़ सूझी । खड़े होकर मैंने उस बहनसे कहा : "इस डिब्बेके ये लोग आप दोनोंका रिश्ता जाननेको बेचैन है, आप मेहरबानी करके इनकी बेचैनी शान्त कीजिए; वरना ये बस अब इंजनके सामने लेटकर मरनेका प्रोग्राम पास ही करनेवाले है !"

उन दोनोंके रिश्तेसे इन मुसाफ़िरोंका कोई वास्ता न था, पर इस जानकारीके लिए हरेक जान दे रहा था और उन दोनोंके रिश्तेके बारेमें किसीको कोई जानकारी न थी, पर अपनी खुदरो जानकारीके लिए हरेक जानकी बाज़ी लगानेको तैयार था। हमारे स्वभावकी यह कैसी झक है !

उस दिन मेरे एक सम्बन्धी कहीं बाहरसे आ रहे थे । मैं उन्हें लेने स्टेशन गया, तो एक मित्र मिल गये । "कहिए कैसे आये ?" छूटते ही उन्होंने सवाल जड़ा । ये मित्र उस क्लास तक पास है, जो भारतके विश्वविद्यालयोंमें सबसे अन्तकी क्लास है और न्याय-विभागकी उस कुरसीपर बैठ चुके है, जो सबसे ऊँची है ।

उनका प्रश्न था : "कहिए कैसे आये ?"

उत्तर दिया : "एक सम्बन्धी आ रहे है !" मैने समझा कि यह बात पूरी हो गयी, पर हो कहाँ गयी पूरी ? पूछा : "कौन-से सम्बन्धी आ रहे हैं ?"

मैंने मनमें सोचा कि क्या इनके पास मेरे सब सम्बन्धियोंकी पूरी सूची है, जो इन्होंने यह प्रश्न पूछा । मतलब कुछ नहीं, वही गलेकी कसरत करनेकी आदत !

मैंने उन्हे एक गहरा दचका दिया : "जी, बालकराम पालीवाल आ रहे हैं ।"

मेरा ख़याल था कि इस उत्तरसे वे ठण्डे हो जायेंगे, पर उन्होंने तुरन्त एक नया अण्डा दे दिया : "अच्छा पालीवालजी आ रहे हैं बरेलीवाले ! हाँ-हाँ, मैं उन्हे जानता हूँ !"

मैंने उन्हे एक नयी झोंक दी : "जी हॉं, ऐसा कौन है, जिसे आप नहीं जानते !"

इस झोंकपर भी वे झेंपे नहीं, एक छौंक दे बैठे : "यह सब आपकी कृपा है !" मैंने अपने मनमे सोचा : यह हाल तो विद्वानोंकी मूर्खताका है, मूर्खोंकी मूर्खताका क्या हाल होगा ?

मुझे अपना कार्यालय उस मकानमें बदलना पड़ा, जहाँ पहले राशनिंग दफ़्तर था । स्वाभाविक है कि बहुत-से आदमी पहले दफ़्तरके कामसे यहाँ आयें । मैंने इस सम्बन्धमे जितने भी प्रश्न हो सकते हैं, सबका एक समाधान तैयार किया : "राशनिंग दफ़्तर यहाँसे कलक्टरी कचहरीके पास डानबास्को बिल्डिगमें चला गया है !"

इसके बाद भी प्रश्नोंकी फुलझड़ियाँ छूटती ही रहतीं । एक दिन मैंने हिसाब लगाया, तो यह औसत निकला कि आनेवालोंमें हर एकने कमसे कम तीन और ज़्यादासे ज़्यादा नौ सवाल पूछे ।

एक हाईस्कूलके अध्यापककी बातचीतकी यह चासनी ज्योंकी त्यों है :

"यह राशनिंग दफ़्तर है न ?"

"जी नहीं, राशनिंग दफ़्तर यहाँसे कलक्टरी कचहरीके पास डान-बास्को बिल्डिगमें चला गया है ।"

"मुझे मकानके लिए दरख़्वास्त देनी थी।"

"वहीं जाकर दीजिए !"

"टी० आर० ओ० साहब भी वहीं मिलते हैं ?"

"जी हाँ, उनका तो वह दफ़्तर ही है !"

"बाबूजी, इस कमरेमे एक वो दाढ़ीवाला-सा क्लर्क बैठा करता था !"

"दाढ़ीवाले और क्लीन-शेव सब वहीं चले गये हैं !"

"बाबूजी, हमे मकान मिल भी जायेगा ?"

"कोशिश कीजिए !"

"किससे कोशिश करें ?"

"दफ़्तरवालोंसे मिलिए !"

"बाबूजी, टी० आर० ओ० कैसा आदमी है ?"

"बहुत अच्छे आदमी है।"

"कहाँ मिलेंगे वे ?"

"वहीं दफ़्तरमें।"

"दफ़्तर कलक्टरी कचहरीके पास है ?"

"जी हाँ।"

मेरे पास अकसर इस तरहके लोग आते हैं, जिन्हें अपने किसी काममें मेरी सेवा-सहायताकी ज़रूरत होती है। वे आते हैं, इसमें मुझे एतराज़ नहीं, मुझे इसमें सुख मिलता है, पर अपनी बात कहनेसे पहले वे जो बेकारकी बातोंमें मेरा कामका समय ख़राब करते हैं, उसपर मुझे दुःख होता है और कभी-कभी रूखा हो जाना पड़ता है।

मैं तो हूँ ही किस खेतकी मूली, लोग बड़ों-बड़ोंको नहीं बख़्शते। श्रद्धेय मालवीयजी उस दिन दोपहरका भोजन करनेको उठ रहे थे कि एक सज्जन पधारे। उन्हें सुनाकर कह दिया गया कि भोजन परोसा जा चुका है, पर वे हैं कि मालवीयजीकी गुणगाथा गाये जा रहे हैं। मालवीयजी

अपनी सज्जनतासे तंग हैं। पूरे डेढ़ घण्टे बाद पता चला कि वे काशीसे गोरखपुर तकका किराया चाहते हैं। किराया लेकर वे टले और तब कहीं दो बजे मालवीयजीने भोजन किया।

जो बात हम जानते हैं, उसपर भी दूसरोंका समय बरबाद करते है :

"क्यों भाई, म्यूनिसिपैलिटीके इलैक्शनमें क्या हुआ ?"

"शेख़जी चेयरमैन चुने गये।"

"कितने वोटोंसे ?"

"दो वोटसे। बड़ी घमासान रही।"

"हाँ, मैं तो उस दिन वहीं था !"

अब कोई इस भले आदमीसे पूछे कि जब तू वहीं था और तुझे सब कुछ मालूम है, तो मेरी खोपड़ी क्यों चाट रहा है ?

एक आदमीने अपने किसी मित्रसे पूछा : "क्या तुम असली नीलकी पहचान जानते हो ?"

बड़े तपाकसे उन्होंने उत्तर दिया : "अच्छे और बुरे नीलको पहचानना मुश्किल नहीं। नीलका एक टुकड़ा लो और उसे पानीमें डाल दो। यदि नील अच्छा होगा, तो या तो तैरेगा या डूब जायेगा, मुझे ठीक तौरसे नहीं मालूम है, पर कोई हर्ज़ नहीं, तुम जाँच करके तो देखो।"

स्वेट मार्डनके शब्दोंमें क्या उम्दा सलाह है ! जो बात हम ख़ुद नहीं जानते, उसे दूसरोंको बताना कहाँकी अक़्लमन्दी है ?

एक लड़केने अपने बापसे कहा : "रात हमारी सड़कपर बहुत कुत्ते थे। सच कहता हूँ पिताजी, पाँच सौसे कम तो हरगिज नहीं।"

"इतने हरगिज़ नहीं हो सकते !"

"अच्छा, सौ तो ज़रूर होंगे ?"

"झूठ है, सौ कुत्ते तो हमारे गाँवमें है ही नहीं।"

"अच्छा तो दससे कम तो हरगिज़ नहीं हो सकते !"

"मैं तुहारी दसकी बातपर भी यक़ीन नहीं कर सकता, क्योंकि तुम पाँच सौकी बात भी इसी मजबूतीसे कह रहे थे।"

"पिताजी, सच कहता हूँ फिर मैंने अपने कुत्तेके साथ एक और कुत्ते-को तो ज़रूर ही देखा था !"

जवानों और बूढ़ोंमें भी हज़ारों है, जो इसी तरहकी बातें करते हैं !

कुछ मित्र हैं, जिन्हें कहीं जाते-आते सड़कपर देखते ही ख़ून जम जाता है और आँख बचाकर निकल जाना चाहता हूँ, पर उनकी आँखें हैं कि नहीं चूकतीं – ताड़ लेती है।

"अरे भाई, ऐसी भी क्या नाराज़ी है। अब तो तुम बहुत बड़े आदमी हो गये हो। हम ग़रीबोंसे भी एक-दो बात कर लिया करो !"

बस सड़कपर ही अखाड़ा तैयार – दस-बीस मिनिट मामूली बात है और बातें कुछ नहीं, इधर-उधरकी वही मामूली बातें !

एक और मित्र हैं। घण्टों बातें करनेके बाद वे पीछा छोड़ते हैं, पर दरवाज़ेके बाहर आते ही फिर रोक लेते हैं और एक पूरी मीटिंग कर डालते हैं। यह भी एक सनक है और क्या ?

फ़ालतू बातें हमारे राष्ट्रीय चरित्रकी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी है। इसे दूर करनेके लिए :

– सिर्फ़ वही बात पूछिए, जो आप नहीं जानते !

– सिर्फ़ वहीं बात कहिए, जो वे नहीं जानते; जिनसे आप कह रहे हैं।

– उतनी बात कहिए और उतनी ही पूछिए जितनी इस समय ज़रूरी है।

बातोंके बरतावमें, उसी तरह कम-खर्च रहिए, जिस तरह आप रुपयों-के बरतावमें कम-ख़र्च रहते हैं या आपको रहना चाहिए। बातचीतमें जीवनकी बहुत ताक़त ख़र्च होती है। अपने स्वास्थ्य और लम्बे जीवनके लिए उसे बचाइए। मौन कोरा धर्म नहीं है, वह स्वास्थ्यके लिए एक टॉनिक है।

मेरी पिछली भयंकर बीमारीमें विख्यात चिकित्सक डॉ० आर० एन० बागलेने दवाइयोंके साथ ही नुसख़ेंमे प्रतिदिन पाँच घण्टेका मौन भी लिखा था। उस समय तो हम लोग हँसे थे, पर बादमें मैंने देखा कि उससे मुझे बहुत ताक़त मिली, जिसे मैंने घर आयी मौतको पछाड़नेमे लगाया।

कम बातें कीजिए, कममें बातें कीजिए और कामकी ही बातें कीजिए।

अजी, क्या करूँ काम ही नहीं निमटता !

हमारे अखिलेशजी दिनरातके चौबीस घण्टोंमें-से पन्द्रह-सोलह घण्टे तो काम करते ही करते है और अठारह-उन्नीस घण्टोंपर भी गाड़ी महीनेमे दो-चार बार पहुँचती ही रहती है। जब-जब उनसे इसकी शिकायत करता हूँ, वे कहते है : "अजी, क्या करूँ, काम ही नहीं निमटता !"

क्या सचमुच जीवनमें इतना काम है कि आदमीको उससे समयपर खाने-पीने, घूमने, मित्रोंसे मिलने-जुलने और हा-हू करनेका समय ही न मिले ?

इस प्रश्नका एक उपप्रश्न भी है कि यदि जीवनमे सचमुच इतना काम है, तो क्या यह आदमीके जीवनका कोई स्वस्थ रूप है कि वह उस काममें इस तरह लिपट जाये कि आदमी होकर भी वह आदमी न रहे और आदमीनुमा एक मशीन बन जाये ?

मैं लम्बे अनुभवके आधारपर, मेरे गलेमें जितनी भी शक्ति है, उस सबको इकट्ठा कर,क़रीब-क़रीब चिग्घाड़के स्वरमें इन दोनों प्रश्न-चिह्नोंका उत्तर देना चाहता हूँ : 'नहीं !'

हमारे लोकजीवनमें एक मीठी गाली है : 'काम बढ़ावा।' माँ अपनी फूहड़ बेटियोंको कहती है : "क्या काम बढ़ावा धी मेरे पेट पड़ीं !"

बस यही फूहड़पन कुछ लोगोंके जीवनपर छाया हुआ है स्वयं उनके कारण या फिर उनके साथियोंके कारण और वे सब भी काम बढ़ावा हो गये हैं – तभी उनका काम नहीं निमट पाता !

दूसरा महायुद्ध घनघोर रूपमें हो रहा था और अफ़ीकामें दोनों पक्षोंके

पूरे साधन दावपर लगे हुए थे – जान-जानकी बाज़ी थी। इंग्लैण्डके प्रधान मन्त्री चर्चिलने सेनापति माण्टगुमरीको सन्देशा भेजा कि वे कल रातमें बारह बजे एक आवश्यक बैठकमें शरीक हों।

माण्टगुमरीने उत्तर दिया : "बारह बजे मैं बैठकमे शरीक नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो मेरे सोनेका समय है !"

सेनापति माण्टगुमरीके युद्ध-संस्मरणोंमें उनकी दिनचर्या दी गयी है। वे युद्धस्थलमे ही एक बड़े ट्रकमें सोया करते थे। ठीक नौ बजे वे अपने ट्रकमे पहुंचते और सोनेके कपड़े पहन, चायका एक कप पी, लेट जाते, कुछ देर उपन्यास पढ़ते और सो जाते। ठीक पाँच बजे उठते, तैयार होते और सात बजे अपने दफ़्तरमे आ जमते। उनके ट्रकसे कुछ ही दूरपर गोलाबारी होती रहती, पर वे सोते, तो बस सोते ही रहते।

क्या सेनापति माण्टगुमरीसे मेरे पुत्र अखिलेशकी ज़िम्मेदारियाँ कुछ ज्यादा है ? यह प्रश्न स्वयं अपनेमें एक अट्टहासका पिता है !

साबरमती आश्रममें बरसों बीते हमारे आकाशने एक दृश्य देखा था। भोजनकी घण्डी बजी और सब आश्रमवासी रसोईघर पहुँच गये। गान्धी-जी भी अपनी थाली लिये घण्टी बजते ही चले, पर तभी आ गये कोई सज्जन और गान्धीजीको उनसे कोई डेढ़ मिनिट बातें करनी पड़ीं। आश्रमका नियम कि घण्टीके दो मिनिट बाद रसोईघरका द्वार बन्द। बस यहीं वह दृश्य कि झपटे-झपटे आ रहे गन्धीजी द्वारके बाहरकी सीढ़ियोंपर और द्वार-के भीतर रसोईका प्रबन्धक। प्रबन्धक पाँच-सात सेकेण्ड रुके, तो गान्धीजी द्वारके भीतर हों, पर वह रुके, तो नियम टूटे और नियम टूटे, तो दण्ड पाये ! किवाड़ उढ़क गये और उढ़कनकी ध्वनिको दो अट्टहासोंकी गूँजने अपनेमें समा लिया। एक अट्टहास प्रबन्धकका और दूसरा अट्टहास गान्धीजीका।

वहाँ क्या ग़दर मच जाता जो प्रबन्धक कुछ पल ठहर जाता और यों गान्धीजीको दूसरी पंक्तिमें भोजन करनेके दण्डसे बचा लेता ?

न ग़दर मचता, न प्रलय होती, पर कड़ियोंके जोड़की यही ढील तो है, जो भयंकर युद्धकी घड़ियोंमें भी माण्टगुमरीको सोनेका समय देती और अखिलेशजीको रात तक काममे जुटाये रखती है !

कामको कामकी तरह करो, तो काम कभी क़ाबूसे बाहर न हो और कामको कामकी तरह न करो, तो काम कामदारको अपने क़ाबूमें कर चले । इसीका नाम है – काम बढ़ावा !

मेरे पड़ौसमें ही एक कम्पनीका कार्यालय था । तीन सज्जन उसमें प्रमुख कार्यकर्ता, पर कम्पनीके कार्यालयकी ताली शामको रहे सबसे बड़े मैनेजरके पास ।

प्रातः नौ बजे उनके छोटे कर्मचारी आये, तो ताला बन्द । देर ज़्यादा हो, तो दूसरे संचालक भी आ पहुँचे और बाहर चहलक़दमी किया करें । ऐसा भो हो कि कोई कर्मचारी बड़े बाबूजीके घर ताली लेने जाये, तो ख़बर मिले कि वे कहीं गये हैं ।

एक दिन मैंने उनसे कहा : "पाँच आनेमें इस मसलेका हल हो सकता है ।"

आश्चर्यसे बोले : "भला किस तरह ?"

मैंने कहा : "पाँच आनेमें इस तालेकी दो तालियाँ और बनवा लीजिए और एक छोटे मैनेजरको एवं एक लेबर-इंचार्जको दे दीजिए । बस, जो पहले आयेगा, ताला खोल लेगा । वे बहुत लज्जित हुए कि इस ज़रा-सी बातके लिए उनका इतना काम बढ़ा हुआ था ।

एक धनी मित्र हैं । उनका नौकर परेशान था कि दौड़ते-दौड़ते पाँव

टूट जाते हैं और शामको सुनना पड़ता है कि तुम काम ही क्या करते हो ?

बात यह है कि वे नौकरको एक काम बताते हैं कि बाज़ारसे अमुक चीज़ ले आ। नौकर चीज़ लिये बाज़ारसे लौटता है, तो हुक्म मिलता है : ले, यह पत्र अमुक सज्जनको दे आ। नौकर अभी-अभी जहाँसे वह चीज़ लेकर आया है, उसके पास ही ये मित्र रहते हैं। नौकर सोचता है और ठीक सोचता है कि यदि सेठजी यह पत्र भी मुझे पहले ही दे देते, तो मैं सामान लानेके साथ ही उसे भी देता-आता।

स्पष्ट है कि सेठजी कामको कामकी तरह करना नहीं जानते।

'कामको समेटो, बखेरो मत !' यह भी एक लोकोक्ति है।

कामका समेटना क्या ? कामका बखेरना क्या ?

एक बड़े परिवारमें मेरा आना-जाना है। परिवारमें धन भी है, जन भी है। रोज़ हल्ला मचता कि नहानेपर धोती-तौलिया ठीक नहीं मिलता : "अरे मिट्ठन, मेरी धोती ला ! अरे बुद्धू, मेरा तौलिया कहाँ फूँक दिया !" यह मैं अक्सर सुना करता।

एक दिन मैंने मिट्ठन और बुद्धूको समझाया कि तीसरे पहर जब बाहर चौकसे सूखी धोतियाँ और तौलिये उतारते हो, उसी समय उन्हें स्नान-गृहमें रख दिया करो, जिससे जो जब नहाने जायेगा, उसे अपनी धोती-तौलिया वहीं तैयार मिलेगा। साथ ही बाज़ारसे मँगाकर मैंने पाँच-छह खूटियाँ स्नान-गृहमें लगवा दीं – नौकरोंकी परेशानी दूर हो गयी, तो घर-वालोंका सुभीता बढ़ गया।

यह है कामका समेटना।

एक साहित्यिक मित्रके घर गया, तो देखा कि उनके लिखनेकी मेज़-पर बिजलीका टेबिल लैम्प भी रखा है, उसके पास ही मिट्टीके तेलकी

लालटेन भी और उस लालटेनके पाँखेमें एक दियासलाईकी डिबिया भी।

पूछा : "हज़रत, यह लालटेन क्यों विराजमान है यहाँ ?"

बोले : "लिखते-लिखते कभी अचानक बिजली बुझ जाये, तो इसे जला लेता हूँ और यों इधर-उधर दौड़ने और ठोकरें खानेसे बच जाता हूँ।"

यह है कामका समेटना और यह-वह क्या था, कामको समेटना सीखना हो, तो डाकियेसे सीखिए, जो अपनी हजारों चिट्ठियोंको इस सिलसिलेमे लगाता है कि क़दमके साथ चिट्ठियाँ अपने-अपने ठिकाने पहुँचती चली जाती हैं।

लो भिखारी, दुर मज़दूर !

मैं हरद्वार जा रहा था और वे भी। वे भी, माने एक मारवाड़ी धनी परिवार। इस परिवारमें एक सेठजी कोई चालीस वर्षके, सेठानीजी, एक जवान लड़का और एक चार-पाँच सालकी लड़की।

मेरी तबीयत ज़रा ख़राब, मैं अपनी सीटपर लेटा हुआ। शानदार सेकेण्ड क्लासका डिब्बा, जिसमें दो सीट नीचे और दो ऊपर। ऊपरवाली सामानसे लद-फद। उनके लड़केने चाहा कि मेरी सीटपर वह खिड़कीके पास बैठे। मैंने चाहा कि हाँ, वह ज़रूर बैठे और पैर सकोड़े, पर सेठजीने उसे आँखों-ही-आँखों लिया कि कहा : "देखते नहीं, पण्डितजीकी तबीयत खराब है, इधर बैठो!"

मैं कर्मोंमें रावणका रूप या कंसका प्रतिनिधि भले ही हूँ, जन्मसे ब्राह्मण हूँ और ब्राह्मण हूँ कि पूज्य हूँ; यह सेठजीने बिना परिचयके ही जान लिया, तो मुझपर उनकी धार्मिकताकी एक छाप पड़ी। फलोंकी पड़ी टोकरी उनके साथ थी, उसे दिखाकर बोले : आप कोई कष्ट न मानें सन्तरे लें, आपकी तबीयत सँभलेगी। मैंने माना कि आदमी सज्जन हैं।

गाड़ी स्टेशनपर रुकी, तो सेठजीकी खिड़कीके नीचे चार-पाँच भिखमंगे, दीन, हीन, मलीन! सेठजीने सेठानीजीको इशारा दिया कि भूखोंकी झोलीमें पूरियाँ पड़ीं और सेठजीको आशीष मिली। फिर एक स्टेशन, फिर भिखारी, फिर भोजन। किसी अनाथालयके दो लड़के गाड़ीमें आ गये — गाते, भीख माँगते। सेठजी और सेठानीजीने उनसे खूब भजन सुने। सेठानीजीने दोनोंको खाना खिलाया, सेठजीने एक रुपया दिया और छोटी मुन्नीने अपना सन्तरा।

मैंने सोचा : सारा परिवार ही उदार है। हर आदमी अपनी आदतसे

मजबूर है। मैं यह सोचकर यहीं न रुका और सोचता गया : मनुष्य और मनुष्यके बीच भेदभाव संसारका सबसे बड़ा पाप और मनुष्य-मनुष्यके बीच एकता संसारका सबसे बड़ा पुण्य है। ममता इस पाप-पुण्यके बीचका सेतुबन्ध है।

सेठजीकी स्वभाववृत्तिके लिए मेरे मनमें स्वाभाविक था कि आदरका भाव उपजा और पनप चला।

यह आ गया हरद्वार।

क़ुलियोंने सेठजीका सामान नीचे उतारा : "अच्छा सरकार, तो हुक्म हो जाये !" वे जानना चाहते थे कि उन्हे क्या मिलेगा ?

सेठजीने बण्डलोंकी ओर ताका और इनका बोझ आँका, तो बोले : "बोझा बेसी नहीं है, उठाओ बारह आने मिलेंगे।"

बारह आने ? क़ुली जैसे आकाशसे गिरे। "हाँ भई, बारह आने। तीन-तीन आने तीन क़ुलियोंकी मज़दूरी और तीन आने बकसिस, हमने ठीक बोल दिया है, उठाओ !" सेठजीने उन्हे सँभाला।

क़ुली चुपचाप देखते रहे, न बोले, न बढ़े। एक अजीब पैंतरा था। सेठजीने उन्हें सहलाया : "अच्छा नौ आने मज़दूरी, सात आने बकसिस; उठाओ !"

"माई-बाप ! हम गवरमिण्टके नौकर थोड़े ही हैं, हम तो आप ही के नौकर हैं। आपसे न लें, तो कौन दे।" एक क़ुलीने सारा, तो दूसरेने पूरा : "हुज़ूर, आप तो राजा आदमी हैं। हम रात-दिन आदमीको देखते हैं। सरकार, हम आदमीको पहचानते हैं।" यहीं तीसरेने फेंकी तुरुप : "सरकार, तीन रुपयेका काम है।"

प्रशंसाके मायाजालमें उलझते-उलझते सेठजीने उन्हें एक झटका दिया : "ना, ना, तीन रुपैयाको के काम है। हमारा टाइम बेस्ट (समय ख़राब)

मत करो। उठाना हो, तो उठाओ, नहीं तो हमारा नौकर रख देगा। नौ आना मज़दूरी नौ आना बकसिस; एक रुपया दो आना मिलेगा।"

सेठजी किनारेपर आ गये थे। अब अंजलियाँ भरनेका समय न था, कोई चुटकी ही ली जा सकती थी। क़ुलियोंने इसे भाँपा और वे सामानकी ओर बढे। बढ़ते-बढते उन्होंने एक झोंक दी : "वाह सरकार, आप नौकरसे क्यों सामान उठवावें, हम किस लिए हैं। आप एक पैसा न दें, तो भी हम सामान नहीं छोड़ सकते !" और सामान उठाते-उठाते आवाज़ आयी : "इतना बड़ी सरकारने ख़ुद कह दिया है, छह आने हम छोटे सेठजीसे इनाम लेंगे !"

सेठजीने एक हलकी-सी आड़ दी : "ना, ना, यह सब कुछ नहीं। तुम लोग मुसाफ़िरोंको बहुत तंग करते हो।"

सामान ताँगोंमे रखा जा चुका, तो दुअन्नीके साथ रुपया क़ुलियोंकी ओर बढ़ाया गया। अब एक अजीब झमेला कि सभी कुछ-न-कुछ बोल रहे हैं। अपना माथा छू-छूकर क़ुली लोग माँग रहे हैं और सेठजी हाथ हिलाकर मना कर रहे हैं। सेठजी आख़िर झुके और डेढ़ रुपया क़ुलियोंके पल्ले पड़ा।

तभी आ जुटे दस-बीस भिखारी। सेठजीने सबको एक-एक अधन्नी दी – बिना तक़ाज़े; और ताँगा चला।

मैंने सोचा : बहुत तंग करते हैं ये क़ुली। हर आदमी अपनी आदतसे मजबूर है। मैं सोचकर यहीं न रुका और सोचता गया – जिस मनुष्यने अनाथालयके लड़कोंको बिना माँगे एक रुपया दिया और जिसने भिखारियों-को माँगते ही पाँच-सात आने दे दिये, वह क़ुलियोंसे चार-छह आने बचानेके लिए इतनी देर क्यों उलझता रहा ? इस आदमीके पास पैसा है, यह उसे ख़र्चना चाहता है, ख़र्चना जानता है, यह स्पष्ट है; फिर मनोवृत्तिकी यह कौन-सी दिशा है जिनके साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं, उन्हें देनेको वह तैयार है, पर जो उसकी सेवा करते हैं, उसे सुख पहुँचाते हैं, उन्हें देनेको वह तैयार नहीं है।

एक अद्भुत मनोदशा है इस सेठकी, पर क्या यह इस सेठकी ही मनोदशा है ? सोचता हूँ कि कुछ गहरे उतर पाऊँ, तो याद आ गयीं मुझे अपनी एक भाभीजी । जो मिलता है उनकी प्रशंसा करता है । जो उनका एक बार अतिथि हो गया, वह दूसरोंका आतिथ्य फिर पसन्द नहीं करता । नम्र, हँसमुख, उदार और सज्जन ।

उनका एक बूढ़ा धोबी है । धोबी उनसे काम भी पाता है, स्नेह भी, सद्व्यवहार भी । एक दिन उसे कपड़े दिये गये कि वह आज ही धो लाये । धोबीने दूसरा काम छोड़कर यह काम किया और जब हिसाब लिखानेका समय आया, तो मज़दूरी दुगुनी लिखायी, पर भाभीजी इसपर तैयार न हुई और सारी बहसका अन्त उन्होंने यह कहकर कर दिया : "यों तुझे ज़रूरत हो, तो दो रुपये माँग ले, मैं मना नहीं करूँगी, पर यह क्या कि एक दिन जल्दी धो लाया, तो चार आनेके आठ आने बताने लगा ।"

बिलकुल वही सेठकी मनोवृत्ति – यदि माँगनेकी मुद्रामें तू सामने आये, तो तुझे दो रुपये देना भी सरल, पर यदि मज़दूरीकी बात है, तो ये आठ आने भी मेरे लिए कुबेरका भण्डार !

देने-देनेमें यह अन्तर क्यों ? भिखारीको, ग़रीबको देते समय भी एक आना छह नये पैसोंका है मज़दूरको देते समय भी वह पाँच पैसोंका नहीं होता; फिर एकको देनेमें वह रपटता क्यों है और दूसरेको देनेमे वह चिपकता क्यों है ?

बहुत सोचा, तो एक बात पायी कि भिखारी माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता है : मेरा कोई अधिकार नहीं है, यह आपकी कृपा है । इस अधिकार-हीनता और कृपापूर्णतामें दाताकी महत्ता है – उसे देते समय बिना अनुभव किये भी, दाताको यह गौरव अनुभव होता है कि मैं इससे बड़ा हूँ, सामर्थ्यवान् हूँ – ओह मैं !

इसके विरुद्ध मज़दूर जब माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता है : मैं भीख तो नहीं माँगता साहब, मैंने तो पहले काम किया है, तब माँग रहा

हूँ। यह माँग मेरा अधिकार है। साफ़ है इस माँगमें लेनेवालेका अधिकार है, देनेवालेकी बाध्यता है।

तो संक्षेपमें : भिखारी, ग़रीब या असमर्थ माँगते समय अपने 'अहं' को दीनतामें डुबो देता है और दाता देते समय अपने अहंकी प्यास बुझती-सी अनुभव करता है, तो मज़दूर माँगते समय अपना अधिकार-सा अनुभव करता है और दाता देखता है कि उससे कुछ वसूल किया जा रहा है।

पहलेमें दोनों पक्ष अस्वस्थ हैं और दूसरेमें केवल पहला, पर हम भिखारीके कार्यको मान रहे हैं स्वाभाविक; यानी उसका अधिकार और मज़दूरके कार्यको मान रहे है अस्वाभाविक; यानी उसकी धृष्टता। इसके साथ ही दाताके दर्पको हम मान रहे है पुण्य और मजदूरके अधिकार-हरणको सेठकी चतुरता!

हमारे लिए जीवनके प्रश्नोंका समाधान है धर्म और धर्मकी दृष्टिमें वह कार्य पाप है, जिसमे दीनता है, दर्प है, अपहरण है।

यह सब समाज-व्यवस्थाकी अस्वस्थताके चिह्न हैं। स्वस्थ समाज-व्यवस्थामें, न भिखारीकी दीनताके लिए स्थान है, न दाताके दर्पके लिए और न मज़दूरकी धृष्टताके लिए, न धनपतिकी चतुरताके लिए। उसकी दृष्टिमे तो विषमता और अव्यवस्था ही रोग है और समता और व्यवस्था ही स्वास्थ्य!

जब हम बाज़ारमें हँसे !

बाज़ार भी एक अजीब जगह है। जगह क्या, इसे पूरा नाटक समझिए। यों देखनेमें तो इस नाटकके पात्रोंकी संख्या अनगिन है, पर असलमें यहाँ दो ही पात्र हैं : एक दूकानदार, दूसरा ख़रीदार।

दूकानदारके पास है सामान और खरीदारके पास है पैसा। भक्त और भगवान्की जोड़ी है, पर ऊँ हूँ: यह उपमा भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दोनों ही भक्त है और दोनों ही भगवान् और तभी तो मैं कहता हूँ : बाज़ार भी एक अजीब जगह है।

चहल-पहल बाज़ारकी जान है। यह चहल-पहल है ख़रीदारोंकी, दूकानदारोंकी। इस चहल-पहलमे कभी-कभाक गरमी भी आ जाती है और मामला गाली-गलौजपर ही नहीं रुकता, मार-पीट तक पहुँच जाता है, पर आम तौरपर यहाँ प्रसन्नताकी ही छाया रहती है।

"क्यों भला ?"

ठीक जगहपर ठीक प्रश्न है आपका, पर उत्तर इसका साफ़ है। बात यह है कि बाज़ारकी मनोवृत्ति है मिलनकी, ले-देकी, समन्वयकी। यह न लड़नेसे सधता है, न झगड़नेसे। लो, यों समझ लो कि दूकानदारको ज़रूरत है ख़रीदारकी और ख़रीदारको ज़रूरत है दूकानदारकी – एकका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता, इसलिए दोनोंको एक-दूसरेसे मिलना है, जी हाँ मिलना ही है।

बातचीतमे ज़रा साहित्यिकताकी पुट देनेमें आपको भी मज़ा आता हो, तो मैं कहना चाहता हूँ कि मिलनका फूल प्रसन्नताकी बेलपर ही फूलता है, इसलिए बाज़ारका वातावरण आम तौरपर प्रसन्नताका ही रहता है। हास्य है प्रसन्नताका लाड़ला पूत, इसलिए यह बाज़ारके वातावरणमें ख़ूब

फलता-फूलता है और यों बाज़ारकी ख़रीदारीमें हास्यकी किलकारियाँ यदि प्रायः सुनाई देती रहती हैं, तो यहाँ सवालका सन्तरी क्यों अपनी ज़रूरत माने ?

और फिर आप तो इस तरह पूछ रहे हैं, जैसे कभी बाज़ारकी ख़रीदारी-में आपके साथ किसीने या किसीके साथ आपने मज़ाक़ ही न किया हो ? क्यों, उस दिन तो मैं आपके साथ ही था, जब विश्वम्भर बज़ाज़ने आपपर एक तकड़ी-सी मुहर जड़ी।

"कब ? कैसी मुहर ?"

"जी, भूल गये आप ? उस दिन मैं पद्माके लिए शाल ख़रीद रहा था और आप भी साथ थे। मैं शाल देखता रहा और आप मूँगफलियाँ खाते रहे। जब हम लोग शाल लेकर चले, तो विश्वम्भरजीने आपको आवाज़ दी। आप लौटे, तो उसने रूमालकी एक पोटली आपको दी कि यह आप भूल गये थे बाबूजी !

आपने पोटली ले ली, शायद यह समझकर कि मेरी कोई चीज़ है, पर तभी उसे खोली, तो उसमें मूँगफलियोंके छिलके थे। ओह, हम सब कैसे लोट हुए हँसते-हँसते और आपका उस दिन वाला मुँह तो मुझे आज भी याद है !

उस समय तो आपकी तबीयत बहुत ही झक हुई, जब विश्वम्भरजीने बहुत भोली-सी सूरत बनाकर आपसे ही पूछा : "क्यों बाबूजी, यह आपकी नहीं है क्या ? माफ़ कीजिएगा हुजूर; मैंने यही समझा था !"

ओफ़-ओह। उस समय हँसीका जो दूसरा दौर आया, तो क़हक़हे आसमान तक पहुँच गये ओर मुझे स्वर्गीय प्रेमचन्दका गूँजता अट्टहास याद हो आया !

झिंगा चौधरीको तो आप जानते ही हैं, हमारे पड़ौसमें ही फल-सब्ज़ियाँ

बेचता है। एक दिन उसकी दूकानसे, हाँ दूकान ही है और क्या; मैं सब्ज़ी लेकर चला, तो केलेके छिलकेपर रपट पड़ा। दोनों पैर चौड़े हो गये और मैं पलक मारते हनुमान्-आसन करता नज़र आया। हथेलीका बल सड़कपर दे, मैं सीधा हुआ, तो झिंगा चौधरी मुझसे पूछता है, "कहिए बाबूजी, क्या उठा लिया ?"

अब बताइए, उसे मैं क्या जवाब देता, पर आते-जाते लोग ख़ूब हँसे। ठीक है, लोगोंको तो विना पैसेका तमाशा चाहिए, पर उस दुष्टकी बात देखिए। दूसरे दिन मै सब्ज़ी लेने नहीं गया और श्रीमतीजीको भेज दिया, तो झिगा उनसे कहता है, "क्यों बहूजी, आज बाबूजी नहीं आये ? कल हमारी दूकानपर-से उन्हे एक गिन्नी पा गयी थी, पर हम उनसे हिस्सा थोड़े ही बटा रहे थे – पायी चीज परायी चीज़ !"

श्रीमतीजी मेरी जेबकी पाई-पाईपर निगाह रखती हैं। चौंककर झिंगासे बोलीं, "बाबूजीको कल गिन्नी पायी थी ?"

मुँह बनाकर झिंगाने कहा, "हाँ बहूजी, जयपुरी गिन्नी; यहीं हमारी दूकानके सामनेसे पायी और बाबूजी उठाकर ऐसे नौ-दो-ग्यारह हुए कि हमारी तरफ़ देखा भी नहीं।"

श्रीमतीजी सब्ज़ी लेकर लौटीं, तो महात्मा परशुरामकी तरह क्रुद्ध और बोलीं : "क्यों जी, अब तुम बहुत उस्ताद हो गये हो। मुझे बताया भी नहीं कि तुम्हें गिन्नी पायी है, जैसे घरमे जो दौलत बरसती है, उसे मैं अकेली ही पी जाती हूँ ?"

मैं परेशान कि कौन-सी गिन्नी, पर श्रीमतीजीका टैम्परेचर डिग्री-पर-डिग्री हाई ! बहुत देरमें बात खुली, तो हम लोग खूब हँसे, पर दूसरे दिन झिंगाको मैंने डाँटा, तो बोला : "अजी बाबूजी, हँसी-मज़ाक़के बिना ज़िन्दगी झाँवोंका ढेर है। बहूजीको गिन्नी न बताता, तो आप कैसे हँसते ?"

यासीन भाईको सारा शहर जानता है। बड़े सीधे आदमी हैं बेचारे,

पर उस दिन उनकी दूकानपर सुना कि एक ऐसा ख़रीदार आया, जो सीधेपनमें उन्हें भी मात कर गया। यह शहरोंमे दूर किसी पहाड़ी गाँवका रहनेवाला था।

यासीन भाईकी दूकानपर काँचका एक गिलास रखा था उलटा। उसे देखकर बोला : "यह क्या है भाई ?" उन्होने कहा : "यह गिलास है" तो ख़रीदार उसे छूकर आश्चर्यसे बोला : "यह कैसा गिलास है, इसमें तो मुँह ही नहीं !"

यासीन भाईने सरल-स्वभाव कहा : "उलटकर देख भैया !" ख़रीदारने उसे उलटकर देखा, तो और भी गहरे आश्चर्यमें डूबकर बोला : "ओह होः, इसमें तो तली भी नहीं है !"

पता नहीं यासीन भाईकी दूकानपर ऐसा ख़रीदार आया या नहीं, पर शिवचन्द्र कुमारने उस दिन रेलमें यह बात सुनायी, तो हँसीके फ़व्वारे छूट पड़े। मैंने कहा : "संसारके साहित्यमें सरलताका इससे बढ़िया उदाहरण नहीं मिल सकता।"

एक छोटा-सा रिमार्क, एक मामूली-सा इशारा, बाज़ारके वातावरणको हास्यसे भर देता है। गिरीशदत्त पाण्डेय मेरे मित्र हैं। चीज़ें ख़रीदनेका रोग है उन्हें। दूकानदारका दिमाग़ चाट जाते हैं बेचारेका, पर उस दिन उस अँगरेज़ महिलाने उन्हे ऐसा सबक़ दिया कि याद करेंगे पाण्डेयजी। अपनी श्रीमतीजीके लिए उन्होंने कानोंके मोती ख़रीदे। लेते-लेते बोले : "मैडम, ये ठीक भी हैं ?" मैडमने निहायत नज़ाकतके साथ ज़रा मुसकराकर कहा : "पहनकर जो देख लीजिए !" ओह हो, इतने ज़ोरसे चारों ओर हँसी फूटी कि पाण्डेयजी खुद कानोंके मोती बन गये।

इस महिलाके पास एक बूढ़ा अँगरेज़ था। उससे पाण्डेयजीने जुराबें लीं। उनपर क़ीमत लिखी थी आठ आने। पाण्डेयजीको यह कम लगी, तो बोले : "आठ आने ही ?" बूढ़ेने पेन्सिल पाण्डेयजीकी ओर बढ़ाकर

कहा : "धन्यवाद, लीजिए बारह आने कर दीजिए !" मामूली बात थी, पर बूढ़ेकी लचक और कहनेके ढंगने समा बाँध दिया और हम सब हँसीमे डूबे-से गये ।

बात यह है कि बारातोंके बाद बाज़ार ही वह स्थान है, जहाँ आदमी खुले दिल होता है और उसे राह-चलतोंसे मसखरी सूझती है । कभी-कभी यह मसखरी लाभदायक भी हो जाती है ।

मंगल हलवाई बुरा आदमी नहीं है, पर बूढ़ा हो गया है । उस दिन प्रोफ़ेसर साहबने चार आने देकर रेवड़ियाँ लीं, पर मंगल लिये चार आने आते भूल गया । बेचारे भले आदमो, दोबारा चार आने देकर चुपके-से चले आये, पर उनके दो शैतान विद्यार्थियोंको यह पता लगा, तो वे तन गये ।

दूसरे दिन एक लड़का उसकी बेंचपर जा बैठा और बोला : "लो लाला, आज हमें वज़ीफ़ा मिला है, तुम हमे छकाकर मिठाई खिलाओ ।" लाला तो ऐसोंकी खोजमें ही रहता है, दोना भरकर हाजिर किया । तभी दूसरा लड़का आया और पहले-से अनजान-सा बेंचके दूसरे किनारे बैठ गया। दोनों मिठाई खाने लगे । जो बादमें आया था, उसने पहले हाथ झाड़े और उठ चला । लालाने कहा : "अरे, पैसे तो दे !" लड़का बोला : "वाह लाला, दोबारा पैसे माँगते हो, अभी तो दिये हैं एक रुपया पाँच आने । आज अफ़ीम ज़्यादा तो नहीं खा गये ?"

लालाजीने न्यायके लिए उस लड़केकी तरफ़ देखा, जो इससे पहले आया था और अब रूमालसे मुँह पोंछ रहा था : "क्यों बाबूजी, आप इससे पहलेसे बैठे हैं, आप ही बताइए, इसने मुझे पैसे दिये है ?"

लड़केने चलनेके लिए पैर बढ़ाते हुए-से कहा : "लाला, तुम अब भुलक्कड़ हो गये हो, पर ख़ैर, इसके एक रुपया पाँच आने तो भूल गये, मेरा डेढ़ रुपया न भूल जाना ।"

"और तुमने ही कहाँ दिये हैं अभी पैसे ?" लालाने ज़ोरसे कहा, तो वह बोला : "वाह-वाह, यह एक और हुई। मालूम होता है लाला, सब मुफ़्त खानेवाले तुम्हारी ही दूकानपर आते है। दूकान है या सेठ मंगनी रामका सदाव्रत !"

दस-पाँच आदमी इकट्ठे हो गये। सामनेवाले दूकानदारने सारी बात सुनकर कहा : "मंगल, अब तेरी अक़्ल सठिया गयी है। कल प्रोफ़ेसर साहबसे झगड़ रहा था, आज इन लड़कोंसे उलझ बैठा !"

मंगल लालाने क़समोंकी झड़ी बाँध दी, तो एक पड़ौसीने कहा : "तो भाई, यह तो हो नहीं सकता कि दुनियाके सब आदमी बेईमान और बस एक तू ही राजा हरिश्चन्द्र !"

बात ख़तम हो गयी, पर पासकी गलीमें पहुँचते ही दोनों लड़कोंको जो हँसी छूटी, तो पेट फूल गये। मंगल तीन रुपयोंको मारा गया और मज़ा यह कि अब जो ख़रीदार आता है, नख़रेसे कहता है : "ले भाई ये पैसे, देख भूल मत जाना !" मंगल सुनता है और कुढ़ता है, पर कुछ कर नहीं पाता ! प्रोफ़ेसर साहबके चार आनोंका बेचारेको ऐसा सूद देना पड़ा कि काबुलीका सूद भी मात हो गया – लाला दे रहा है, दे रहा है, दिये जा रहा है और जाने कबतक दिये जायेगा।

हास्य ज़िन्दगीकी एक निशानी है। निशानी क्या भाई साहब, यह जीवनका एक चोचला है और चोचला कहनेमें एक हलकापन-सा ज़रूर कानोंको लगता है, पर सचाई यह है कि चोचलोंके बिना ज़िन्दगी गूँगी है, जैसे बिना लहरोंकी धार। तभी तो हमारे साहित्याचार्योंने हास्यको भी एक रस माना है और बड़े-बड़े कलाकारोंने अपनी जीवन-भरकी साधनाओंके द्वारा इसे एक महान् कलाका रूप दे दिया है।

पर हाँ, उस पहाड़ीसे शहरका मोटा दूकानदार, न साहित्यिक, न साधक, न विद्वान्, न पण्डित; चायका एक मामूली-सा दूकानदार;

अनपढ़के साथ अनगढ़ भी, पर उसने उस दिन मेरे प्रश्नका उत्तर देते हुए, हास्यको ऐसा कलात्मक रूप दिया कि मैं देखता रह गया। और देखता क्या रह गया यों ही, उसने अपनी बात कही ही इस ढंगपर कि हास्यके बड़े-बड़े बेढब और बेधड़क लेखक देखते रह जायें।

अच्छा, प्रश्न क्या था; यह जानना चाहते हैं आप ? मैं उस बेवक़ूफ़से प्रश्न ही क्या करता — मैंने उससे यह शिकायत की कि तुम्हारी दूकानपर क़लईके गिलासोंमे चाय दी जाती है और ये बहुत देर तक गरम रहते है, इससे पीनेमे देर होती है। तुम प्याले क्यों नहीं रखते ?

शिकायत सुनते ही चीनीके साथ ही चम्मच भी गिलासमे झटकेके साथ डाल, वह अपनी मैली गद्दीपर रखे उस उधड़े-से तकियेके सहारे लग, अपना गाल हथेलीपर दिये बैठ गया। बैठ गया और बस बैठा है; जैसे मैंने उसे कोई बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण समाचार सुना दिया हो।

अब मैं हलकी-सी चिन्तासे घिरा-घिरा उसे देख रहा हूँ और वह है कि गुम ! तब मैंने पूछा : "क्यों भाई, क्या हुआ ?" बहुत संजीदगी टोनमें बोला : "अजी बाबूजी, क्या बताऊँ आपको अपना ग़म, आप तो पढ़े-लिखे मालूम होते हैं; ज़रा यह तो बताओ कि जैसे आदमी हिन्दुस्तानमें हैं, वैसे दुनियामे कहीं और भी हैं ?"

क्यों भाई, अपने मुल्कके आदमियोंसे तुम क्यों परेशान हो ? मैंने उससे पूछा, तो पालथीको उकड़ू कर अपनी कोहनीको घुटनेपर टेकते हुए बोला : "मै क्यों परेशान हूँ, यह पूछ रहे हैं आप ? बाबूजी, मुझे परेशानी-का कोई दौरा नहीं उठता और न मेरा बाप वसीयतमें मुझे यह धरोहर दे गया है — परेशान तो मुझे आप करते हैं।"

मै तुम्हे परेशान करता हूँ ? आश्चर्यमे डूबकर मैंने पूछा, तो खिजियाते दाँत दिखाकर बोला : "जी हाँ, आप मुझे परेशान करते हैं। मारी नहीं बन्दूक़ आपने मेरे कलेजेमें अभी ?"

बन्दूक़ ! मैने तुम्हारे बन्दूक़ मारी ? आस-पास बैठे तीन-चार

आदमियोंकी तरफ़ मैंने देखा। वे भी मेरी ही तरह आश्चर्यसे उसकी ओर देख रहे थे। दूकानदार अभी उसी मुद्रामें था। बोला : "ये बन्दूक़से कम हैं आपके सवाल – क़लईके गिलास क्यों रखे हैं ? चीनीके प्याले क्यों नहीं ? बाबूजी मेरे कलेजेपर इस सवालकी चोट बन्दूक़से भी ज़्यादा पड़ती है।"

ज़रा ठहरकर बोला : "अँगरेज़ जब चाय पीता है, तो बस दुनियाको भूल जाता है। धीरे-धीरे बातें करते, हँसते, खिलखिलाते, इस तरह प्यालेसे चुसकियाँ लेता है कि थकान उड़ी चली जाती है और ताज़गी गातके रोयें-रोयेंमें समा जाती है, पर हिन्दुस्तानी आदमी दूकानमें घुसनेसे पहले ही चाय बनाओ, बनाओ चायकी हड़बड़ी मचाता आता है, जैसे गिरफ़्तारीका वारण्ट लिये दरोग़ा पीछे आ रहा हो। चायका प्याला जहाँ उसकी मेज़पर आया कि उसने उठाया। अब प्याला हाथमें, चाय मुँहमें, पर आँखें बाहर सड़कपर और जहाँ कोई आता-जाता दिखाई दिया कि यह चिल्लाया : ठहरना। मैं भी आ रहा हूँ, बस, इसके बाद तो यह हाथसे प्यालेको देगा एक झटका कि चाय हो गलेके पार; जैसे कुनैन मिक्सचर और उड़ेगा बाहरको।

जाते-जाते पैसे गद्दीपर फेंकेगा, जैसे ज़ुर्मानेमें दे रहा हो भला आदमी। अरे, यह कोई चाय है ? चाय पीना बाबूजी हमसे सीखिए। सुबह दूकान खोलते ही पहले अपना गिलास बनाते हैं। उस बख़्त राजा आये या लाट साहब, बात नहीं करते। उसीका तो यह नतीजा है।"

यह कहकर उसने अपनी बेडौल तौन्दपर चक्करदार हाथ फेरकर थपथपी दी और तब बोला : "बाबूजी, १५ अगस्तसे मैंने क़लईके ये गिलास रख दिये हैं, जिससे राज़ीसे नहीं तो लोग मजबूरीसे ही सही, दो घड़ी सुस्ताना तो सीखें।"

वह अब फिर पहलेकी तरह ही बैठ गया और केतली उठाते हुए बोला : "बाबूजी, आपकी चाय ठण्डी हो रही है। पीजिए, अब आपको

मेरा गिलास कुछ नहीं कहेगा" और वह इतने मीठे ढंगसे हँसा कि मैं उसकी तरफ़ देखता रह गया ।

जोकरकी तरह गिर-पड़कर किसीको हँसा देना आसान है, पर हँसीमें एक बात पैदा करना कठिन है और अब भी कभी-कभी मुझे वह अनपढ़ और अनगढ़ दूकानदार याद आ जाता है कि वह सचमुच इस कलाका पण्डित था । उसने गम्भीरताका वातावरण बनाकर उसमें हास्यका वह फूल खिलाया कि चाय-निर्माता ही नहीं, चाह-निर्माता भी हो गया ।

भाई किशनचन्द सिलाईकी मशीन और पंखोंके स्थानीय विक्रेता हैं । वे एक दिन मिले, तो मैंने कहा : "भई, हमें एक पंखा चाहिए, पर वह घूमनेवाला हो ।"

मेरा मतलब ऑस्सीलेटिंग पंखेसे था, पर वे बनकर बोले : "भाई साहब, किसी दिन हमारी दूकानपर आ देखिए । आपने शायद ध्यान नहीं दिया; हमारा तो हर पंखा घूमता है !"

वाह, एक सादे सवालपर क्या रंगीन वारनिश हो गयी यह कि पंखोंकी बात चलते ही यह बात जीभपर आ जाती है ।

बाज़ारका हास्य किसी भी राष्ट्रके सामूहिक जीवनकी एक कसौटी है। यदि इस हास्यमें फूहड़पन हो, तो मानना पड़ेगा कि यह राष्ट्र सामूहिक दृष्टिसे अभी पिछड़ा हुआ है और सुघड़पन हो, तो कह सकते है कि यह राष्ट्र सभ्य है, संस्कृत है । इस स्थापनाकी छायामे बाज़ारू हास्य एक राष्ट्रीय धरोहर है, जिसे सुरक्षित रखना ही नहीं, सुसज्जित करना भी प्रत्येक राष्ट्र-अभिमानीका कर्तव्य है ।

୨

रात तकिया ऊँचा था !

सुबह जागा, तो गुद्दीके नीचेका पट्ठा अकड़ा हुआ था। हाथसे उसे दबाकर उठा, तो देखा कि रात दोनों तकिये सिरके नीचे रहे और सीमासे बाहर ऊँचाईपर सिर रखनेका ही यह फल है। सोचा, तेलकी मालिश करनी होगी, सिकाई भी, तब यह ठीक हो जायेगा – कोई सीरियस बात नहीं है !

निश्चय ही कोई सीरियस बात नहीं है – सीरियस यानी खतरनाक। पट्ठा अकड़ गया है, खुल जायेगा, इसमे सीरियस क्या होना था, पर उसमे कड़क है, बार-बार ध्यान उधर जाता है और ध्यान कोई ऐसा पदार्थ नहीं है कि जहाँ जाये, वहीं जमा रहे। उचटकर इधर-उधर भी झाँक चलता है।

सिर ऊँचा रखनेसे दर्द क्यों हो गया ?

'हमेशा अपना सिर ऊँचा रखो' यह तो तेजस्वी पुरुषोंका वचन है। सिर ऊँचा रखना जीवनका चिह्न है। जिसका सिर नीचा हो गया, उसका फिर रहा ही क्या ?

पर यह क्या, मुझे सिर ऊँचा रखनेका ही यह फल मिला कि गज हो गया हूँ, न इधर मुड़ सकता हूँ न उधर। यह अच्छा सिर ऊँचा किया !

केस तो सीरियस नहीं था, प्रश्न जरूर सीरियस है। सीरियस यानी गम्भीर। दर्दके गर्भमे यह तो समाजशास्त्रका – हाँ, जीवनशास्त्रका एक प्रश्न उभर आया। सिर ऊँचा रखना यदि जीवनकी रक्षणीय तेजस्विता है, तो फिर ऐसा करनेमे यह दर्द क्यों ?

तप तो यह नहीं है, कष्ट-सहन भी तो यह नहीं है; यह तो रोग है। रोगका सीधा-सा अर्थ है : बीमारी, पर यह शब्द तो निरर्थक है। बीमारी-

का कुछ रूप तो है, पर अर्थ क्या है ? असलमें रोगका अर्थ है, शरीरके प्राकृतिक नियमोंको भंग करनेका दण्ड । शरीरको ठण्डसे बचाना चाहिए, परन्तु फिरे नंगे, बस हो गया जुकाम और अब पीते रहो जुशान्दा । जो अपराध करेगा, वह दण्ड न भोगेगा तो क्या इनाम पायेगा ?

तो इसका अर्थ हुआ कि सिर ऊँचा करना एक अपराध था और यह दर्द उसका दण्ड है ?

सिर ऊँचा करना एक अपराध है, यह कहना क्या स्वयं अपनेमे एक अपराध नहीं है ?

ये दो प्रश्न बने । इनमे सत्य कहाँ है ? पहले या दूसरेमें ? दोनोंके पक्षमें 'हाँ' कही जा सकती है और 'ना' भी । यह तर्ककी महिमा है, पर तर्क निर्णायक नहीं होगा । वह मस्तिष्ककी रेखाओंमें अनेक रंग भर देगा, पर हृदयकी वीणा उससे झंकृत न होगी । उसके लिए अनुभूतिमय चिन्तन-की आवश्यकता है ।

अनुभूतिकी छायामें दोनोंका समन्वय है, पर समन्वयका आधार है सीमा । इन दोनों प्रश्नोंकी भी सीमा रचनी होगी । रचनी, यानी सम-झनी होगी ।

सिर ऊँचा करना एक अपराध है । इसकी सीमा है शक्ति, यानी शक्तिसे अधिक ऊँचा करना अपराध है ।

सिर नीचा करना एक अपराध है । इसकी सीमा है, अशक्ति – दीनता, यानी दीनताके कारण सिर झुकाना एक अपराध है, क्योंकि अशक्ति स्वयं अपराध है ।

सत्य अब सामने आ गया, पर उसे खोलकर देखनेकी ज़रूरत है ।

जगनन्दन कल तक ग़रीब था, दूरके रिश्तेकी एक बुआ मरी और उसे दस हज़ार दे गयी । उसकी आँखें हिरन हो गयीं । तीन हज़ारकी मोटर ख़रीदी और तीन मुक़दमे शुरू किये : दो दीदानीके और एक फ़ौजदारीके । तीसमारख़ाँके नामसे लोग अब उसका मज़ाक़ उड़ाते हैं । हरिनन्दन

भी कल तक एक ग़रीब था। दूरके रिश्तेकी बुआ उसे भी दस हज़ार दे मरी। तीन हज़ारमें उसने अपने बूढ़े पिताका ऋण उतारा, एक हज़ारमें घरकी मरम्मत की, एक हज़ारमें लड़की ब्याही, पाँच सौमें पड़ोसके मन्दिर-का फ़र्श बनवा दिया और बाक़ीमें अपनी दूकान खोल ली। दो-चार आने रोज़ ग़रीबोंमें बाँट देता है, सब उससे ख़ुश हैं।

दोनोंने ही सिर ऊँचा किया, पर एक अपराधी हो गया और दूसरा सम्मानित, सीमाका यही रूप।

और लीजिए: श्रीकृष्ण भी लेखक है और नन्दराम भी। दोनों चाहते हैं कि उनके लेख प्रशंसित हों और उनके मित्र उन्हें लेखकके रूपमें जानें।

श्रीकृष्ण अपने लेखका आरम्भ करनेसे भी पहले, जो मिलता है, उसीसे उसका ज़िक्र करने लगता है: "मुझे स्त्रियोंके बारेमें एक लेख लिखना है। एक सम्पादकका बड़ा तक़ाज़ा हो रहा है। 'सरस्वती' में उन्होंने जबसे मेरा वह पहला लेख पढ़ा, तभीसे मेरे पीछे पड़े हैं। फ़ुरसत नहीं मिलती, वरना एक लेख रोज़ लिखता।" लेख लिखकर वह अपनी मेज़पर रख लेता है और जो आता है, उसे ही सुनाता है – जो लेखको समझने योग्य नहीं, उनसे भी चर्चा करता है। सबसे पूछता है कैसा रहा? फिर-फिर पूछता है और कहीं किसी भी लेखकी चर्चा हो, उसके साथ अपनी तुलना अवश्य कर बैठता है।

मित्रोंसे ज़बरदस्त तारीफ़ वसूल करता है और फूल उठता है। पीछे उसके मित्र उसे हौलू कहते हैं।

नन्दरामके लेख बराबर पत्रोंमें छपते हैं, पुरस्कार भी उसे मिलते हैं और समारोहोंके निमन्त्रण भी। अपने लेखोंके प्रसंग आनेपर वह भी मित्रोंसे चर्चा करता है और उसके मित्र जानते हैं और मानते भी हैं कि वह एक श्रेष्ठ लेखक है।

दोनोंमें प्रशंसाकी चाह है, पर एकको सीमाने प्रशंसनीय बना दिया

और दूसरेको हौलू । सिर ऊँचा रखनेकी भी यही बात है – सिर ऊँचा रखो, पर शक्तिकी सीमा देखकर। यों ही सिर ऊँचा किये फिरोगे, तो लोग तुम्हें ऊँट कहेंगे। सिर ऊँचा करनेकी भी एक कला है और इस कलाकी कुंजी यह सीमा ही है।

अच्छा, तो सीमामें ही सही, निष्कर्ष यह निकला कि सिर ऊँचा रखो। सुननेमें यह अच्छा लगता है, पर भीतर तक उतरें तो बड़ी बेहूदी बात है। सिर ऊँचा रखनेकी बातको अच्छा-अच्छा कहते युग बीत गये, इसीसे अच्छा लगता है। शब्दमें स्वयं तो कुछ शक्ति होती ही नहीं, जनताके व्यवहार-द्वारा यह शक्ति उसमें प्रतिष्ठित की जाती है। 'सिर ऊँचा रखो' इसमें जो एक ऊँचाई हमें भासती है, वह भी प्रतिष्ठित की हुई है, स्वयं अपनी नहीं है। तो यह सोचना होगा कि इस वाक्यमें ऊँचाईकी यह भावना कैसे प्रतिष्ठित की गयी या हो गयी ?

सिर अपनी जगहपर है, पैर अपनी जगह। सभा-समाजमें कोई पैर ऊँचा करके बैठे, तो यह असभ्यता है। बड़ी उलझन है, पर यह सुलझ जायेगी, यदि हम और आगे बढ़ें और यह पा लें कि असलमें मौलिक तत्त्व यह है कि सिर नीचा न करो, जहाँ वह प्रकृति-द्वारा स्थापित है, वहाँसे उसे नीचे मत झुकाओ। इस सत्यका – सत्त्वका – लोकव्यवहारमें अनुवाद हो गया : सिर ऊँचा रखो। सिर ऊँचा रखो; यानी सिर नीचा न करो।

सिर नीचा न करो; क्योंकि सिरको नीचा करना पाप है, पर सिर नीचा न करें, तो माता-पिताके चरण कैसे छुएँ, देव-वन्दना कैसे करें ? वहाँ सीमाका प्रश्न था, यहाँ उद्देश्यका प्रश्न है।

'सिर नीचा करना' एक प्रतीक है : लज्जाका, दीनताका, साहसभंग-का, निश्चयकी शिथिलताका, लघुताकी स्वीकृतिका।

राधेश्यामने चोरी की, पकड़ा गया, अब उसकी आँखें ऊपर उठतीं ही नहीं। लज्जाने सिर नीचा कर दिया। प्राचीन-कालका एक दृश्य है : महाराज बाहरसे अचानक महलमें आ गये, चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया,

जो बाँदी जहाँ थी, वहीं नीचा सिर किये खड़ी रह गयी। महाराजने किसीसे कुछ नहीं कहा, वे उनकी ओर बिना देखे ही निकल गये, पर आँखें किसीकी नहीं उठीं, यह दीनताका बोधक है।

दस सिपाही क़तारमें खड़े है, बेहद थके हुए हैं। सेनापति पूछ रहा है : कोई उस पहाड़ीपर जा सकता है ? चौबीस मीलकी चढ़ाई है, सिपाहियोंका साहस भंग हो गया, सिर नीचा हो गया। ऊँचा सिर करके एकने कहा : मैं जाऊँगा। सेनापतिने कहा : शामसे पहले पहुँचना है। सिपाहीका सिर नीचा हो गया, यह निश्चयकी शिथिलता है। माता-पिता और देवताके चरणोंमें सिर झुकाना भी लघुताकी स्वीकृति है और राजा मानसिंहका मुग़ल-सिंहासनके सामने सिर झुकाना भी। उद्देश्य और भावनाने एकको पवित्रता दी है और दूसरेको हीनता। लज्जा, दीनता, साहस-भंग, अनिश्चय और लघुता ये मानवताका शोषण करनेवाली जोंकें हैं, जो हमारे व्यक्तित्वका रक्त चूसकर उसे खोखला बना देती हैं। इनसे हमे निरन्तर युद्ध करना है। इसी युद्धका नारा है : 'सिर नीचा न करो।' इसी नारेका फलितार्थ है : 'सिर ऊँचा रखो।'

ओह, विचारोंकी गंगामें कहाँसे कहाँ बह गया, बात तो इतनी ही है कि रात तकिया ऊँचा था।

जी, आप तो अपने ही हैं !

बात मुंहसे कही जाती है, मुँहपर कही जाती है और मुँह देखकर कही जाती है। उस दिन याद है न आपको उस मीटिंगमें मालवीयजी महाराज बोल रहे थे कि बिजली बुझ गयी और बिजली गुप्प, तो माइक चुप्प; पर वाह क्या गला था मालवीजीका और क्या फेफड़े कि उस उतनी बड़ी सभा-में भी उनकी दहाड़ सबके कानों तक पहुँचती रही। अरे भाई, सचमुच वे तो शेर थे अपने समयके !

बडा शानदार भाषण रहा उस दिनका और तालियोंकी गड़गड़ाहटसे आसमान गूँज-गरज गया, पर जब सभासे लौटे, तो याद है आपको चौधरी बलरामने रास्तेमें क्या कहा था ?

"हूँ, क्या कहा था ?"

वाह, सबसे ज़्यादा तो ठहाका मारकर उनकी बातपर आप ही हँसे थे और आप ही भूल गये ? रास्तेमें हम सब लोग जलसेकी तारीफ़ोंके पुल बाँधने लगे, तो चौधरी साहब बोले : "देखो जी, जहाँतक मालवीयजी महाराजके लेक्चरकी बात है, सो जो कहो थोड़ा है, पर जो जलसेकी बात पूछो, तो जमा तो ख़ूब था, पर बिजलीने दालमे किरकल कर दी।" और तब अपनी बातपर स्वयं ही टीका-सी करते हुए चौधरी साहब बोले : "भाई, लाख अच्छे हों लेक्चरमें, पर जबतक बोलनेवालेका मुँह न दिखाई दे, मज़ा नहीं आता।"

चौधरी साहबके अनुभवकी छायामें ही, तो मैं कह रहा हूँ आपसे कि बात मुँहसे कही जाती है, मुँहपर कही जाती है और मुँह देखकर कही जाती है। वैसे बात कही जाती है, मुँह फेरकर भी, पर वह बात होती है ग़ुस्सेकी, ताने-तनाज़ेकी और लाज-शरमकी। बात-चीत असलमें मुहब्बत-प्यारकी

राह-सड़क है और इसका ग़ुस्से या ताने-तनाज़ेमे उपयोग ऐसा ही है, जैसे हथियार बने तो होंगे कभी अपनेको बचानेके लिए ही, पर आज हैं वे भयानक युद्धोंके महासाधन !

पर ख़ैर, जीवनमे ग़ुस्सा भी है, प्यार भी है और हाँ, प्यार-मुहब्बतकी एक बात है वो, जो मुँह झुकाकर, आँख नीची करके कही जाती है और दूसरी है वह, जो कही तो जाती है मुसकराकर और शान्तिसे ही, पर उसका मन्शा होता है दूसरेको धोखा देना; निश्चय ही इस ढंगसे कि वह धोखा खा जाये, पर बुरा न माने !

आप तो जानते ही थे लाला रामसहायको ? हाँ, हाँ वे ही मंगलपुरा-वाले। पिछले साल बेचारे परमात्माके प्यारे हो गये, पर ख़ैर कोई दुःखकी बात नही। तीरासी वर्षकी उमर इस युगमे तो सवा शताब्दी है। संसारका सब सुख भोग लिया और सब कुछ छोड़ गये, ऐसी ज़िन्दगी और मौत भगवान् सबको दे।

बड़े ही भले आदमी थे बेचारे लाला रामसहाय। मेरे बड़े भाईके विवाहकी बात है कि पिताजी एक परेशानीमें फॅस गये। बात यह हुई कि भाईका रिश्ता जहाँ उन्होंने किया, वे पहलेसे अपने रिश्तेदार ही थे। कभी तो बेचारोंकी हालत ऐसी थी कि थानेसे कभी गाय-भैंसें नहीं हटीं और दर-वाज़ेसे घोड़ा, पर लक्ष्मी चंचला है। दो-तीन वर्ष हुए झटका खा गये और बस अब इज़्ज़त सॅभाले बैठे हैं। पिताजीसे उन्होंने कुछ छिपाया नहीं, पर पिताजीने सुना, तो उन्हे गलेसे लगाया और धीरज देकर कहने लगे : "ग़रीबी-अमीरी तो महाराज, आती-जाती लहरें हैं। लड़का आपका है और लड़की मेरी है। चार सेर चावल उबाल लेना सब काम हो जायेंगे। जाओ, फ़िकर मत करो।"

वे बेचारे बेफ़िकर हो चले गये, पर बात यह उन दोनोंके ही बीच रही और यहाँ एक झमेला खड़ा हो गया। पिताजीने अपने अन्दाज़से लोगोंको बारातमें चलनेको कहा, पर उनसे बिना पूछे चाचाजीने अपनोंसे

कह दिया और सबसे बड़े भाई साहबने भी। अब जो तीनों लिस्टें मिलायी गयीं, तो कोई ढाई सौ नाम बैठे और अभी रिश्तेदार, घरवाले और नौथारी अलग!

इस शताब्दीके आरम्भिक वर्षोंकी यह कहानी है। उन दिनों बड़ी लम्बी बारातें चढ़ा करती थीं। जात-बिरादरी मेल-मुलाक़ातमे जिसे न टोको, वही बुरा मानता था। फिर मुसीबत यह कि गरमीका मौसम और हरद्वारकी बारात, मुफ़्तमें तीर्थ-यात्रा; कौन चूकेगा इस पुण्य अवसरको और यों यह कोई तीन-सौ आदमियोंका क़ाफ़ला तैयार!

पिताजीने लाला रामसहायसे अपनी परेशानी कही, तो वे हँस पड़े: "वाह पण्डितजी, यह भी कोई परेशानीकी बात है। तीन-सौके तीन-सौको टोक दूँ और आप चालीस चाहें तो चालीस और चार चाहें तो चार ही चलें।"

पिताजीने कहा: "यह तो ठीक है लाला रामसहाय, पर जात-बिरादरीके सब रूठ बैठें तो क्या होगा?"

उछलकर लालाजी बोले: "कोई रूठ गया, तो फिर हमारी बात क्या हुई? बात तो तभी है कि रूठे कोई नही और जूतेमें पैर भी किसीका न पहुँचे।"

दूसरे दिन लाला रामसहाय पिताजीको लेकर निकले और पण्डितजी अनोखेलालके घर पहुँचे। बिरादरीमें अनोखेलाल मशहूर अकड़ूख़ाँ थे। इधर-उधरकी बात करके लालाजी उन्हें जगहपर लाये और बोले: "ये पण्डितजी एक झमेलेमें फँस गये हैं। इसीलिए हम आपके पास आये हैं। आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव। आप जानें; हरेकसे तो ऐसी सलाह हो नहीं सकती।"

इस भूमिकाके बाद बोले: "हमने तो इन्हे यह सलाह दी है कि भाई अपनों-अपनोंके नाम काट दो। बात यह है अनोखेलालजी कि जिस ग़ैरका नाम काटोगे वही बुरा मानेगा। आप तो शहरके सबसे बुद्धिमान् आदमी हैं, क्या राय है आपकी?"

अपनेपनके इस रिश्तेपर नयी वारनिश करते-से वे बोले : "राय बावन तोले पाव रत्ती ठीक है और सबसे पहले मेरा नाम छोड़ दो इसमें-से ।"

रामसहाय और पिताजी दोनों चिल्ला पड़े : "ना-ना यह कैसे हो सकता है, आपके चलनेसे तो हमारी शोभा ही है ।"

ग़रज़ यह कि पण्डित अनोखेलालका नाम कट गया और एक सप्ताहके बाद जो लिस्ट देखी तो उसमें पचपन नाम थे, क्योंकि लाला रामसहाय एक सप्ताहमें पिताजी, चाचाजी और बड़े भाई साहब, तीनोंके ही साथ घूमे और सबको बूटी पिला आये : "अजी आप तो अपने ही हैं" और यह बूटी इतनी कामयाब रही कि सब मान गये कि वे अपने ही हैं और फिर भी अपनेसे सौ कोस दूर रहे । बारातमें एक न जा सका ।

तभी तो कह रहा हूँ आपसे कि प्यार-मुहब्बतकी एक बात है वो, जो कही तो जाती है मुसकराकर और शान्तिसे हो, पर उसका मतलब होता है दूसरेको धोखा देना; निश्चय ही इस सफ़ाईके साथ कि वह धोखा तो खा जाये, पर बुरा न माने ।

बारातकी इस घटनाके कोई पचास वर्ष बाद अभी उस दिन हमारे ही एक दोस्तने हमें यह घूँटी इस सफ़ाईसे पिलायी कि हम देखते रह गये ।

शमशेर है हमारा पुराना लँगोटिया । साथ रहे, साथ पढ़े, साथ घूमे, साथ काम किया । जाने कितने खेत हमने साथ नापे और कितनी सड़कोंकी धूल साथ चाटी, पर क़िस्मतकी बात कि पट्ठेने राजनीतिमें ऐसी छलाँग मारी कि देखते-देखते हुकूमतकी एक शानदार कुरसीपर बैठा नज़र आया । अख़बारोंमें उसके दौरोंकी ख़बरें पढ़नेके बाद जब वह ख़ुद एक बार अपने शहरमें आया, तो हम भी उससे मिलने गये । डाकबँगलेमें वह ठहरा था और क्या कहने उसकी शानके । चमकदार रंगीन वरदियोंके अरदली अदबसे घूम रहे थे और मिलनेके लिए आये हुए बड़े लोग नम्बरवार बैठे थे । भला हमारा क्या नम्बर, हमारा तो वह पुराना दोस्त था, पर अरदलीने हमें भीतर घुसने नहीं दिया और कार्ड ले लिया ।

बहुत देर हो गयी किवाड़ ही न खुले। अरदलीसे पूछा, तो बोला : "किसी ख़ास दोस्तसे मुलाक़ात कर रहे हैं साहब। अभी उनके लिए चाय मँगायी है। वे चाय पी लें, तो आपका कार्ड दूँगा।"

हमने सोचा : हमसे बढ़कर उस गधेका और ख़ास दोस्त कौन है, जिससे वह कमरेमें घुसा यों घुटुर-घूँ कर रहा है, पर हम अपनेसे सवाल ही पूछ सकते थे, कुछ जवाब तो दे ही न सकते थे। मन-मसोसे इन्तज़ार कर रहे थे; करते रहे।

कोई आध-घण्टे बाद अपने रोबीले मुँहको गर्वीला बनाये हुए कमरेसे ठाकुर नौनिहालसिंह निकले। वे भीतरसे निकले, तो मैं जैसे पहाड़से गिर पड़ा। मुझे याद आ गयी वह सन्ध्या, जिसमें इन्हीं ठाकुर साहबने अपने गाँवमें जलसा करनेपर मुझे और शमशेरको अपने आदमियोंसे अपने सामने पिटवाया था। मैंने टटोलकर अपनी पसलियोंको देखा, तो आज भी उनमें उस मरम्मतकी कसक थी।

भीतर कमरेमें जाते ही जल-भुनकर मैंने शिकायत की, तो मुझे लिपटकर शमशेर साहब बोले : "अजी भाई साहब, आपकी क्या बात आप तो अपने ही हैं। इन गधोंसे मैं इसलिए मिलता-जुलता हूँ कि पार्टीको इन लोगोंकी ताक़त मिलती रहे।"

सुनकर मुझे हँसी आ गयी। मैंने मन-ही-मन कहा : क्यों भाई, यह लाला रामसहायका पचास वर्ष पुराना जुशान्दा तू मुझे पिला रहा है और तब वह बारातवाली बात ज्योंकी त्यों मेरी आँखोंमें घूम गयी।

बात यह है कि हर पुस्तकमें एक भूमिका होती है, हर जलसेमें प्रमुख वक्ताके भाषणसे पहले कुछ गाने या कविता पढ़वानेकी प्रथा है और जो भी किसीके पास अपने किसी कामसे जाता है, पहले ऐसी बात करता है जिससे उसका मन बहले और वह प्रसन्न हो।

"भला यह क्यों ?"

यह इसलिए कि हँड़ियामें दूध डालनेसे पहले हम उसे धोते हैं, पोंछते हैं, साफ़ करते हैं। बस यही बात है इसमें भी।

आप मेरी बात शायद पचा नहीं पाये, तो लीजिए, मैं उसे नये रूपमें आपसे कह दूँगा। पुस्तकमें भूमिका इसलिए लिखी जाती है कि पाठकके मनको वह पुस्तकके लिए एक जिज्ञासा दे दे, गाने और कविताएँ इसलिए कि उस भाषणके लिए जनता खिंच आये और मतलबकी बातसे पहले चिकनी-चुपड़ी इसलिए कि दूसरेका मन मुलायम हो। इसी तरह हँड़ियाकी धुलाई-सफ़ाई इसलिए कि उसकी खटास दूधको फाड़ न दे।

तो हम जब किसीसे कुछ ऐसी बात कहना चाहते है कि जो स्वयं हमारी निगाहमे ही ठीक नहीं है, तो उसके लिए हवा तैयार करते हैं, जिसमें वह बेठीक बात उसे पच जाये। आप तो अपने ही हैं, इसका मतलब है कि आपपर मेरा विशेष अधिकार है। यहाँतक कि मै एक अनुचित बात भी कहूँ, तो आपको वह माननी पड़ेगी और यह बात मैं आपसे इसीलिए तो कह रहा हूँ; वरना बात तो यह ऐसी है कि किसी ग़ैरसे कही जाये, तो वह लड़ पड़े – नाराज़ हो जाये !

अब बताइए कौन बेवक़ूफ़ है, जो इस दीवारको लाँघकर कहे कि नहीं साहब, मैं आपका अपना नहीं हूँ, मैं तो ग़ैर हूँ, और इसलिए नाराज़ हूँ। कोई इसके लिए तैयार नहीं है और इसलिए जेब कटती देखकर भी मुँह फेर लेनेमें ही भलाई दिखाई देती है।

आदमी आदमीको धोखा देता है यह सच है, पर इससे भी बड़ा सच यह है कि आदमी सबसे अधिक धोखा अपनेको देता है और उसका भी एक मन्त्र यही है : अजी आप तो अपने ही हैं।

"वाह, यह खूब कही आपने कि यह अपनेको धोखा देनेका भी मन्त्र है।"

ओहो, ख़ूब और बेख़ूब क्या थी इसमें, यह तो एक खुली बात है और फिर खुली बेखुलीकी क्या बात; लीजिए, देख ही जो लीजिए।

भाई रघुनन्दनजी हमारे गहरे मित्र है। हमदर्दीके हिमालय, तो कामके कैलाश ! आपपर जान दे दें और अपनेको भूले आपके ही काममे जुटे रहें, पर मुसीबत यह है कि ब्रह्माजीने किसीको भी बिना अधूरा किये नहीं छोड़ा। बेचारे रघुनन्दनजी भी ज़रा पेटके पतले हैं, बात पेटमें खपती नहीं है। कहीं किसीकी कुछ सुनें, तो चारसे कहे बिना चैन नहीं पाते।

उस दिन मेरे पड़ोसी रामशरणजीके यहाँसे आये, तो मेरे पासको सरककर और अपनी बुलन्द आवाज़को खुद ही धीमी करके बोले : "भाई साहब, आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव, किसी औरसे तो मै कह नहीं सकता, पर आप तो अपने ही है। सुना है आपने कि पुलिसको यह पता चल गया है कि रामशरण चोरोंसे माल खरीदकर धन कमाता है और अब वह उसके पीछे पड़ी है।"

मैने उन्हे धमकाया कि क्यों अपनी आदतके अनुसार तुम दूसरोंकी बातें इधर-उधर उड़ाते फिरते हो, तो बोले : "मैं किसी औरसे थोड़े ही कहता फिरता हूँ। बस आपसे ही कहा है और आप तो अपने ही हैं।"

मै जानता हूँ कि रघुनन्दनजो लाख कहें, मेरी कोई बात वे जान लें, तो उसे भी घर-घर गायेंगे और उन सबको अपने बनाते फिरेंगे। बात वही है कि अपना दोष अपनेसे छिपानेके लिए वे इस मन्त्रका जाप करते है।

इनसान, एक अजीब जानवर है, जो दूसरोंको ही धोखा नहीं देता, स्वयं अपनेको भी धोखा देता है और यह सब इस सफ़ाईके साथ कि धोखे-की चोट इतनी गहरी न हो जाये कि आदमी उफन पड़े और उसे सहनेसे इनकार कर दे।

और हाँ देखिए, ये सब किसीसे कहनेकी बातें नहीं है, फिर भी आपसे कह रहा हूँ, क्योंकि आप तो अपने ही हैं।

वे दो चेहरे : एक देखा, तो दूसरा अनदेखा

कुम्भमें, कुछ लोग कहते हैं बीस-पचीस लाख आदमी आये थे और कुछ-कुछकी राय है पन्द्रह-बीस लाख; दोनोंमे किसकी राय ठीक है, मैं नहीं जानता, पर इतना जानता हूँ कि दस लाखसे कम आदमी वहाँ नहीं थे।

दस लाख आदमियोंके दस लाख चेहरे और कमाल यह कि दसके दस लाख चेहरे एक-दूसरेसे अलग। क़ुदरतका यह सचमुच कमाल ही है कि दुनियाका हर चेहरा एक-दूसरेसे भिन्न है और उसके गलेकी आवाज़ भी।

क्यों जी, अगर दुनियामें हर आदमीका चेहरा और आवाज़ एक ही तरहकी होती, तो क्या होता ?

होता क्या, एक घपला मच जाता, कोई किसीको न पहचानता और तब आदमियोंकी हालत भी जानवरों-जैसी हो जाती कि मिले मिले, न मिले तो न मिले। सचाई यह है कि तब दुनियामें सभ्यताका जन्म ही न होता।

और लो, यहीं एक बात बताऊँ आपको। बात क्या है ज्ञानका भण्डार है कि यदि क़ुदरत हर आदमीका चेहरा और आवाज़ अलग न बनाती, तो सभ्यताका जन्म ही न होता, इस बातका असली मतलब यह हुआ कि अनेकता, विविधता और एकसे दूसरेकी विचित्रताके कारण ही संसारमें सब प्रकारकी उन्नतियाँ हुई हैं।

देखते नहीं आप कि चेहरों और स्वरोंकी भिन्नतासे भी दुनियाका काम नहीं चला और उसने एक ओर भिन्नताको जन्म दिया। वह भिन्नता है नामोंकी। इस तरह अब हरेक चेहरा और आवाज़ ही एक-दूसरेसे भिन्न नहीं, नाम भी भिन्न है।

इससे कार-व्यवहारमें सुभीता होता है इसमें सन्देह नहीं, पर एक बात है कि इससे आदमीकी एक परेशानी भी बढ़ गयी है और वह परेशानी है इन चेहरोंको याद रखनेकी। हर चेहरा अलग, हर आवाज़ अलग, हर नाम अलग; अब आदमी किस-किसको कैसे याद रखे !

न रखे याद, क्या कोई ज़रूरी है हर देखे चेहरेका याद रखना ? बात ठीक है, पर याद न रखनेसे भी तो काम नहीं चलता। अकसर ऐसा होता है कि इस याद न रखनेसे बड़ा झमेला खड़ा हो जाता है।

अभी उस दिन एक सज्जन मेरे कार्यालयमें धमाकेके साथ आकर खड़े हो गये। हँसीकी बात नहीं, सचमुच धमाकेके साथ और लगे हैलो-हैलो करने, जैसे मेरे कोई लँगोटिया यार हों। अब वे उँडेले डाल रहे हैं दोस्तीके लच्छे और मैं सकपकाया हुआ कि हे भगवान्, यह आखिर है कौन ?

स्मृतियोंके चौराहेपर मैंने जाने कितने चक्कर काटे, यादका घोड़ा जाने कहाँ-कहाँ घूम आया, पर उनका अता-पता ही न हाथ लगा। रिश्ते-दारोंकी सारी लिस्ट भीतर-ही-भीतर कई बार खदरौल डाली, दोस्तोंकी बहीके पन्नेके पन्ने उलट गया, पर उनका नाम कहीं दिखाई न दिया। स्कूल-कॉलेजमें तो कभी पढ़नेका मौक़ा ही जीवनमें न आया, इसलिए क्लास-फ़ेलोकी सूची मेरे पास कहाँ होती, पर हाँ, पिछले सालोंमें दो-तीन बार जेल काटना क़िस्मतमें लिखा था, इसलिए जेल-फ़ेलोंकी लिस्ट दिमाग़में है, उसे भी टटोल गया, पर ये हज़रत कहीं उसमें भी दिखाई न दिये।

अब हाल यह है कि वे उफने पड़ रहे हैं और मैं बच-बचकर बातें किये जा रहा हूँ, पर देखता हूँ उनका सामान भी मेरी मेज़के सामने ही रखा है – कई छोटी-बड़ी अटैचियाँ, बड़ा-सा बिस्तर, खानेकी टोकरी, थर्मस, और भी बहुत कुछ।

सोचा : यह जांगलू कहाँसे आ कूदा है, यह पता चले, तो शायद

अन्दाज़की बेल फैले और पूछा : "कहिए जनाब, इस साज़ो-सामानके साथ कहाँसे आ रहे हैं ?"

बोले : "मसूरी गया था। वृक्षशास्त्रमें मेरी दिलचस्पी है। तुम्हारे शहरका सरकारी बाग़ देखना था। सोचा : तुमसे भी मुलाक़ात हो जायेगी, बहुत दिन हुए मिले और बाग़ भी देख लूँगा। बस इधरसे निकल आया।"

साफ़ है कि मेरा यह निशाना भी ख़ाली गया। तब मैंने दूसरा साधा और पूछा : "तो घर पहुँचनेसे पहले और कहाँ-कहाँके बाग़ देखने हैं ?"

बोले : "बस, अब तो सीधा बीकानेर ही जाऊँगा, बहुत दिन हो गये घरसे निकले।"

इस जवाबसे इतना तो पता चला कि ये बाबूजी बीकानेरके निवासी हैं, पर मुझे इसी जन्ममे कहीं मिले थे या पहले जन्मकी मुहब्बत इन्हे यहाँ खींच लायी है, यह मसला अब भी एक रहस्य ही रहा।

मेरे बेटेने यह बात ताड़ ली और मैं उठकर बाहर गया, तो उसने इस रहस्यका भेद खोल लिया कि ये महाशय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके किसी अधिवेशनमे मुझे मिले थे और वहाँ हम दोनों साथ रहे थे, एक ही कमरेमे या पास-पासके कमरोंमें।

ख़ैर, इज्ज़त बच गयी, बात बिगड़ते-बिगड़ते रह गयी और अब मैं उनसे खुलकर बातें कर सका, पर चेहरेको याद रखनेका मसला तो इससे हल नहीं होता, क्योंकि न तो ऐसा होशियार बेटा ही भगवान्ने सबको दिया है और न मैं अपने बेटेको अपना 'चेहरा-पहचान-मन्त्री' बनाकर हर समय अपने साथ ही रख सकता हूँ।

फिर यह भी तो नहीं कि चेहरा पहचाननेकी ज़रूरत मेरे कार्यालय-में ही पड़ती है। उस दिन रेलमे वे देहाती सज्जन मिल गये और मिलते ही बोले : "मौसाजी, नमस्ते!" मैं नहीं जानना कि मौसाके जोड़-तोड़ क्या है और कौन-कौन किस-किसका मौसा होता है, फिर भी कहना पड़ा : नमस्ते भैया!

कहना पड़ा और कह भी दिया, पर बातचीतकी गाड़ी हमारे देशमें यों ही तो नहीं रुक सकती। वे बोले : "मौसीजी तो अच्छी हैं ?"

अब मैं क्या जवाब दूँ उन्हें, क्योंकि यदि मौसीजीका अर्थ मौसाजीकी पत्नी ही है, तो उस सौभाग्यवतीको स्वर्ग सिधारे बरसों बीत चुके, पर स्वयं पत्नी-विहीन होकर भी मैंने उन्हें मौसी-विहीन करना उचित न समझा और कहा : "जी, आपकी कृपासे सब कुशल हैं।"

बोले : "फिर तो आपके दर्शन ही नहीं हुए। हमारे यहाँ तो सब आपको हमेशा याद करते रहते हैं !" मैं बह पड़ा था, तो बहना ही था, कहा : "यह सब आपकी कृपा है।"

गाड़ी धीमी पड़ी, वे उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले : "अगली तीजोंपर ज़रूर आना मौसाजी और मौसीजीको भी ज़रूर साथ लाइयो !"

वे चले गये, पर मैं सोचता रहा कि आज मैं यों किसका मौसाजी बन गया और अगली तीजोंपर मुझे किसका आतिथ्य ग्रहण करना है? पता नहीं वे बेचारे चेहरोंकी वैरायटी शोमें घूम रहे थे या मैं ही नालायक़ मौसा निकला कि उनके चेहरेकी याद न रख सका !

कुछ भी हो चेहरोंका चक्कर बड़ा विकट है और देखे हुए चेहरोंको याद रखना आसान नहीं, पर यह कैसी बात है कि चेहरोंकी इस भूलभुलैया-में कुछ ऐसे भी चेहरे हमारे सामनेसे गुज़रते हैं कि उन्हें भूलना फिर हमारे बसकी बात नहीं होती – वे आँखोंकी राह शायद हमारे दिलोंपर नक़्श हो जाते हैं, खुद जाते हैं कि बिना चाहे और बिना कोशिश किये भी हमें याद आते रहते हैं और भले ही हम भुलक्कड़ हों और उन्हें भी भूल जाते हों, जिनके हम नक़द मौसाजी हैं, पर उन्हें भूल नहीं पाते !

ऐसे ही दो चेहरोंकी कहानी मैं आज आपको सुनाना चाहता हूँ। शायद आप भी उन्हे भूल न पायें !

हमारे नगरके हाई स्कूलमें एक प्रधानाध्यापक आये, तो उनका नाम जनताके लिए पड़ गया : बंगाली हेडमास्टर। बात यह है कि वे बंगालके

निवासी चट्टोपाध्याय थे, पर थोड़े दिनोंमें ही उनका नाम बदल गया और उन्हें सब कहने लगे : झुनझुनेवाला हेडमास्टर !

झुनझुना एक छोटा-सा खेल; जो गोदके बच्चोंको बहलानेके काम आता है; क्योंकि हर झुनझुनेमें एक आवाज़ होती है : झुन-झुन-झुन और बच्चोंका मन उसमे उलझ जाता है। झुनझुनेवाला हेडमास्टर; भला यह नाम हमारे उन हेडमास्टर महोदयका क्यों पड़ गया ?

प्रश्न उचित ही है, क्योंकि सभी जानते हैं कि हाई स्कूलमें दूध पीते बच्चे तो पढ़ते नहीं कि प्रधानाध्यापकजीके लिए झुनझुना जेबमे रखना भी एक ज़रूरी ज़िम्मेदारी समझी जाये कि बालक कुनकुनाया और उन्होंने खनखनाया ! फिर किसी हाई स्कूलके हेडमास्टरका यह लोकनाम क्यों, कैसे ?

बात यह थी कि हमारे हेडमास्टर साहब ज़रा टिपटॉप आदमी थे। वे इस बातको बहुत नापसन्द करते थे कि जो चीज़ उन्होंने जहाँ रख रखी है, उसे कोई इधर-उधर सरका दे और हमारे यहाँ ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो चीज़को देखकर ज्योंकी त्यों रख सकें, तो बस जहाँ किसीने चट्टो-पाध्यायजीकी चीज़ छुई कि वे छछूँदर हुए !

अन्दाज़न ऐसा मालूम होता है कि वर्षों यह प्रयत्न करनेपर भी कि लोग उनकी चीज़ें न छुएँ और छुएँ तो ज्योंकी त्यों रख दें, जब उन्हें सफ-लता न मिली, तो उन्होंने झुनझुनेका आविष्कार किया।

झुनझुनेका आविष्कार ? हाँ जी, झुनझुनेका आविष्कार ! देखिए, मेरा मतलब यह न समझिए कि मैं यह कह रहा हूँ कि झुनझुना इस देशमें था ही नहीं। उसे पहले-पहल चट्टोपाध्यायने ही खोज निकाला। मेरा मतलब यह है कि उन्होंने झुनझुनेका एक नया प्रयोग आरम्भ किया।

उन्होंने एक बहुत ख़ूबसूरत प्लास्टिकका बना जापानी झुनझुना ख़रीद लिया। तीन उसमें घुँघरू और तीन ही रंगीन रिबन। अब झुनझुना उनको मेज़की दराज़में और वे काममें लीन। स्कूलके एक बालकका

पिता उनके पास आया कि मेरे लड़केको फ़ीस माफ़ कर दीजिए। उन्होंने क्लर्कको बुलवाया कि वे स्थिति समझें, इतनेमें वे सज्जन उनकी मेज़पर रखे पेपरवेटको उठाकर यों ही देखने लगे। पेपरवेट एक पेपरवेट, फिर उसका उठाना क्या, देखना क्या, पर आदत हम लोगोंकी।

बस उन्होंने पेपरवेट उठाया कि चट्टोपाध्यायने दराज़ खींचा और वह झुनझुना निकालकर उनकी ओर बढ़ाया "लीजिए, इससे खेलिए, वह तो एक मामूली पेपरवेट है !"

अब एक अजब दृश्य कि मेज़के इधर प्रधानाध्यापक चट्टोपाध्याय और उधर वे सज्जन। चट्टोपाध्याय उनकी ओर अपना झुनझुना उँगलियोंमें निहायत नज़ाकतके साथ थामे कह रहे हैं "लीजिए, इससे खेलिए !" और वे सज्जन भौंचक और झेंपे हुए, पर हमारे चट्टोपाध्याय अभी नहीं मानेंगे और अपनी बात नये-नये रूपोंमें दोहराये जायेंगे : "हाँ हाँ, लीजिए भी, इसमें शरमानेकी क्या बात ? अरे साहब, आप तो नाहक़ शरमा रहे हैं, लीजिए, ज़रा दिल बहलाइए। हाँ जी, बूढ़े और बालकका दिल एक-सा होता है और झुनझुना दोनोंके कामकी चीज़ है। लीजिए, शौक़ फ़रमाइए। ज़रा बजाइए, तो तालके साथ, इसमें खेल और संगीत दोनों है।"

चट्टोपाध्याय यह सब बारी-बारीसे कहे जा रहे हैं और नये-नये ढंगसे झुनझुना भी बजाते जाते हैं। वे बढ़ रहे हैं, नये-नये तरहका मुँह बना रहे हैं और सामनेवाला इस हालतमें है कि न पेपरवेट नीचे रख पा रहा है, न कुछ कह ही – बस झेंपमें डूबा शायद सोच रहा है कि हे भगवान्, आज कहाँ आ फँसा !

बस चट्टोपाध्यायने दो-चारको ही अपने झुनझुनेसे खिलाया था कि वे बंगाली हेडमास्टरसे झुनझुनेवाला हेडमास्टर हो गये। उन्हें हमारे नगरसे गये कई युग गुज़र गये, पर जब भी कोई मेरी मेज़की चीज़ोंको ख़ामख़ा छूता या इधर-उधर करता है, उनका चेहरा मुझे याद आ जाता है और मैं अनुभव करता हूँ कि वे इस आदमीको अपना झुनझुना दिखाकर कह रहे

हैं : "हाँ, हाँ, लीजिए, शौक़ फ़रमाइए। अरे साहब, आप तो नाहक़ शरमा रहे हैं, लीजिए, ज़रा दिल बहलाइए।"

मेरा ख़याल है कि देखे बिना ही हमारे हेडमास्टरका चेहरा अब आपको भी अकसर याद आया करेगा।

सचाई यह है कि इस दुनियामें जहाँ हर चेहरेकी रंगत अलग है, चेहरोंको याद रखना बहुत मुश्किल है, पर कुछ चेहरे ऐसे है कि हम उन्हे याद रखना चाहे या न चाहे, उन्हे हम भुला ही नहीं सकते। ऐसा मालूम होता है कि आँखोंकी राह हमारे हृदयपर वे अपना शासन जमा लेते है। ऐसे एक चेहरेकी कहानी अभी मैं आपको सुना रहा था। लीजिए, इस दूसरी कहानीमें एक और कमाल है कि यह जो दूसरा चेहरा मुझे अकसर याद आता है और जिसे मैं भुला नहीं पाता, उसे मैंने कभी देखा नहीं है।

"वाह, जो चेहरा आपने देखा ही नहीं वह आपको याद कैसे आता है?" प्रश्न ठीक, पर उसका उत्तर मैं दे तो चुका हूँ कि यह एक कमाल है, सचमुच यह एक कमाल है, पर ऐसा कमाल नहीं कि समझ ही न आये। लीजिए, आप यह कहानी सुन जो लीजिए।

मेरे नगरमें एक ढाबा है। कभी-कभी मुझे भी वहाँ रोटी खानेके लिए जाना पड़ता है। पिछली लड़ाईके दिनोंकी बात है – मौसम सर्दीका था। मैं एक दिन वहाँतक गया, तो ढाबेवाले पण्डितजी परेशान थे और किसीको लगातार गालियाँ दे रहे थे। उनके हाव-भावसे मै जान गया कि जिसे गालियाँ दे रहे हैं, वह इस समय उनके सामने नहीं है। मामलेको समझनेके ख़यालसे मैंने पूछा : "क्या बात है पण्डितजी, किसपर नाराज़ हो रहे हो?" बोले : "तीन-चार दिन हुए एक नौकर रखा था, आज चोरी करके भाग गया।" और फिर उसके नामपर उन्होंने बहुत-सी गालियाँ दे डालीं। मेरे साथ भी बहुत बार ऐसा हुआ है और मैं जानता हूँ कि लोग जिस थालीमें खाते हैं उसीमें छेद करते हैं। मनुष्यका स्वभाव विश्वासी; वह विश्वास करता है और ठगा जाता है।

घटनाको पूरी तरह जाननेके लिए मैंने पूछा : "कहाँ हो गयी चोरी ?" जवाब मिला : "अजी, चोरी क्या हो गयी, कमाल हो गया। मैं सुबह शौच गया और कुएँपर नहाया, बस इतनी देरमें जाने कैसे बदमाशने अलमारी खोल ली और चम्पत हुआ।" इतनेमे किसीने पूछ लिया : "बिस्तर-विस्तर तो नहीं ले गया भाई? आज-कल तो यह मामूली बात हो गयी है।"

जवाब मिला : "मैंने सुसरेको कपड़े दिये ही कहाँ थे, जो ले जाता। एक बोरी दे रखी थी, उसपर पड़ रहता था और अपनी चादर ऊपर लपेट लेता था।"

जवाब सुनकर मुझे बिजली-सी छू गयी। मैंने अपने कपड़े गिने : बनियाइन, स्वेटर, गरम कुरता, बण्डी। मैं दिनमें चार कपड़े पहने हुए था और वह लड़का दिसम्बरकी रातमें एक चादर लपेटकर सो जाता था। उसे कैसी मीठी नींद आती होगी !!!

तभी आ गया पण्डितका लड़का – वह पुलिसमें रिपोर्ट लिखाने गया था। पण्डितजीने उससे पूछा : "अरे भाई, अलमारी खोलकर देख तो, कितने रुपयेकी चपत लगी ?"

लड़केने अलमारी खोली, हिसाबका परचा देखा और तब कहा : "बापू, इसमें छब्बीस रुपये थे अब पन्द्रह रुपये हैं। कम्बख़्त ग्यारह रुपये ले गया।" यह सुना तो एक नया सवाल खड़ा हो गया कि जब उस लड़केने अलमारी खोल ही ली, तो वह ग्यारह रुपये ही क्यों ले गया ? ये बाक़ी पन्द्रह रुपये लेनेमें उसे क्या दिक़्क़त थी ?

इससे एक दिन पहले ही मैं अपने पास रहते एक लड़केके लिए ग्यारह रुपयेमें कण्ट्रोलका एक कम्बल ख़रीदकर लाया था। अचानक मेरे मनमें आया कि क्या उस लड़केने कम्बलके लिए ही ग्यारह रुपये निकाले ?

मैं खाना खाकर कण्ट्रोलकी दूकानपर गया, तो पता चला कि आज़ एकदम सुबह फटे कपड़ोंमें एक लड़का कम्बल ख़रीदकर ले गया है। मेरा

अनुमान अब विश्वासमें बदल गया और यह घटना मेरे लिए अब एक ग़रीब, अनपढ़ और असहाय भारतवासीके चरित्रका नमूना हो गयी।

अब जब भी कहीं किसी चोरी या चोरकी चर्चा चल पड़ती है, मुझे उस लड़केका अनदेखा चेहरा याद आ जाता है और आप ही मेरा सिर उसके प्रति सम्मानसे झुक जाता है। क्या आप इस चेहरेको कभी भूल सकेंगे ?

ओह, याद ही न रहा !

मेरे एक मित्र हैं ज़िन्दल साहब । हाँ जी, साहब ही समझिए उन्हें ! अब अँगरेज़ तो चले गये हैं और हर भारतीय उनका उत्तराधिकारी – वारिस है, पर ज़िन्दल साहब उन दिनों भी अँगरेज़ोंके गोद लिये बेटे थे, जब १५ अगस्तका स्वप्न कुछ पागलोंको छोड़ किसीकी भी आँखमें न था !

"हूँ, हूँ; अँगरेज़ोंने अपने सम्पर्कसे सचमुच एक ऐसा वर्ग बना लिया था, जो नाम-रूपमें भारतीय होकर भी मानसिक दृष्टिसे अँगरेज़ ही था और अँगरेज़ भी गुणोंमें नहीं, दुर्गुणोंमें और हमारी नज़रसे उसका सबसे बड़ा दुर्गुण यह कि अपने देशके हितोंके विरुद्ध वह अँगरेज़ी राज्यका समर्थक, तो उन्हींमे-से एक होंगे ये आपके मित्र ज़िन्दल साहब ?"

ओह हो, बड़ी ख़राब आदत है आपमें । मेरी बात पूरी हुई नहीं और जड़ दिया यह प्रश्नका लम्बा पुछल्ला । अरे साहब, बातचीतका क़ायदा यह है कि दो सुननेके बाद एक कहे, पर आपका क़ायदा शायद यह है कि आधी सुनें और ढाई कहें, तभी तो लोग-बाग आपसे बातें करते कतराते हैं, कन्नी काटते हैं और कहते है कि आपसे बात करना, तो झाड़ीमें उलझना है !

मेरे मित्र दुर्गुणोंमें नहीं, सद्‌गुणोंमें अँगरेज़ोंके वारिस हैं । समयके पाबन्द, जीवनमे व्यवस्थाके पूरे हामी । आप उन्हें सात बजे सभामें बुलायें, तो पौने सात बजे अपनी मोटरमें बैठे नज़र आयेंगे और ड्राइवर मोटरको तेज़ हाँक दे और वह सभाके दरवाज़ेपर दो मिनिट कम सात बजे पहुँच जायें, तो मेरे मित्र दो मिनिट तक मोटरमें ही बैठे रहेगे और ज्यों ही बड़ी सुई बारहको छूती-सी दिखाई देगी कि वे अपनी चादर सँभालते हुए उतरेंगे

और सभा-भवनमें प्रवेश करेंगे। बहुत बार ऐसा होता है कि जब वे सभा-भवनमें प्रवेश करते है, तो तबतक वहाँ उन्हे बुलानेवाले मन्त्रीजी भी नहीं पहुँचे होते, पर उन्हे इससे कोई मतलब नहीं – वे कहते हैं कि निमन्त्रणके समयपर पहुँचना हरेक निमन्त्रितका कर्तव्य है। बुलानेवालेकी ज़िम्मेदारी है कि वह समयसे पहले पहुँचकर सभाकी व्यवस्था करे, पर यदि दूसरे लोग अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निभाते, तो मै देरसे पहुँचनेकी ग़ैर-ज़िम्मेदारी क्यों करूँ? और अन्तमें वे अपनी सफ़ेद चादरको चतुरतासे सँभालते-सँवारते-से कहते है : अरे भाई, दूसरोंको देखकर मैं अपनी आदत ख़राब नहीं कर सकता!

समझे आप, ऐसे हैं मेरे मित्र जिन्दल साहब, पर मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई, आप सुनते रहिए। मुझे डर है कि आप फिर कहीं बीचमें ही न टमक पड़ें। मै एक दिन उनके घर बैठा बच्चोंसे बातें कर रहा था कि वे कहीसे झपटे-सपटे-से आये। आदत है उनकी यह कि आयेंगे आँधी-से और जायेंगे हाथी-से। आये, तो श्यामाजीने कहा : आज शामको छह बजे कहीं न जाइएगा।

अपने गपोलू चेहरेपर उगी नन्हों मूछों तक मुसकराहटकी रेख खींचते हुए-से बोले : "क्यों क्या बात है? सिनेमा चलनेका प्रोग्राम मालूम होता है?"

अपने चुन्नू-मुन्नूकी तरफ़ देखते हुए श्यामाजीने कहा : "यहाँ तो चौबीस घण्टे अपना ही सिनेमा नहीं निमटता, दूसरा सिनेमा देखने कहाँ जायें?"

मैंने बातको नया रंग देते हुए पूछा : "तो इस सिनेमाके डायरेक्टर आप ही मालूम होते है?"

बहुत गम्भीर-सा मुँह बनाकर बोले : "जी, पिछले पन्द्रह वर्षोंमें तो मैं ही था, पर जिस दिन भारतकी विधान-परिषद्ने यह पास किया कि नर-नारीके अधिकार समान होंगे, श्रीमतीजीने झगड़कर अगले पन्द्रह वर्षोंके लिए यह पद मुझसे ले लिया है!"

हम लोग हँस पड़े, तो मित्रने अपनी पत्नीसे पूछा : "अच्छा, तो शामको घरसे बाहर न निकलनेकी क़ैद लगायी गयी है ?"

"क़ैद क्या होती, आज शामको आलूके पीठीके पराँवठे बनानेका प्रोग्राम है। साथमें आलू-मटरकी सब्ज़ी, धनियेकी चटनी, गाजरका अचार और बथुएका रायता रहेगा। गरम-गरम खाना। और क्या होता, यही बात है !"

मेरे मित्रने तभी अपनी डायरी देखी और भड़भड़ाये-से एकदम बोले : "ना, ना, आज हम शामको नहीं रह सकते। आज तो हमे सेठजीके यहाँ दावतमें जाना है !"

आलूके पराँवठोंका प्रोग्राम समाप्त हो गया और उसके साथ ही हमारी पराँवठे खानेकी उम्मीद भी ख़त्म हुई। हम अपने घर चले आये।

दूसरे दिन प्रातःकाल रामलीला कमेटीके चुनावके सिलसिलेमें हम अपने मित्रके घर पहुँचे तो छूटते ही श्यामाजी बोलीं : "भाई साहब, कल तो गाड़ी छूट गयी और बाबूजो प्लेटफ़ॉर्मपर खड़े रह गये !"

क्या हुआ भाई, कौन-सी गाड़ी छूट गयी और कौन-से बाबूजी खड़े रह गये ? मैंने पूछा, तो हँसते-हँसते वे बोलीं : "हमारे बाबूजी मटरगश्तीमें कल सेठ साहबजीकी दावतमें जाना भूल गये। मुझे ख़याल था कि वे नौ बजे लौटेंगे, मैं खाना-दाना कर, ताला लगा, एक विवाहमें चली गयी। नौ बजे लौटी तो देखा, बाबूजी अपनी चादर सँवारे दरवाज़ेके सामने इधरसे उधर और उधरसे इधर ऐसे घूम रहे हैं, जैसे जेलके बाहर सन्तरी घूमता रहता है। मालूम हुआ कि पेटमे चूहे कूद रहे हैं। जल्दी-जल्दी चूल्हा जोड़ा और तब कहीं दस बजे जाकर आँतोंको चार गस्से मिले।"

बातचीत ख़त्म हुई और हम दोनों उठ चले, पर हम दरवाज़ेके बाहर निकले ही थे कि क्या देखते हैं, सामनेसे अपनी नयी मोटरमें बैठे सेठजी चले आ रहे हैं। मेरे मित्र मोटर देखते ही सुन्न हो गये और बोले : "लो अब आयी आफ़त, बेभावके पड़ेंगे। सेठजीने मुझसे पूछकर दावतकी तारीख़

रखी थी और वहाँ मुझे मान्य अतिथियोंका परिचय नगरके मित्रोंसे कराना था – पता नहीं कल वहाँ कैसी भद्द हुई होगी ?"

मित्रकी बात बीचमें ही थी कि कार उनकी बग़लमें आ लगी और दरवाज़ा खोल सेठजी नीचे उतरे। मेरे मित्रके काटो, तो ख़ून नहीं, पर संकटकी पराकाष्ठा सूझकी जननी है। मेरे मित्र इन पलोंमें मोरचेके लिए तैयार थे। सेठजीकी तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए बोले : "आपकी उम्र बहुत होगी। मैं अब आपको टेलेफ़ोन कर पूछने ही जा रहा था कि शामकी दावतके लिए किसी चीज़की ज़रूरत हो, तो भेज दूँ ?"

सेठजीने विस्मयसे पूछा : "कैसी शामकी दावत मियाँ ?"

मेरे मित्र भी विस्मयकी मुद्रामें ही बोले : "आज शामको आपके यहाँ दावत है न ! क्यों कैन्सिल हो गयी क्या, पर मुझे तो कोई सूचना नहीं मिली ?"

सेठजी बोले : "जनाब, आपने पी तो नहीं ली; हमारे यहाँ तो दावत कल शाम थी। आपके न आनेसे सब चौपट हो गया। आप थे कहाँ ? हमने मोटर भेजी, तो घरमें ताला लगा था। सारे सिनेमा हॉल छान मारे, पर कहीं पता नहीं। आख़िर तुम जा कहाँ मरे थे !"

मेरे मित्र जैसे अचानक छतसे गिर पड़े और एकदमसे ऐसे बोले जैसे पैरके नीचे जला कोयला आ जाये—"ऐं ! कल थी आपके यहाँ दावत ?" फिर ज़रा सँभलते-से बोले : "नहीं नहीं; दावत आज शामको है, यह आपने ख़ूब बनाया मुझे !"

सेठजी अपने दिलकी दुखनको गलेमें घोलते हुए-से बोले : "आप मज़ाक़ बताते हैं, सचमुच कल मैं बहुत परेशान हुआ !"

मेरे मित्र उस दुखनको अपनेमें लेते हुए-से बोले : "तब तो सचमुच यह अजीब ग़लत-फ़हमी हुई।"

सेठजीके दिलदिमाग़पर मुहर-सी लगाते हुए मेरी तरफ़ देखकर मेरे मित्र बोले : "मैं अभी भाई साहबसे कह रहा था कि रामलीला कमेटीके

कामसे आप मुझे जल्दी छुट्टी दे दीजिएगा। शामको सेठजीके यहाँ दावत है और मुझे तीन-चार घण्टे पहले पहुँचना है वहाँ !"

सेठजीने मेरी तरफ़ देखा। यह बिना कचौरियोंके झूठी गवाही देना था। मुझे ज़ोरसे हँसी आ गयी, पर मेरे मित्रने ग़ज़बका पैंतरा काटा। मेरे कन्धेपर हाथ मारकर बोले : "हाँ भाई साहब, हँसीकी तो यह बात ही है कि मैं १० अप्रैलको ११ अप्रैल समझता रहा।"

मेरे मित्रने अब ऐसा मुँह बनाया कि आज तक शायद ही किसी अभिनेत्रीने विधवाका अभिनय करते समय वैसा बनाया होगा। उस चेहरेसे खिन्न होकर सेठजी बोले : "अरे भाई, दुःखी होनेकी इसमें क्या बात है ? भूल-चूक तो आदमीके साथ ही लगी हुई है।"

मामला निमटा, सेठजी मोटरमे चढ़े और हम आगे बढ़े। मेरे मित्र अब बहुत प्रसन्न थे और मैं उनकी प्रसन्नताका रस ले रहा था।

कुछ आगे बढ़े, तो मेरे मित्र बोले : "कहिए कैसी रही ? आपने तो हँसकर चौका ही लगा दिया था, पर मैंने भी वो तरह दी कि गुड़ गोबर होनेसे बच गया या यों कहिए कि गोबर ही गुड़ हो गया !"

मैंने कहा : "गुड़ तो गोबर होनेसे वाक़ई बच गया, पर प्रश्न तो यह है कि इस सब मायाचारीकी ज़रूरत ही क्या थी, आप साफ़ कह देते कि भाई, भूल गये हम, माफ़ कीजिए।"

मित्र बोले : "आप आजके समाजको नहीं जानते। सच बोलते ही उनका मुँह लटक जाता या भौंहें चढ़ जातीं और उसका हमारे सम्बन्धोंपर भी प्रभाव पड़ता। अब वे भी खुश हैं और हम भी खुश। सबकी खुशीका यह सीधा रास्ता छोड़कर, मैं सबकी नाराज़ीका बीहड़ पथ क्यों चलूँ ?"

मैंने कहा : "आपकी बातमें सचाई है, मानता हूँ। फिर भी सत्य इतनी छोटी चीज़ नहीं है कि हम उसे इस-उसकी नाराज़गियोंके मोल बखेरते फिरें। मेरे सामने यह मसला बहुत बार आ चुका है। आप जानते हैं कि मैं बराबर बीमार रहा हूँ इधर, उससे मेरी स्मृति ज़रा कमज़ोर हो गयी है।

अपनी कमीको देखते हुए मैंने तो एक नियम बना लिया है कि निमन्त्रणपर जानेकी याद जहाँ भूली कि बस तुरन्त एक पत्र निमन्त्रण भेजनेवालेको खेंचा कि भाई भूल गये थे हम, क्षमा चाहते हैं और जो जगह कहीं आस-पास ही हुई, तो स्वयं आ धमके और कहा कि भाई, कल तो दिमाग़ धोखा दे गया और हम गधेकी सींगकी तरह नदारद रहे, पर अपना अधिकार हम नहीं छोड़ सकते; लाओ खिलाओ-पिलाओ कुछ बचा-खुचा। बस जम गये और खा-पीकर लौटे। हमारे प्रयोगमें डबल फ़ायदा है। अपना यह कि भूली हुई दावत वसूल हुई और मित्रका यह कि वे खुश हो गये कि हमें उनके निमन्त्रणका मान है। अब बताइए कि आपका मन्त्र अमोघ है या हमारा नुसखा तीरे वहदत ?

मित्र बोले : "आज आपने हमारा अघोर मन्त्र ही काट दिया और मुझे इससे ख़ुशी हुई। आप जानते हैं कि मैं तो ग़ुलामीके दिनोंमें भी सामाजिक नियमोंकी पूरी पाबन्दीका क़ायल रहा हूँ, फिर अब तो सौभाग्यसे हमारा देश स्वतन्त्र प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्रकी सफलताका सबसे बड़ा रहस्य ही यह है कि देशका हरेक आदमी अपने निजी लाभके सामने समाज-के लाभकी अधिक चिन्ता करे। समाजका लाभ इसमें है कि उसके जीवनमें अधिकसे अधिक सचाई हो और यह सचाई जेलके अनुशासनकी तरह नहीं, आदतकी तरह हमारे हर काममें छायी रहे। इसलिए मैं मानता हूँ कि मित्रों-की बुराई लेकर भी हमें अपने जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए।"

मैंने कहा : आपके विचारोंका मैं सम्मान करता हूँ और आपको धन्य-वाद देता हूँ कि किसीका निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ जाना भूल जाना एक इतनी बड़ी कमज़ोरी है कि हम उसे सामाजिक अपराध कह सकते हैं। बात यह है कि किसी कमज़ोरीको कमज़ोरी मानकर उसको जड़से उखाड़नेके लिए कमर न कसना ज़िन्दगीकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। इसलिए निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ ठीक समयपर जाना हम न भूलें, इसलिए भी कुछ उपाय हमें सोचने पड़ेंगे।

मित्र बोले : "मालूम होता है आपने उन उपायोंपर विचार किया है ?"

मैंने कहा : हाँ, विचार ही नहीं, प्रयोग भी किया है और उससे सफलता भी मिली है।

ये सात उपाय मेरे अनुभवमें सर्वश्रेष्ठ हैं :

१. निमन्त्रण मिलते ही यदि वहाँ नहीं जाना है या जानेमें सन्देह है, तो तुरन्त इनकारीका पत्र लिख दो।

२. यदि जाना है, तो घरके सब आदमियोंसे कह दो कि वे याद रखें, और समयपर याद दिला दें।

३. किसी अच्छी याददाश्तके मित्रसे, जो वहाँ निमन्त्रित हों, कह दो कि वे आपको अपने साथ लेते जायें।

४. निमन्त्रण देनेवालेसे कह दो कि वह आपको उस दिन फिरसे याद दिला दे।

५. जहाँ बैठकर आप रोज़ काम करते हैं, वहाँ एक काग़ज़पर लिख कर ढंगसे लगा दो, जिससे बार-बार याद आता रहे।

६. दावतके दिन जानेके समयका एलार्म लगाकर घड़ीको कहीं अपने निकट रख दो।

७. अपने जीवनके चालू व्यवहारमें कोई ऐसा अस्वाभाविक काम कर दो कि वह बार-बार खटकता रहे। मसलन, कुरसीकी जगह स्टूलपर बैठो, बूटकी जगह खड़ाऊँ पहन लो, आज कोट न पहनो, चश्मा न लगाओ, अपने फाउण्टेनपेनपर फूल बाँध दो, अपने दफ़्तरका ताला बन्द कर दो और बरामदेमें बैठकर काम करो। ये चीज़ें बार-बार खटकेंगी और याद दिलायेंगी।

बात यह है कि निमन्त्रणको मंज़ूर या नामंज़ूर करनेमें आप स्वतन्त्र हैं, पर स्वीकार करनेके बाद आप बाधित हैं कि समयपर वहाँ पहुँचें। ऐसा न करके आप अपनेको ही विश्वासके अयोग्य सिद्ध नहीं करते, अपने समाजकी सामूहिक सुन्दरताका भी ह्रास करते हैं।

जब उन्हें इज़्ज़त मिली !

आपने कभी वंशलोचन देखा है ?

"वंशलोचन ?"

हाँ जी, वंशलोचन, जो गोबिन्द अत्तारके यहाँ भी बिकता है और ज्योती अत्तारके यहाँ भी ।

"बिकता होगा, गोबिन्द अत्तारके यहाँ भी और ज्योती अत्तारके यहाँ भी, मैं भला उसे क्यों देखता फिरता – क्या आपने मुझे कोई अत्तारोंका इन्सपेक्टर समझ लिया है ?"

भाई साहब, इन्सपेक्टर अत्तारोंका हो या आवारोंका, आज-कल ख़ास चीज़ है – पर ख़ैर, छोड़िए इस बातको – बातके बढ़ानेमें रखा ही क्या है, मैं तो सिर्फ़ आपसे यही पूछ रहा था कि आपने कभी वंशलोचन देखा है ?

"यों ही पूछ रहे थे, तो पूछिए और मैं भी आपकी पूछको लीजिए यों ही बूझ रहा हूँ कि हाँ साहब, मैंने देखा है वंशलोचन; सफ़ेद-सफ़ेद होता है ।"

और संखिया भी देखा है कभी ?

"संखिया ? क्या पूछ रहे हैं आप – संखिया, जिसे खाकर पिछले साल जग्गू और बिसम्भर दोनों ऐसे सो गये कि फिर दूसरोंके कन्धे ही उठे । वही संखिया या कुछ और ?"

जी हाँ, वही संखिया, जिसे खाकर जग्गू और बिसम्भर ही नहीं, चाहें तो आप भी इस तरह सो सकते हैं कि दूसरोंके कन्धे तो उठें ही, जलूसके साथ भी उठें ?

"मालूम होता है आज आपने हमारी श्रीमतीजीसे मोरचा बाँधनेका

फ़ैसला कर लिया है। मियाँ, उन्हें ऐसी-वैसी मत समझना। संखियेका नाम भी सुन लेंगी, तो जानको आ जायेंगी ?"

ख़ैर, भाभी-देवरकी लड़ाईका मोरचा तो हमेशा ही ज़िन्दगीकी एक दिलचस्प नियामत है, हम उससे डरते नहीं, पर आप पहले यह बताइए कि आपने कभी संखिया देखा है ?

"हाँ देखा है संखिया सफ़ेद-सफ़ेद होता है, पर आप किसी जाँच कमेटीके मेम्बर तो नहीं हो गये, जो यह सब जाँच-पड़ताल किये जा रहे हैं ?"

अरे भाई, हम किस कमेटीके मेम्बर होते। बात यह हुई कि हम आज एक मैजिस्ट्रेटके यहाँ बैठे थे। उनकी अदालतमें एक मुक़दमा चल रहा है कि एक साहबने संखिया खा लिया, पर मरे नहीं, बच गये और अब पुलिसने आत्म-हत्याका प्रयत्न करनेके अपराधमें उनका चालान कर दिया है। अब वे महाशय कहते हैं कि मैंने वंशलोचनके भुलावेमें संखिया खा लिया था।

"हाँ, वंशलोचन और संखियेका रूप बहुत कुछ मिलता-जुलता है और यह भूल आदमी कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं, पर भाई साहब, यह भी अजीव बात है कि आत्म-हत्याका अपराध आदमी करे और सफल हो जाये, तो न गिरफ़्तारी होती है, न चालान, न मुक़दमा, पर आदमी चूक जाये, तो जेलका दरवाज़ा उसके लिए इस तरह खुल जाता है, जैसे नाकूका मुँह।"

तो, यह एक और अजीब बात हुई कि आप इस वंशलोचन और संखियेकी बातमें-से क़ानून-शास्त्रकी एक पहेली निकाल बैठे। आप भी ख़ूब आदमी हैं, भाई साहब !

"जी हाँ, मैं ख़ूब आदमी हूँ भाई साहब, कि वंशलोचन और संखियेकी बातमें-से क़ानून-शास्त्रकी एक पहेली निकाल बैठा, पर आप तो ख़ूब आदमी नहीं हैं, तो फ़रमाइए आप इस वंशलोचन और संखियेकी बातमें-से कौन-सा बजर-बट्टू निकाल रहे थे ?"

माफ़ कीजिए, सवाल आपका बहुत मुनासिब है। मैं सचमुच वंशलोचन और संखियेकी बातमें-से जीवन-शास्त्रका एक प्रश्न सोच रहा था।

"वाह, क्या कहने; कहाँ वंशलोचन और संखिया और कहाँ जीवन-शास्त्र ! मान गये साहब, आजसे हम आपको फ़िलासफ़र। सचाई यह है कि सुल्हड़ मिश्र आख़िर आपके ही वंशमें तो पैदा हुए थे, जो उपला लेकर आग लेने चले और अपने विचारोंमें उलझे पहुँच गये आठ कोस दूर एक क़स्बेमें।

अच्छा, तो अब यह बताइए कि जीवन-शास्त्रकी वह कौन-सी बात है, जिसे आप सोच रहे थे। ज़रा हम भी तो आपकी फ़िलासफ़ी सुन लें।"

वंशलोचन और संखियेकी बात सुनकर मैं यही सोच रहा था कि संसार-में वे अकेले ही महाशय नहीं हैं, जो वंशलोचनको संखिया समझ खा गये, बल्कि हममें ज़्यादातर आदमी ऐसे हैं, जो वंशलोचनको संखिया समझ रात-दिन खाया करते हैं।

"ज़रा खोलकर समझाइए, तो समझें हम आपकी बात। यों तो हमारे पल्ले कुछ पड़नेसे रहा; क्योंकि आख़िर आप हैं फ़िलासफ़र और हम भाईजी, एक मामूली आदमी।"

समझनेकी इसमें क्या बात है, लीजिए कुछ नमूने ख़ुद जो देख लीजिए। हमारे पड़ोसी श्रीपालसिंहको तो आप जानते ही हैं। जी हाँ, वे ही जो अभी सर्दियोंमें स्पेशल आनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाये गये थे। बेचारे वंशलोचन समझकर संखिया खा गये और वह संखिया अब उनकी आँतोंका गोरखधन्धा बना रहा है।

"क्या कहा आपने कि बाबू श्रीपालसिंह भी वंशलोचनकी जगह संखिया खा गये और अब वह उनकी आँतोंका गोरखधन्धा बना रहा है ?

यह क्या कह रहे हैं आप, अभी कल तो वे हमें क्लबमें मिले ही थे। वही हट्टे-कट्टे, हँसमुख और ताज़े-तर। आप कबकी बात कह रहे हैं यह संखिया खानेकी ?"

भाई साहब, आपके दिमाग़में उठती हैं – क़ानूनी पहेलियाँ और हमारे दिमाग़में जीवनके प्रश्न। क़ानून है शब्दोंकी बहस और जीवन है भावनाओं-

का उपवन । इसलिए आप संखिये और वंशलोचनमें देखते हैं संखिया और वंशलोचन और मैं देखता हूँ उनका तत्त्वज्ञान !

"ओहो मेरे शेर ! यह तो बहुत दूरकी उड़ान ली आपने । अरे भाई, मुझे भला क्या मालूम कि आप वंशलोचन और संखियेका भी तत्त्वज्ञान बना बैठे हैं । यों समझिए कि अब तो आपकी खोपड़ी आचार्य जगदीश चन्द्रकी रसायनशाला हो गयी ।

अच्छा जी, तो अब हमें भी वंशलोचनका वह तत्त्वज्ञान दिखाइए ज़रा ।"

तत्त्वज्ञान क्या था इसमें । वंशलोचन है एक उपयोगी और लाभदायक चीज़ और संखिया है एक मारक विष, पर दोनोंका बाहरी रूप-रंग एक है । इसी तरहकी दुनियामें और बहुत-सी चीज़ें हैं, जो गुणोंमें भिन्न होकर भी बाहरी रूपमें एक हैं ।

अब यदि कोई भोला या भोंदू मनुष्य किसी उपयोगी चीज़की जगह कोई हानिकारक चीज़ खा ले या उपयोग कर ले, तो उसे मुहाविरेमें कहा जायेगा कि भाई, यह तो संखियेका वंशलोचन बना रहा है । हमारे पड़ोसी श्रीपालसिंहने भी यही संखियेका वंशलोचन बना दिया है स्पेशल मैजिस्ट्रेट बनकर ।

"क़ानूनी कहिए या जीवन-शास्त्रकी कहिए, है आपकी यह बात एक पहेली ही, इसलिए अच्छा हो कि आप ही इसे बूझ भी दें ।"

पहेली-वहेली कुछ नहीं भाई साहब, बात सीधी है कि दुनियाकी हर चमकदार चीज़ हीरा नहीं है और जीवनमें क्या शाप है और क्या वरदान, यह जानना बड़े-बड़े विद्वानोंके लिए भी सुगम नहीं है । भाई श्रीपालसिंह भी इसी चक्करपर चढ़ गये हैं । रात-दिन मारे-मारे फिरे, जिनका मुँह नहीं देखना था उनके पाँव देखे, जिनकी नमस्ते नहीं ली जा सकती, उनके सामने सिर झुकाया, पिछले बीस साल देशका काम करते-करते जिनसे जान-पहचान और दोस्ती हो गयी थी, उनकी चौखटें चाटीं और तब कहीं

स्पेशल मजिस्ट्रेट हुए, पर हुआ क्या; यही कि वंशलोचनका संखिया बन गया।

"वाह, वंशलोचनका संखिया कैसे बन गया। चार आदमियोंमें सिर ऊँचा हुआ, समाजमें पोजीशन निखरी,, बड़े आदमियोंमें गिनती होने लगी। इससे पहले बेचारे थे ही क्या ? बाप-दादोंके छोड़े चार मकानोंका किराया आता है। सुबह चुपड़ी, तो शामको रूखी खा सोते थे – अब शहरमें वे-ही-वे हैं।

अभी पाँच-छह दिन हुए राज्यके बड़े मिनिस्टर साहबकी पार्टी थी उनके यहाँ। देखा नहीं मिनिस्टर साहबसे इस तरह बातें करते थे, जैसे इनके कोई निजी रिश्तेदार हों। कलक्टर और कप्तान साहब भी पार्टीमें आये थे, पर श्रीपालसिंहसे इस तरह बात करते थे, जैसे वे ही मिनिस्टर हों और आपको वंशलोचनका संखिया ही घुटता दिखाई दे रहा है ?"

जी हाँ, यही तो कह रहा हूँ मैं कि आपको मिनिस्टर साहबकी पार्टी-का वंशलोचन ही दीख रहा है, पर मुझे दीखता है उनकी पत्नीके आसुओं-का संखिया !

"उनकी पत्नीके आँसुओंका संखिया ! कैसे आँसू उनकी पत्नीके ? आखिर वह रोई क्यों ? जी ?"

जी हाँ, उनकी पत्नीके आँसू ! वह रात हमारे घर आयी थी और कह रही थी कि इस मजिस्ट्रेटीने भैया, हमारा तो नाश कर दिया। पहले सादगीसे सब काम हो जाता था, अब हरेक बातमें साहबी आ गयी है। पहले चार घड़ी बाज़ारमें बैठते थे और फ़सलपर कभी शक्कर तो कभी तेल, कभी उड़द तो कभी खांड़ भर लेते थे और इस तरह दस रुपये मिल जाते थे, पर अब वही किरायेके रुपये – उन्हें ओढ़ लो या बिछा लो। अभी परसों मिनिस्टर साहबकी पार्टी थी, मेरा ज़ेवर गिरवी रखकर रुपये लाये, तो काम चला। कल कह रहे थे : दो मकान बेचकर एक मोटर लूँगा। सबके पास मोटरें हैं, ताँगेमें जाते शरम लगती है। मैंने कह दिया,

मोटरमें बैठे हवा ही खाया करना, चूल्हा तो बस निर्जल एकादशी ही रखेगा फिर, तो झल्ला पड़े। वे समझते हैं मैं उनकी इज्ज़त देखकर जलती हूँ, पर भैया, इज्ज़त, कीर्ति, यश और नाम तो पेट भरे पर ही भले लगते हैं।

अब कहिए, भाई श्रीपालसिंहकी मजिस्ट्रेटीने वंशलोचनका संखिया कर दिया या नहीं ?

और आप तो गये थे उनकी पार्टीमें ? वहाँ आपने जंगबहादुरकी कविता भी सुनी होगी। उनकी कविता भी वंशलोचनका संखिया है !

"उनकी कविता भी वंशलोचनका संखिया है ? वाह साहब वाह, आज तो आपने नया संखिया-शास्त्र ही रच मारा ! जी, तो किस तरह ?"

नया संखिया-शास्त्र इसमें कुछ नहीं। बात यह हुई कि जंगबहादुर पहले बहुत सुन्दर कविताएँ लिखा करते थे और हिन्दीके श्रेष्ठ पत्रोंमें उन्हें स्थान मिला करता था, पर एक कवि-सम्मेलनमें गये, तो उन्होंने देखा कि वहाँ गीतसे अधिक संगीतका ज़ोर है। उन्होंने भी गाकर कुछ पढ़ा, तो वाहवाही भी मिली और चाँदीके इक्यावन सिक्के भी। अब कवि-सम्मेलन ही उनकी दुनिया है। अपने पुराने गीत अलापा करते हैं और तालियाँ सुना करते हैं। एक दिन शानसे कह रहे थे, कलकत्ता परिषद्में गया था भाई साहब, प्रसिद्ध वक्ता देवेन्द्रजीको एक-सौ इक्यावन रुपये दिये गये और मुझे दो-सौ एक रुपये। गया तो मैं थर्डमें ही था, पर सेकेण्डका किराया मिला और कुछ न पूछिए वहाँ कवि सिन्धुजी भी आये थे, पर कॉलेजके लड़कोंने उन्हें 'हूट डाउन' कर दिया और मेरे गीत बार-बार सुने।

कहिए, कवि-सम्मेलनकी यह कीर्ति शाप हुई या वरदान ? और फिर वही बात वंशलोचनका संखिया बन गया या नहीं ?

और भाई, क्या श्रीपाल और क्या बेचारे जंगबहादुर, यह तो वह चौराहा है, जिसपर अमरीकाके प्रेज़ीडेण्ट श्री विल्सनकी चौकड़ी भूल गयी। पहले महायुद्धके अन्तमें वे विश्व-शान्तिका मिशन लेकर निकले और अपनी चौदह शर्तोंके साथ इंग्लैण्ड आये। यहाँ उनका वो स्वागत

हुआ, वो धूमें मचीं कि बस बेचारोंका मिशन एक गैसका गुब्बारा रह गया, जिसमें-से निकला लीग ऑव नेशन्स, जिसने सच पूछो, तो दूसरे महायुद्ध-की नींव ही रखी।

वहाँके एक दैनिकने विल्सनकी बिदाईपर जो अग्रलेख लिखा, उसका शीर्षक था : "हि केम, हि सा एण्ड हि वाज़ कौंकर्ड !" वाह भाई पत्रकार – 'वह आया, उसने देखा और बस हमने उसे जीत लिया।'

तो यह स्वागत-सम्मान शाप हुआ या वरदान ? अरे भाई, कह तो दिया यह सब वंशलोचनका संखिया बनाना है।

संखिया, संखिया, संखिया, बार-बार वही संखिया ! जानता हूँ शब्द कड़वा है और हर बार अपने साथ मौतका सन्देश लाता है, इसलिए कानोंको कुछ अच्छा नहीं लगता, क्योंकि रंग-रूपकी एकतामें उलझकर साँपको हार माननेवालोंकी जो गत बनती है, वह इस शब्दको बार-बार दोहराकर भी मैं पूरी तरह कह नहीं पाता।

संखिया हो या साँप, वे आदमीको एक बारमें मार डालते हैं, पर कीर्तिके कोल्हूमें आदमी इस तरह पिसता है कि न जिये जीता है, न मरे मरता है।

"अरे भाई, कीर्तिके लिए दुनियाके लोग जान दिये दे रहे हैं और तुम उससे ऐसे भर्राये जा रहे हो कि जैसे वह कोई भूत हो। क्या बात है आखिर, कुछ हमें भी तो पता लगे ?"

पता ? पता इसमें क्या लगेगा तुम्हें या मुझे ? कीर्तिका मतलब है दूसरोंकी राय और जिसकी चाल दूसरोंकी रायपर निर्भर, जिसकी पसन्दगी और नापसन्दगी दूसरोंकी आँखके सहारे,भला वह भी कोई आदमी है ? सच यह है कि आदमी कीर्तिके शिखरपर चढ़ा कि फिर उसकी ज़िन्दगी अपनी ज़िन्दगी ही नहीं रहती।

अभी उस दिन मिले थे बाबू सी० आर० शुक्ला। बड़े परेशान थे बेचारे। कह रहे थे साथियोंने अच्छा हमें नामज़द मेम्बर बनवाया, हमारी ज़िन्दगी ही तलख़ हो गयी। न लिखनेका समय रहा, न पढ़नेका; जैसे

एकान्त अब हमारे लिए कोई ज़रूरी चीज़ ही नहीं रही। जब देखिए, कोई-न-कोई आया रहता है और जो आता है यह समझकर आता है कि मुझे जीवनमें अब अपना कोई काम ही बाक़ी नहीं रहा।

एक मित्रकी सलाहसे हमने बैठकके बाहर बोर्ड लगा दिया कि मिलनेका समय तीन बजेसे पाँच बजे तक है। बस फिर क्या था, सब जगह चर्चा हुई कि हमारा दिमाग़ बहुत भारी हो गया है।

उस दिन रास्तेमें रायबहादुर साहब मिल गये, बुज़ुर्ग आदमी हैं। मैंने नमस्कार किया, तो बोले : "भाई, अब तो हम ही तुम्हारे आगे हाथ जोड़ेंगे – आख़िर बड़े आदमी हो गये हो भैया ! टाइमपर मिलते हो, टाइमपर खाते-पीते हो और क्यों न हो आख़िर अँगरेज़ अपना राज तुम्हें ही तो सौंप गये हैं !"

बताइए, मैं क्या करता ? साइनबोर्ड उतारकर भीतर रख दिया है और मान लिया है कि मेरा घर अब घर नहीं, चौपाल है, जिसपर मेरा ही नहीं, दूसरोंका भी उतना ही अधिकार है।

हमने उनसे कहा : भाई साहब, अभी तो साइनबोर्ड ही उतारा है, अभी क्या। अभी तो घरमे आग देनेके लिए भी तैयार रहिए।

बोले : "यह क्या कह रहे हो ?"

मैंने उन्हें 'शेरो-शाइरी'से उस्ताद नासिख़का क़िस्सा सुनाया। उर्दूके प्रसिद्ध कवि नासिख़ एक दिन बाग़के एकान्त बँगलेमें बैठे एक कविताकी तैयारीमें थे। एक सज्जन वहीं आ पहुँचे। कविको परेशानी हुई, मूड बिगड़नेका ख़तरा हुआ, तो उठकर टहलने लगे कि यह भला मानुष समझ जाये और उठे, पर यह जमे तो बस जमे। वे फिर किसी बहानेसे उठकर गये, पर ये तो जमकर बैठे थे, बैठे रहे।

उस्ताद नासिख़ने चुपके-से चिलमकी आग बँगलेकी टट्टीमें रख दी और आप लिखने लगे। आग भड़की, तो वे साहब घबराकर उठे, पर कविजीने उनका हाथ पकड़ लिया और बोले : "कविता ख़ाकमें मिल गयी, दिल

जलकर राख हो गया। अब तो तुम्हारे और मेरे ही जलनेका नम्बर है। अब क्या मैं तुम्हें जाने दूँगा।"

संस्मरण सुनकर शुक्लजी हँस पड़े, तो हमने उन्हें उस्ताद नासिख़का दूसरा संस्मरण सुनाया। फिर किसी दिन वे लिखनेकी मूडमें थे कि कोई आ जमे। जब शराफ़तके इशारे बेकार हो गये, तो उस्तादने नौकरसे अपना सन्दूक़चा मँगाया। उसमें-से अपने मकानकी मिल्कियतका काग़ज़ निकाला और उनके सामने रखकर नौकरसे बोले : "भाई मज़दूरोंको बुलाओ और घरका असबाब उठाकर ले चलो।"

नौकर धक, तो वे सज्जन अवाक्! तभी उस्तादने कहा : "देखते क्या हो? मकानपर तो इन्होंने क़ब्ज़ा कर ही लिया है, ऐसा न हो कि असबाब भी हाथसे जाता रहे।"

क्या इन संस्मरणोंकी साक्षी नहीं है कि कीर्ति है एक वरदान, जब-तक वह सीमामें रहे और कीर्ति है एक शाप, जब वह उचककर किसीके कन्धोंपर आ बैठे!

कृपया अपनेसे पूछिए !

महाभारतका युद्ध बहुत-सा बीत चुका था, पर अभी चल रहा था। पाँसा निश्चित रूपसे पाण्डवोंके पक्षमे था, कौरवोंके बड़े-बड़े महारथी काम आ चुके थे और पाण्डवोंका झण्डा कौरवोंकी छावनीपर फहरानेवाला ही था।

युद्धकी भूमिसे दूर बैठे संजय अपने योगबलसे अन्धे महाराजा धृतराष्ट्र-को युद्धका हाल बता रहे थे। तभी धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा : "क्या अब भी हमारी जीत हो सकती है संजय ?"

बड़ी नाजुक परिस्थिति है। अन्धा राजा कुटुम्बकी लड़ाईसे व्यथित, फिर उसका परिवार पराजयकी ओर और सर्वनाशकी घड़ियाँ सामने, जिसमें राज्य भी नष्ट और पुत्र-पौत्र भी भस्म और यों आजका राजा कलका भिखारी। पशु भी इस दशामें करुणासे लथपथ हो उठे, फिर सहृदय संजय क्या उत्तर दें ? गप्प तो वे मार ही नहीं सकते।

चतुरता और मधुरताको मिलाकर वे कहते हैं :

"आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्।
हते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते ॥"

राजन्, आशा बड़ी बलवती है कि कहती है : शल्य ही पाण्डवोंको जीत लेगा; हालाँ कि महाबली भीष्म मर चुका है, गुरु द्रोणाचार्य भी नहीं रहे और कर्ण भी गिरा दिया गया !

परिस्थितियोंको देखकर उत्तरकी अद्‌भुतताका हम अनुमान कर सकते हैं। संजयने झूठ नहीं कहा और राजाको एक क्रूर धक्केसे भी बचाया।

सत्य सत्य है, सत्य ही ईश्वर है, पर कोरा सत्य बहुत पैना होता है, इसलिए उसपर मिठासकी पालिशका विधान नीतिने किया है :

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।"

सत्य कहिए, पर प्रिय सत्य कहिए, अप्रिय सत्य, ना, ना, मत कहिए।

यहींपर यह प्रश्न : सत्य ईश्वर है, तो हम उसके साथ यह सौदा, यह मेल मिलाव क्यों करें ?

"अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता सुदुर्लभः ।।"

यह मेल-मिलाव हम इसलिए करें कि अप्रिय सत्य कितना भी हितकारक हो, उसका सुननेवाला और कहनेवाला, दोनों ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ।

यहाँ मनोविज्ञानकी शरण लेनी पड़ेगी, नहीं तो एक क्यों खड़ी रह जायेगी ?

अप्रिय सत्यका श्रोता अत्यन्त दुर्लभ है, क्यों ? यात्री चला जा रहा है, उसके कन्धेका अँगोछा गिर गया है पर उसे पता नहीं, वह चला जा रहा है । मैंने देखकर उसे पुकारा : अबे, किस पिनकमें है कि अँगोछा गिर गया, पर नवाबको पता ही नहीं; चले जा रहे हैं, ऊँटकी तरह गरदन उठाये !

यात्री अँगोछा उठाकर चल पड़ता है, पर धन्यवाद नहीं देता, क्योंकि उसका मन सूचनाकी कृतज्ञतासे नहीं, पिनक, नवाब और ऊँटकी तेज़ीसे भर रहा है ।

लड़का पढ़ता ही नहीं, माँने उसे पास बुलाया कि दो चपत जड़े, पर तभी पड़ौसीने कहा : "अरे, पढ़ता नहीं, तो क्या भीख माँगकर खायेगा ? जैसा बाप आवारा है, वैसा ही बेटा उठेगा, और क्या !"

माँ कठोर होकर पड़ौसीको देखती है और पुत्रको पीटनेके बदले, गोदमें चिमटाकर पड़ौसीसे कहती है : "भीख माँगेगा या राज्य करेगा, तुम्हें क्या ? जब यह तुम्हारे दरवाज़े आये, तो जाओ किवाड़ बन्द कर लेना !"

माँ अचानक यह बदल क्यों गयी ? पड़ौसीने बात तो सच्ची कही थी, हितकी कही थी !

वही बात है, जो नीतिकारने कही थी कि अप्रिय सत्यका श्रोता दुर्लभ है, क्योंकि सत्यकी अप्रियता श्रोताके मनकी उस कोमल वृत्तिको कुण्ठित कर देती है, जो सत्यको ग्रहण करती, पचाती है। सत्य कहो, पर इस तरह कि वह लिया जा सके, पचाया जा सके, इसलिए उसे प्रिय रूपमें मधुर बनाकर कहो।

"और क्यों जी, अप्रिय सत्यका कहनेवाला अत्यन्त दुर्लभ क्यों है ?"

सच है कि यह प्रश्न पहलेसे ज़्यादा गहरा है। कहनेवाला जब सत्यको अप्रिय रूपमें कहता है, तो उसके स्वरमे एक कड़वाहट वाणी तक ही नहीं रुकती, भीतर मनको भी स्पर्श करती है और जिस कहनेवालेका मन कड़वा है, वहाँ हित-चिन्ता दुर्भावना हो जाती है, क्योंकि दुर्भावनाका मूल पिता है क्रोध, तो यह बात हरेकके बसकी नहीं कि कड़वी बात कहे और क्रोधसे अछूता रहे, इसीलिए अन्तर्द्रष्टा कविने कहा कि अप्रिय और हितकारक सत्यका वक्ता और श्रोता दोनों अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सिद्धान्त यह बना कि सच कहो, पर मीठे होकर, झूठ न बोलो, पर कड़वाहटसे दूर रहो।

कृपाकर अपनेसे पूछिए कि किसीकी भूल आप सुधार रहे हों या उसे नया परामर्श दे रहे हों, आपका मन, आपकी वाणी और आपका लहजा कड़वा तो नहीं होता ?

यह कोई अद्‌भुत अनुभव नहीं है कि हम अपने ही घर या किसी दूसरेके मेहमान हों तब बाल बाहनेके लिए कंघा उठायें और पायें कि कंघा किसीके बालोंसे भरा है – साफ़ है कि जो सज्जन पहले बाल बाह गये हैं, वे उसे साफ़ करके नहीं रख गये।

यह कोई ख़ास बात है, यह कभी मुझे नहीं लगा था, पर उस दिन जब मैं एक आत्मीयके घरमें मेहमान था, तो यों ही यह बात मेरे लिए ख़ास बात हो गयी।

मैं गैलरीमें बैठा उनसे बात कर रहा था। मेरी कुरसी कुछ इस तरह थी कि वहाँसे पासके कमरेकी शृंगार-मेज़ साफ़ दिखाई देती थी। सबसे पहले एक सात वर्षकी लड़की बाल बाहने आयी। उसने कंघा उठाया, तो बालोंसे भरा। कंघा साफ़ कर उसने बाल ठीक किये और बिना कंघा ठीक किये वह चली गयी। तब आयीं उसकी माताजी, तब आयी बड़ी बहन, तब भाभी, दूसरी भाभी और फिर बड़ी बहन, पर हाल सबका वही कि आये, कंघा उठाया, साफ़ किया, बाल बाहे और ज्योंका त्यों कंघा छोड़कर चल दिये।

मैं बहुत ग़ौरसे यह सब देखता रहा। शामको जब सब लोग बाहर लॉनपर बैठे, तो मैंने पूछा : क्यों जी, अगर ऐसा क़ानून बन जाये कि हरेक आदमीको एक कमरा ज़रूर साफ़ करना पड़ेगा, तो आप लोग अपना-अपना कमरा साफ़ किया करेंगे या एक-दूसरेका ?

सबका एक ही उत्तर था : अपना, पर वे आश्चर्यमे थे कि यह क्या प्रश्न यहाँ उठ गया। तब मैंने नया प्रश्न पूछा : क्यों जी, झाड़ू लगानेके सम्बन्धमें यदि अपने-अपने कमरेका नियम ठीक है, तो कंघेके बारेमें आप लोग इसी नियमका पालन क्यों नहीं करते कि हरेक अपना कंघा साफ़ करे ?

अब वे सब हँस पड़े, पर इस हँसीका अर्थ टालना नहीं था। दूसरे दिन-से मैंने देखा हरेकने अपना कंघा साफ़ किया। बात भी ठीक है कि कंघा तो साफ़ करना ही है। बस फ़र्क़ इतना है कि पहले करें या बादमें और अपना मैल साफ़ करें या दूसरेका। एकदम साफ़ है कि हरेक अपना कंघा खुद साफ़ करे; क्योंकि उसे दूसरेपर छोड़नेका अर्थ ही है : दूसरेका मैल साफ़ करनेको तैयार होना।

कृपया अपनेसे पूछिए कि आप अपना मैल साफ़करते हैं या दूसरेका ?

उन्हें खानेका बहुत शौक़ था। वे मेरे पड़ौसमें ही रहते थे। मैं देखता कि वे अकसर अपनी पत्नीको चौकेसे उठा देते और खुद सब्जियाँ बनाते।

सचमुच उनकी सब्जियाँ बहुत स्वादु होतीं और जो कोई खाता, उँगलियाँ चाटता रह जाता।

उनकी पत्नी मर गयी और लड़केकी बहू आयी। बहू भी खाना बनाने-में मास्टर थी। वे उसके भोजनकी सबसे प्रशंसा करते। आदमी मशीन नहीं है कि बराबर एक-सा रहे। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बहूका खाना उन्हें पसन्द न आता। जिस दिन ऐसा होता, वे बहूके मुँहपर उसकी बहुत तारीफ़ करते और मिठाई खानेके लिए एक रुपया बहूको देकर बिना उसके भोजनकी निन्दा किये, कहते : बेटा, नमक-मिर्च-मसाला ही सब्ज़ीकी जान नहीं है; ठीक छौंक, ठीक आंच, बस आगमें बाग़ लग जाता है।

एक भाई हमारे पड़ौसमें रहते हैं और एक बाहर अपनी नौकरीपर। वे एक बार अपने भाईसे मिलनेको आये, तो सब्ज़ियोंमें नमक ज़्यादा था। वे चुप रहे। कुछ दिन बाद फिर आये। समयकी बात, नमक उस दिन भी ज़्यादा। भाईकी बहूसे बोले : अरे भई, तुमने न दालमें नमक डाला और न सब्ज़ीमें। ख़ैर, मैंने तो खा लिया, पर औरोंके लिए तो डाल दो। बहूने दोनोंमें फिरसे पूरा नमक डाल दिया। अब सब्ज़ी गिलोय और दाल चिरायता !

एक और पड़ौसी हैं हमारे। बापका कमाया धन बैंकोंमें है। मज़ेसे गुज़र रही है। करते कुछ नहीं, चरते बहुत हैं। उस दिन खाना खाने बैठे, तो सब्ज़ीमें नमक कम और दालमें ज़्यादा। अँगूठा और एक उँगलीसे थाल-का किनारा साधकर एक झटका और बस थाल, कटोरियाँ और चम्मच, छननछूके साथ रसोईके फ़र्शपर। रसोईका वातावरण अब ऐसा कि जैसे अचानक दो रेलगाड़ियाँ लड़ गयी हों !

ये हैं हमारे तीन पड़ोसी और उनके तीन ही तरहके तक़ाज़े । तक़ाज़े; यानी तक़ाज़ा करनेके, अपनी बात कहनेके तरीक़े । हमारा खयाल है कि आप पहलेको नं० एक, दूसरेको नं० दो और तीसरेको नं० तीन मानेंगे, पर कृपया अपनेसे पूछिए कि जब आपके घरमें कोई बात आपके मनमाफ़िक़ नहीं होती, तो आप कौन-सा तरीक़ा काममें लाते हैं ?

लाला श्यामसुन्दर लाल खाते-पीते आदमी हैं । कमाना जानते हैं, तो खर्चना भी । दफ़्तरमें हमेशा शानदार मेज़ रहती है, जो हर साल रंगी जाती है । कमरेमें क़लई सालमें दो बार कराते हैं और दीवारोंमें तसवीरें भी जड़ी रहती हैं :

पर उनका क़लमदान कभी साफ़ नहीं रहता। कभी उसमें स्याही नहीं होती, तो कभी पानी नहीं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि श्यामसुन्दर लाल दरिद्री हैं ।

भाई हफ़ीज़ सुबह उठकर चाय मिले या न मिले, पर हजामत ज़रूर बनाते हैं । शौक़ीन आदमी हैं, लाख काम हों, दिनमे दो बार कपड़े बदलते हैं और इत्रके बारेमें उनका ज्ञान एक रिसर्च स्कालरका है कि किस ऋतुमें कौन-सा इत्र लगाना ठीक है :

पर उनके नाकके बाल और उँगलियोंके नाखून हमेशा बढ़े रहते हैं । कभी वे उन बालोंको चूँटते होते हैं, तो कभी उन नाखूनोंको दाँतसे काटते रहते हैं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि भाई हफ़ीज़ दरिद्री हैं ।

सरदार ज्ञानसिंह बड़े लायक़ आदमी हैं। एक बड़े कारखानेके मालिक हैं और उसका ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि हर सालका मुनाफ़ा पहले सालसे

कुछ ज्यादा ही होता है। खास बात यह है कि वे अपने साथियों और मातहतोंमें उदार प्रसिद्ध हैं। उनका व्यवहार सभीके साथ साफ़-स्वच्छ है :

पर वे लेटनेको अपने पलंगपर जायें या सोनेको, नीचे रखे पा-पोश-पर पैर नहीं पोंछते और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि ज्ञानसिंहजी दरिद्री हैं।

दरिद्रता एक भावना है और वह बाहरकी समृद्धि होते भी हममें रह सकती है।

श्यामा घरके फ़र्शको माँजकर धोती है, पर छतमें जाले नहीं देखती और बलदेवसिंह जब पान खाते हैं होंठोंसे बाहर आध-आध इंच गाल भी लाल किये रहते हैं। रामचन्द्रजी जहाँ देखते हैं, पानकी पीक थूक देते हैं और रहीम दोस्तोंकी चिट्ठियोंका जवाब नहीं दे पाते। मैं इन सबको दरिद्री कहता हूँ, क्योंकि ये लोग एक बातको ठीक समझते हैं, पर करते नहीं।

कृपया अपनेसे पूछिए कि आप भी तो कहीं दरिद्री नहीं हैं?

कहीं बाहरसे या अपने ही चौकसे आकर जब मैं अपने पलंगपर बैठता हूँ, तो जूता नीचे निकाल देता हूँ, जैसा कि सभी करते हैं। इस बारेमें भी किसी सोच-विचारकी जरूरत है, यह कोई नहीं मानता, जैसा कि मैं भी नहीं मानता था, पर अभी कुछ दिन हुए मेरे मनमें यह सोच-विचार उठा और मुझे लगा कि यह जीवनका एक ज़रूरी प्रश्न है।

हम बाहरसे पलंगके पास आते हैं, तो जूतेका – चप्पलका मुँह पलंग-की ओर होता है, पर इस हालतमें जब हम फिरसे बाहर जानेके लिए जूतेमें पैर डालते हैं, तो हमारे पैर और जूतेका मुँह अलग-अलग दिशाओंमें होता है और हमें पहले जूता सीधा करना पड़ता है, तब हम उसे पहन पाते हैं। तो फिर क्या किया जाये?

चप्पल-जूता निकालनेका सही रुख़ यह है कि हम बाहरसे आकर पलंगपर नीचे पैर लटकाये हुए बैठ जायें और तब जूता निकालें। इससे जूतोंका मुँह बाहरकी तरफ़ रहेगा और फिरसे पहनते समय वे हमें सीधे रुख मिलेंगे।

इससे एक फ़ायदा यह है कि जूता निकालनेके बाद हम पैरसे पैर मल-कर या किसी कपड़ेसे पैर साफ़ कर सकते हैं, जिससे कपड़े गन्दे न हों।

कृपया अपनेसे पूछिए कि क्या आप मेरे प्रयोगको पसन्द कर इसकी आदत डालनेको तैयार हैं?

हमारे एक साथी हैं। जीवन-भर कहीं-न-कहीं आर्यसमाजके मन्त्री रहे और खद्दर पहना। वायुमण्डलकी शुद्धिके लिए वे रोज़ हवन ही नहीं करते, देह-शुद्धिके लिए साबुनकी टिकियाके साथ स्नानगृहमें काफ़ी गहरा संघर्ष भी करते हैं।

एक दिन आर्यसमाजके साप्ताहिक सत्संगमें मिले। हवन-यज्ञ और कीर्तन-कथाके बाद हलवा-प्रसाद मिला। खाकर हाथ धोये, तो देखा कि हमारे वे साथी अपनी लहराती खादीकी धोतीसे हाथ पोंछ रहे हैं। हमने समझा बेचारोंके पास रूमाल नहीं, तो हमने अपना रूमाल बढ़ाया। बड़ी बेफ़िकरीसे बोले: "नहीं, बस काम हो गया है!" काम तो हो ही गया, पर हमने देखा कि उनकी चमचमाती धोतीका निचला हिस्सा चिकना हो गया है। बादमें एक दिन हमने उनकी धोती उसी जगहसे पीली हुई देखी और उनकी पत्नीसे जाना कि घरमें चाहे सौ तौलिये हों, पर मन्त्रीजी हाथ धोतीसे ही पोंछते हैं!

हमारे एक साथी हैं। बाप-दादाकी दौलत भोगते हैं और शानसे जी रहे हैं। उनकी कोठीमें कई बार गया, तो देखा कि और तो सब ठीक है, पर

दरवाज़ोंके परदे गन्दे हो रहे हैं और ख़ास बात यह कि हर परदा एक ख़ास जगहसे और ख़ास ढंगसे मैला हो रहा है।

एक दिन हमने उनके ही घर भोजन किया, तो देखा कि हमारे मित्र और उनके बच्चे परदोंसे ही हाथ पोंछते हैं।

हमारे एक और मित्र हैं। साहित्यिक रुचिके आदमी हैं और टिपटाप रहते हैं। उनका उनकी श्रीमतीजोसे अकसर इस बातपर झगड़ा होता है कि श्रीमतीजी पलंगकी चादरके कोनेसे हाथ पोंछ लेती हैं – भले ही हाथ पानीसे भीगे हों या छौंकके मसालेसे सने हों, बहुत-से बच्चोंको अपने कुरते-से हाथ पोंछनेकी आदत होती है और उनके कुरते सदा रँगे रहते हैं।

यह सब अलग-अलग नमूने होकर भी भीतरसे एक ही हैं, क्योंकि इन सबकी जड़में मानसिक आलस्य और प्रमादका यह भाव है : "अरे चलो, अब तौलिया कहाँ देखें, जो सामने है उसीसे हाथ पोंछ लें !"

जो लोग धोती, परदे और चादरसे हाथ न पोंछकर सदा तौलियोंसे ही हाथ पोंछते हैं, उनमें यह आलस्य और प्रमाद न हो, ऐसी बात नहीं। घीमें डूबी सब्ज़ियाँ खाकर उठे हैं और हाथ धोकर तौलियेसे पोंछा है। तौलिया पीला हो गया है – साफ़-सुथरा तौलिया एकदम गन्दा; क्योंकि हाथकी चिकनाई साबुन या मिट्टीकी रगड़ाई चाहती थी, पर वही बात : "अरे चलो, कौन रगड़े, तौलिया खराब होगा, हो जायेगा।"

हाथ पोंछनेके लिए हमेशा तौलिये-अँगोछेका ही उपयोग कीजिए, पर हाथ पोंछनेसे पहले अपने हाथोंको साफ़ करना न भूलिए, क्योंकि तौलियेका काम आपके भीगे हाथोंको खुश्क करना है, गन्दे हाथोंको शुद्ध करना नहीं। कृपया अपनेसे पूछिए कि आप तौलियेका सही उपयोग करते हैं या नहीं ?

राधेश्याम रात-दिन पढ़ता है। पुस्तकको देखते ही वह उसपर भूखे बाघ-सा टूट पड़ता है। जहाँतक बने, मोल लाता है, माँग भी लेता है और दाव बैठे, तो उड़ा लानेमें भी नहीं चूकता।

वह पुस्तकमें डूबा रहता है और उसकी पत्नी खाना खानेका तक़ाज़ा किये जाती है। वह कहता है आ रहा हूँ तुम परसो, पर उठता नहीं। कभी-कभी इस बातपर बोल-चाल भी हो जाती है और पत्नी खाना ज्यों-का त्यों छोड़कर तकियेमे मुँह दिये जा लेटती है।

रातमें तो बिना पढ़े, वह सो नहीं सकता और कई बार राह चलते समय भी पुस्तकमें आँख गड़ाये, वह तकड़ी ठोकरें खा गया है।

राधेश्याम एक पठनशील युवक है, पर वह अपनी पढ़ी हुई पुस्तकोंके ज्ञानका जीवनमें व्यवहार तो दूर, बातचीतमें भी कभी उसका उपयोग नहीं करता। वह कहता है : पुस्तक सामने आयी पढ़ ली, आनन्द ले लिया। अब यह क्या ज़रूरी है कि उसे रटे फिरूँ। यह कोई गीता तो नहीं कि उसका पाठ किये, पुण्य मिले। दिमाग़ कोई कबाड़ीकी दूकान तो नहीं कि उसमें हर चीज़ भरी रह सके; जो मिला सो ठूँस लिया। रेलमें, जलसोंमें, सिनेमामें, बाज़ारमें हज़ारों आदमी मिला करते हैं। अब किस-किसकी सूरत, नाम और पते याद रखे जायें? वही हाल पुस्तकोंका है।

राधेश्याम पढ़ी हुई पुस्तकोंको देखकर कुछ दिन बाद यह भी नहीं बता सकता कि यह उसने पढ़ी है या नहीं, पर बिना पढ़े उसे चैन नहीं पड़ती।

बिलिमोरिया भी पठनशील है। क़मीज़ भले ही फटी पहने, पर पुस्तक देखकर पसन्द आ जाये, तो बिना ख़रीदे नहीं रह सकता। कई पुस्तकालयोंका भी वह सदस्य है और उनसे पुस्तकें लेता रहता है।

बिलिमोरियाकी पसन्दके अपने लेखक हैं और अपने विषय। वह

पुस्तक पढ़ता है और उनके फिर नोट लेता है। नोट भी विषयवार होते हैं और बहीखातेकी तरह वह उन्हें इस तरह रखता है कि ज़रूरत पड़नेपर तुरन्त निकाल सके।

विश्वविद्यालयकी बड़ी श्रेणियोंके विद्यार्थी अकसर उसके पास आते हैं और उसके नोटोंका लाभ उठाते हैं। वह उन्हें इस सरलतासे सबको समझा देता है कि उन्हें सुख भी मिलता है और सुभीता भी। बहस तो उसकी कभी रुकती ही नहीं।

जब-तब सभा-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओंमें उसकी प्रशंसा होती है। उसे पढ़-सुनकर उसकी पत्नी कहा करती है : "इन प्रशंसकोंको क्या पता कि यहाँ पढ़ाई-ही-पढ़ाई है, सिखाई खाक नहीं। जो बुरी आदतें पन्द्रह साल पहले थीं, वे ही अब भी हैं – आखिर ऐसे पढ़नेसे क्या लाभ ?"

रहमानकी भी जान हैं किताबें। कोई उसकी अँगूठी माँगे, तो दे देगा, पर किताब माँगे तो उसकी जान सूख जायेगी। सुबह उठते ही वह दो-तीन घण्टे पढ़ता है और फिर डायरी लिखता है। वह साल-भरमें एक-दो ही किताबें खरीदता है और बार-बार अपनी उन्हीं किताबोंको पढ़ता रहता है।

पहले वह पूरा शैतान था, अब फ़रिश्ता हो गया है, यह उसकी माँ, पत्नी और पड़ोसियोंकी राय है। वह कहा करता है : "ये किताबें मेरी साथी हैं, जो मुझे बहकनेसे बचाती हैं।"

राधेश्याम बहुत पढ़ता है, पर कुछ नहीं जानता। पढ़ना उसके लिए आदत है, व्यसन है। वह मूर्ख है – बुद्धिका फ़िज़ूलखर्च !

बिलिमोरिया खूब पढ़ता है और बहुत जानता है। पढ़ना उसके लिए शौक़ है। वह विद्वान् है – ज्ञानका भण्डारी कंजूस !

रहमान कम पढ़ता है और बहुत सीखता है। पढ़ना उसके लिए पढ़ना है। वह जीवनका साधक है।

कृपया अपनेसे पूछिए कि आप राधेश्याम, बिलिमोरिया और रहमान, इन तीनोंमें-से किसकी श्रेणीमें है और यदि पहले दोमें आप हैं, तो क्या अब तीसरीमें आनेका प्रयत्न आरम्भ कर रहे हैं?

पाटिल बहुत होनहार युवक हैं। विश्वविद्यालयमें उनका मान है – हमेशा फ़र्स्ट आते हैं। उनमें एक कमी है कि सिगरेट बहुत पीते हैं। इसका उनके स्वास्थ्यपर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे इसे छोड़ना चाहते हैं, पर छोड़ नहीं पाते।

उस दिन किसी पत्रमें उन्होंने पढ़ा कि सिगरेटका ज़हर फेफड़ेको काटता है, तो निर्णय किया कि वे अब न पियेंगे। उन्होंने तीन दिन तक सिगरेट छुई भी नहीं, पर चौथे दिन पिकनिकमें यार-दोस्त लिपट गये और वे फिर सिगरेट पीने लगे।

पाटिल विवाहित हैं। उस दिन कह रहे थे : पत्नी ऐसी ज़िद्दी है कि मेरी कोई बात मानती ही नहीं। सौ बार कहा कि हर चीज़ कमरेमे व्यवस्थासे रहनी चाहिए, पर बस उसे कबाड़ीकी दूकान बनाये रखती है। कई बार मैं उससे बोलना छोड़ चुका, नाराज़ हुआ, पर वह सुनती ही नहीं।

शमशुद्दीन बड़ी उम्रके आदमी हैं – खाते-पीते और भले मानुष। एक बड़ी संस्थाके वे संचालक हैं, उसका सब काम उनके हाथोंमें है। संस्थाका काम करनेमे उन्हें कोई दिक़्क़त नहीं होती, करते-करते काम उन्हें रवाँ हो गया है, पर सालके अन्तमे जब हिसाब बनता है, तो यह परेशानी आती है कि बहुत-से वाउचर नहीं मिलते और बहुत जगह ऐसा होता है कि बिलपर

लिखा रहता है कि रक़म सात तारीख़को आ गयी, तो कैशबुकमें वह जमा होती है बाईस तारीखको।

आडिटर इसपर एतराज़ करता है, परेशान करता है और शमशुद्दीन-पर बुरी तरह झाड़ पड़ती है। यह सब रोज़का हिसाब रोज़ न लिखने और तुरन्त वाउचर न बनानेकी लापरवाहीका फल है।

हर बार शमशुद्दीन साहब कान पकड़ते हैं, तोबा करते हैं, क़समें खाते हैं। दो-चार दिन इसका असर भी पड़ता है, काम ठीक चलता है, फिर इरादे हार जाते हैं, आदत जीत जाती है, और वही ढर्रा चलने लगता है।

शमशुद्दीन साहबका कुनबा बड़ा है। बेटे हैं, पोते हैं, बेटियाँ हैं, बहुएँ हैं। सब तरहका सुख है, पर वे सुखी नहीं हैं। उन्हें दुःख है कि कुनबेमें कोई उनकी नहीं सुनता। वे चिल्लाते हैं, रूठते है, खाना छोड़ देते हैं, पर पतनाला वहीं पड़ता रहता है।

प्रिन्सिपल डेविडकी उम्र साठ से कम नहीं, पर वे जवानोंसे अधिक फुरतीले हैं। पहले बहुत बीमार रहा करते थे, पर अब बीमारी उन्हें देखकर दूर भागती है। बात यह हुई कि वे पहले बहुत शराब पीते थे। एक दिन किसी डॉक्टरने कहा : "या तो शराब छोड़ दो, या जीनेकी उम्मीद !"

बस वे चौकन्ना हो गये और उसी दिन उन्होंने शराबकी सब बोतलें फोड़ दीं। आज तक इसके बाद उन्होंने शराब नहीं पी। एक पुस्तकमें उन्होंने पढ़ा कि प्रातःकाल उठकर घूमना स्वास्थ्यके लिए उपयोगी है। वे सुबह देर तक सोया करते थे। उसी दिनसे चार बजे उठने लगे। फिर एक दिन भी कभी लेट नहीं हुए।

उनके कॉलेजमें कोई एक हज़ारसे ज्यादा लड़के हैं—सबसे बड़ा कॉलेज नगरमें उन्हींका है और वही सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे सब कॉलेजोंमें हड़तालें होती हैं, हल्ला मचता है, पर उनके यहाँ तो जो डेविडने कह दिया, हो गया,

यह हाल है । न उनकी बात टालनेकी ताक़त विद्यार्थियोंमें है, न प्रोफ़ेसरों-में – कॉलेजका वातावरण उन्हींके चारों तरफ़ घूमता-सा रहता है ।

ये तीन मनुष्योंके तीन चित्र हैं, पर असलमें ये दो ही चित्र है। पाटिल और शमशुद्दीन दो होकर भी एक हैं । वे अपनी सब कमियोंको जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं; उसके लिए निर्णय करते है, पर उस निर्णयपर टिक नहीं पाते । डेविड अपनी कमियोंको जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, उसके लिए निर्णय करते हैं और उस निर्णयपर अटल रहते हैं।

कृपया अपनेसे पूछिए कि आप पाटिल और शमशुद्दीनकी श्रेणीमें हैं या डेविडकी ? और यदि अभीतक पहली श्रेणीमे है, तो क्या आजसे दूसरी श्रेणीमें आनेका दृढ़ निश्चय करेंगे ? इस निश्चयसे पहले यह समझ लीजिए कि जो अपना निश्चय स्वयं नहीं मानता, उसपर अटल नहीं रहता, अपने भी उसका निश्चय-निर्देश नहीं मानते। पाटिल, शमशुद्दीन और डेविडकी असफलता एवं सफलताका यही रहस्य है ।

अभी उस दिन हमारे एक सहृदय बन्धुका टेलेफ़ोन आया कि ज़रा आ जाओ, तो मैं पैदल ही उठकर चल दिया । रास्तेमे पड़ा कचहरीका पुल – ऊपरसे सड़क और नीचेसे रेल जा रही है ।

पुलपर आया, तो देखा कुछ लोग साइकिल-रिक्शामें बैठे जा रहे हैं । चढ़ाईपर रिक्शा पैरोंसे तो खिंच नहीं सकती, इसलिए रिक्शावाला स्वयं पैदल चल हाथोंसे रिक्शा खींचता है । रिक्शाको हाथों खिंचती देख मेरा मन गहराईमें उतर गया और मैंने सोचा कि यहाँ खड़े होकर मनुष्योंका एक नया श्रेणी-विभाग भी हो सकता है ।

वह चली आ रही है एक रिक्शा । एक आदमी रिक्शामें सवार है

और ज्यों ही ढालपर रिक्शावाला उतरा कि वह रिक्शामें बैठा यात्री भी उतर पड़ा। अब यात्री भी पैदल और रिक्शावाला भी। दो-तीन मिनिटमें दोनों पुलपर पहुँच गये और यात्री फिर रिक्शामें बैठ गया। रिक्शा ढालपर सपाटेसे रपट चली। मैंने सोचा : यह यात्री मनुष्य है; क्योंकि इसे दूसरेका दुःख अनुभव होता है और यह दूसरेके दुःखके लिए अपना सुख छोड़ सकता है।

वह चली आ रही है दूसरी रिक्शा। इसमे भी एक यात्री बैठा है। रिक्शावाला पैदल रिक्शा खींच रहा है और यात्री भी उसके साथ ही खिच रहा है। रिक्शा पुलपर आयी तो यात्री बोला : "भाई, बड़ी मेहनतकी कमाई है तुम्हारी !"

मैंने सोचा : यह यात्री भैंसा है, जो दूसरेका दुःख अनुभव तो करता है, पर उसके लिए त्याग करनेको तैयार नहीं।

तीसरी रिक्शा भी सामने ही है। इसमें भी बैठा है एक यात्री काफ़ी मोटा ताज़ा। रिक्शावाला लड़का है कच्ची उम्रका। रिक्शा उससे खिंचती नहीं, पसीना उसे छूट रहा है। थककर उसने कहा : "लालाजी, ज़रा उतर जाओ।" गुर्राकर यात्रीने कहा : "क्यों पैसे नहीं लेगा, जो उतर जाऊँ।" और वह अकड़कर बैठा ही न रहा, हँसी भी करता रहा : "अबे खींच; लगा ज़ोर !"

मैंने सोचा यह यात्री भेड़िया है, जिसके लिए दूसरेका दर्द, दूसरेकी तड़फन भी रास-रंग है।

आगे बढ़ते-बढ़ते मैंने सोचा : मनुष्योंमें मनुष्य भी हैं, भैंसे भी और भेड़िये भी। कृपया अपनेसे पूछिए कि इस कसौटीपर कसनेके बाद आप मनुष्य हैं, भैंसे हैं या भेड़िये हैं और आखिरी दोमें आप आते हैं, तो क्या आजसे पहली श्रेणीमें आनेका प्रयत्न आरम्भ करेंगे ?

कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ

जीवन, मनुष्यकी ज़िन्दगी, एक सरल सीधी राह है। पक्की सड़क-सी सीधी और साफ़, पर सड़कमें चौराहे आते हैं, तो आदमी उलझ जाता है कि इधर जाये या उधर और उसकी चाल रुक जाती है। अब वह होता है एक कठपुतली कि जिधर कोई चला दे, वह चले और कोई चलानेवाला न हो, तो बस झाँका करे घिरे हुए बन्दर-सा, कभी इधर और कभी उधर। इस मनुष्यकी ज़िन्दगीमें भी उस सड़क-जैसे कुछ चौराहे ऐसे हैं कि वहाँ आकर आदमी उलझ जाता है कि यह ठीक या वह ठीक और यह करे या वह करे।

"अरे साहब, आप जाने किन लोगोंकी बात करते हैं यह सब, हर बातमें तर्क, हर बातमें प्रश्नोंकी झड़ी और हर बातमे सत्य-अहिंसाके झमेले; हम भी बीसियों वर्षोंसे इसी धरतीपर जी रहे हैं। हमारी ज़िन्दगीमें तो न कभी सड़क आयी, न चौराहा। बस खाते हैं, पीते हैं, मौज करते हैं।" लो, ये आ गये महेन्द्र साहब और मेरी बातके बीचमें ही टमक पड़े।

हूँ हूँ; ठीक कहते हैं आप। सचमुच मैं आप-जैसोंकी बात नहीं कहता, मैं तो अपने ही-जैसोंकी बात कह रहा था, जिन्हें पग-पगपर सोचना पड़ता है और सोचकर ही हर पग चलना पड़ता है। आप-जैसोंकी बात तो हमारे महात्मा तुलसीदास सदियों पहले कह गये हैं।

"यह क्या कह रहे हैं आप कि हमारे-जैसोंकी बात महात्मा तुलसीदास कह गये हैं। तो क्या कह गये है वे, ज़रा बताइए तो!"

जी, वे कह गये हैं कि "सबते भले हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत रति।" तो भाई साहब, आप तो उन लोगोंमें हैं जिन्हें जगत्‌की कोई बात

छूती नहीं, पर हमें तो जीवनके हर चौराहेपर चौकन्ना होकर सोचना पड़ता है कि कहीं उलझ न जायें।

"आखिर वे उलझनें क्या हैं ?"

उलझनें ? चारों तरफ़ उलझनें-ही-उलझनें हैं सोचनेवालोंके लिए। आज हमारे हज़ारों साथी जिस उलझनमें उलझे हुए हैं, उनमें एक है कोशिश और दूसरी कामयाबी।

"आपकी इन्हीं बातोंको तो मैं झक कहता हूँ। वाह, क्या छौंक लगाते हैं आप भी। दुनियामें दो उलझनें हैं एक है कोशिश और एक है कामयाबी। मालूम होता है लाल बुझक्कड़ मरते समय अपनी खोपड़ी आपके यहाँ धरोहर रख गया है कि कभी स्वर्गसे वापस लौटा, तो उसे ले लेगा और आपकी बातचीतसे पता चलता है कि आप अब उस बेचारेके लौटनेसे एकदम निश्चिन्त हैं और उस खोपड़ीको रात-दिन रगड़ रहे हैं।"

हमने जीवन-दर्शनकी इतनी गहरी बात आपके सामने रखी और आप उसे लाल बुझक्कड़की खोपड़ीकी रगड़ ही बता रहे हैं। वाह, वाह, बात भी कहे तो बस आप-जैसेसे कहे कि कहे अंगूर और समझे लंगूर !

"जी, जी, यही बात है। आपने कही जीवन-दर्शनकी इतनी गहरी बात और हमने उसे लाल बुझक्कड़की खोपड़ीकी रगड़ ही बता दी, पर खैर, बता दी सो बता दी, अब आप हमारी गूढ़-गीताकी भी एक बात सुन लो। कोशिश और कामयाबी ये जीवनकी उलझनें नहीं है जैसा कि आप अभी कह रहे थे। इन दोनोंके मिलापसे एक ऐसी दवा बनती है कि ज़िन्दगी-की सब उलझनें उससे अपने-आप सुलझ जाती हैं।"

आज तो आप सचमुच बड़ी दूरकी कौड़ियाँ ला रहे हैं महेन्द्र साहब ! अच्छा बताइए तो सही कि वह दवा क्या है, जिससे ज़िन्दगीकी सब उलझनें सुलझ जाती हैं ?

"दवा ? आप तो इस तरह उचककर पूछ रहे हैं कि जैसे मेरी दवा हकीम पन्नालालका खमीरा मरवारीद, वैद्य कृष्णदत्तका यकृतप्लीहान्तक

या विलायती डॉक्टरकी निगोडीन हो। मेरी दवा एक विचार है, एक युक्ति है, एक तरकीब है, जो उलझनोंको सुलझाती है और उलझिए मत लीजिए वह दवा है – कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ !"

वाह भाई, यह क्या खाक दवा है, यह तो एक पुराना बहाना है।

"यह बहाना है या क्या है, इसे समझनेके लिए जबतक मैं जीवित हूँ आपको बुद्धिका व्यायाम करनेकी ज़रूरत नहीं। आप सरलताके साथ मेरे अनुभवोंसे लाभ उठा सकते हैं। मैं अपने मुहल्लेमें सबसे बड़ा आदमी समझा जाता हूँ और मुश्किल यह कि धन-दौलतमें ही नहीं, मनुष्यतामें भी। सब लोग मेरे ऊँचे मकानसे ही प्रभावित नहीं है, मेरी सज्जनताके कृतज्ञ भी हैं। आप मुझे बहुत भाग्यशील कहेंगे कि मेरे हिस्सेमें धाम भी आया और नाम भी, पर मैं बड़ा ही बदनसीब सिद्ध होता, अगर कोशिश और कामयाबीकी यह दवा मेरे पास न होती।"

यह कैसे ? आज तो महेन्द्र साहब, सचमुच आपकी बातें गूढ़-गीतासे दूर जीवनकी फ़िलासफ़ीके घेरेमे घूम रही है और आप तो अनुभवोंके आचार्य हुए जा रहे हैं। हाँ, तो कैसे आप इस दवासे बदनसीबीको खुश-नसीबीमें बदल देते है। बताइए तो ?

"अच्छा यह आपका सवाल है, पर मुझे इससे कोई उलझन नहीं, क्योंकि मेरे पास तो इसका उत्तर तैयार ही है। यह उत्तर भी कोई उत्तर नहीं, एक अनुभव है।

एक दिन मैं सुबह सोकर उठा और चायकी पहली घूँट गलेसे उतारी कि लाला नन्दराम आ पहुँचे। कभी बहुत अच्छे हालमें थे, अब दिन काट रहे हैं। घरमें ये हैं, इनकी बुढ़िया है और जवान पोती है। बेटा और बहू पिछली प्लेगकी भेंट हो गये। लम्बी बातचीतके बाद बोले : "अब इस लड़कीके हाथ पीले करने हैं। यह अपने घरकी हो जाये, तो मैं गंगा नहा जाऊँ और यह काम आपकी मददके बिना हो नहीं सकता। इसलिए ऐसा इन्तज़ाम कर दीजिए कि दशहरे तक मुझे एक हज़ार रुपये मिल

जायें। यह आप यक़ीन रखिए कि धीरे-धीरे मैं आपको पाई-पाई चुका दूँगा।"

मैंने उनकी बात बड़े ध्यानसे सुनी और आदरके साथ उन्हें चायका एक प्याला पिला देनेके बाद कहा ऽ आप कोई चिन्ता न करें, मैं पूरी कोशिश करूँगा कि आपकी सेवा कर सकूँ। हज़ार रुपयेकी बात ही क्या है। मैं तो आपको इसी समय रुपये उठा देता, पर आज-कल ज़रा ख़ुश्की है। वैसे कोई बात नहीं, कई जगहसे रुपये वापस आनेवाले हैं। भगवान्‌की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा।

लाला नन्दराम प्रसन्न होकर चले गये। मैंने अपने मनमें सोचा कि नन्दराम उम्रमें बूढ़ा और साधनोंसे हीन; फिर किस बैंकसे इसका ड्राफ़्ट आनेवाला है, जो मुझे यह रुपये लौटा देगा!

मैं सोच ही रहा था कि चौधरी साहब आये। पुराने देशभक्त हैं। देहातोंमें धुआँधार लेक्चर देते हैं और क़लमका सिर दवातमें डुबाना भी जानते हैं। इधर-उधरकी बातोंके बाद बोले : एक बड़ा अच्छा चान्स है कि आपके बड़े बहलख़ानेमें एक प्रेस लगा लें। चुनाव ऊपरसे आ रहा है, एक छोटा-सा अख़बार भी निकाल देंगे। बस चाँदी-ही-चाँदी है। प्रेसमें ज़्यादासे ज़्यादा चार-पाँच हज़ार रुपये लगेंगे और यह चुनाव कमसे कम दस हज़ार रुपये दे जायेगा। प्रेस मुफ़्तमें पड़ेगा। बादमें भी तीन सौ रुपये महीनेकी गोली है। इस समय रुपये आप लगा दें, मेहनत मैं कर लूँगा, बस आधे-आधेकी पत्ती!"

मैंने कहा : हाँ, चान्स तो बुरा नहीं दीखता। आप बातचीत करें, मैं भी कोशिश करूँगा। भगवान्‌की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा। चौधरी साहब ख़ुशी-ख़ुशी चले गये, तो मैं सोचने लगा : पाँच हज़ार रुपये मैं लगा दूँ और प्रेस चौधरी साहब लगा लें। आधे-आधेकी पत्ती रही; यहाँतक तो ठीक है, पर यह पत्ती लोहेकी होगी या अलमूनियमकी, या फिर ईखके गौलेकी ही सूखी पत्ती रह जायेगी, यह किस ज्योतिषीसे पूछूँ?

आइए, बाबू साहब आइए, आज तो आपने बहुत दिनोंमें दर्शन दिये। अरे भाई, कहाँ थे आख़िर कश्यप साहब !

टिपटाप श्री चन्द्रभान कश्यप आ धमके, तो मैंने उनसे पूछा। बोले : "भाई साहब, मैं इधर बराबर बम्बई, कलकत्ता, इन्दौर और दिल्लीके चक्करपर रहा। पचास लाख रुपयेसे एक कम्पनी लिमिटेड की है। यह उसका मेमोरेण्डम है, यह प्रासपेक्ट्स। कई राजा लोग इसके डाइरेक्टर हैं। पैंतीस लाख रुपयेके शेयर्स आलरेडी बिक गये हैं। पहले हम फ़िल्म बनानेका काम करेंगे और बादमें मकान बनानेका। दोनों काम बड़े पेयिंग हैं। पहले ही सालमें पचीस-तीस लाख रुपये हम कमा लेंगे।"

मैं आश्चर्यसे कश्यपकी तरफ़ देख ही रहा था कि वह बोला : "बस अब मुझे मैनेजिंग एजेन्सी बनानी है। दसियों बड़े-बड़े आदमी पीछे पड़ रहे है, पर मैंने सबको मना कर दिया है। मैंने अपने साथ मैनेजिंग एजेन्सीमें आपका नाम रखा है। यह देखिए, छप भी गया है। मैं जानता था कि आप मना न करेंगे। ज्यादा नहीं कोई पचीस हज़ार रुपये शुरूमें दिखाने पड़ेंगे। बादमें तो रुपया-ही-रुपया है। आप चाहें, तो चुपचाप कम्पनीके रुपयेसे कोई दूसरा विजनेस करके फ़ायदा उठाते रहें। महेन्द्र साहब, इस कम्पनीके विजनेसमें यही तो लुत्फ़ है कि रुपया पब्लिकका और मज़ा यारोंका।"

मैंने कहा : मिस्टर कश्यप, निशाना तो तुमने ख़ूब लगाया है, पर मेरे पास रुपया कहाँ है ? मैं तो ग़रीब आदमी हूँ, फिर भी कोशिश करूँगा। भगवान्की दया होगी तो सब काम हो ही जायेगा।

कश्यप साहब भी खुशी-खुशी चले गये और संक्षेपमें यों समझ लो कि शाम तक कोई पचीस आदमी इसी तरहसे आये और इसी तरह ख़ुशी-ख़ुशी गये। इन पचीसमें एक कोढ़ी भी था। उसे मैंने एक आना दे दिया और बाक़ीको अपनी दवाकी आधी ख़ुराक कि—"कोशिश करूँगा।"

– लेकिन महेन्द्र साहब, आख़िर ये लोग फिर भी तो आपके पास

आयेंगे ही उस समय आप इन्हें क्या जवाब देंगे ? मैंने पूछा तो महेन्द्र साहब बोले : "आप भी सारी उम्र चुकन्दर ही रहे। अरे साहब, दवाकी आधी खुराक जो रखी है कि कामयाब न हुआ। बात साफ़ है कि कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ; यानी अब आप कोई दूसरा दरवाज़ा झाँकिए।"

ठीक है, पर महेन्द्र साहब, इससे वे लोग सन्तुष्ट तो हो नहीं सकते; क्योंकि उन्हें आपकी दवाकी नहीं, रुपयोंकी ज़रूरत है ? मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब बोले : "इस दवाके खिलानेमें कला ही यह है कि भूख न मिटे और तृप्ति हो जाये।"

अपनी इस कलाके सम्बन्धमें कुछ अधिक बताइए तो सही, मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब एक विशेषज्ञकी तरह बोले : "कलाका ज्ञान साधना चाहता है। यह वर्षोंमें सीखनेकी बात है। फिर भी दो बातें आप सदा याद रखिए। पहली यह कि कोशिश करनेका वादा अधिकसे अधिक उत्साहमें भरकर कीजिए और कामयाब न होनेकी घोषणा अधिकसे अधिक दुःखमें डूबकर। दूसरी बात यह कि इस कलाकी सफलताका सारा रहस्य इस बातमें है कि उसे आप यह विश्वास दिला सकें कि सचमुच आपने कोशिश की, पर वाक़ई आप कामयाब न हुए। यह काम आप एक ही तरह हर जगह नहीं कर सकते। इसके लिए मनुष्योंकी प्रकृतिका ज्ञान आवश्यक है। कोई किसी तरह सन्तुष्ट होता है, कोई किसी तरह, पर रहस्यका मन्त्र यही है कि उसे यह विश्वास हो कि आपने वाक़ई बहुत कोशिश की, पर आप कामयाब न हुए।"

महेन्द्र साहब, कुछ भी हो आखिर यह अन्याय है – असत्य है, उस आदमीके साथ, जिसे पहले विश्वास दिलाया जाये और बादमे अँगूठा दिखा दिया जाये। मैंने कहा, तो महेन्द्र साहब बोले : यह अन्याय है ? वाह-वाह, अरे भाई ! इसमें न अन्याय है, न असत्य; यह तो सहृदयता है। क्या कोशिशका वादा करते समय मेरी भावना यह होती है कि मैं

उसे धोखा दूँ ? ना, मेरी भावना तो यही होती है कि उसका दिल न तोड़ूँ। कौन जाने वह पहले-पहल मेरे ही पास आया हो और बड़े पुरुषोंका अनुभव है कि पहले द्वारकी निराशा मनुष्यके संकल्पोंकी हत्या कर देती है। इस दशामें नये प्रयत्नोंका साहस ही टूट जाता है। क्या इस स्थितिसे मनुष्यको बचाना अन्याय है, असत्य है ?

फिर अपने पास आनेवालोंमें सब गौमाता ही तो नहीं होते कि उन्हें चारा देना पुण्य हो; कश्यप-जैसे साँप भी तो होते हैं, जिनका काम ही डंक मारना है। ऐसे साँपोंका एक इलाज लाठीसे सिर तोड़ना भी है, पर कोई गुड़ देनेसे मरता हो, तो उसे ज़हर देना क्या कोई अक़्लकी बात है ?"

बीमारी; एक राहत

एक हमारी भाभीजी हैं। चलती हैं, तो कोठीके टाइल तीन सूत ज़मीनमें धँस जाते हैं और काममें उनके हाथ इस तरह चलते हैं कि जैसे वे किसी आदमीके हाथ न होकर किसी बिजलीकी मशीनके पुरज़े हों। ये पुरज़े, जिनके चुप रहनेसे जंग लगनेका खतरा सामने होता है। हाँ, तो वे कभी अपने हाथ-पैरोंको चैनसे बैठने नहीं देतीं और बराबर कुछ-न-कुछ किये ही जाती हैं।

वेदमें भी कर्मका महत्त्व बताया है और क़ुरानमें भी, बाइबिलमें भी और गुरु ग्रन्थ साहबमें भी, पर उन्हें प्रेरणा मिलती है भारतके एक पुराने होकर भी नये सन्तके वचनसे।

"कौन-सा वचन ?"

ठीक है, वह वचन आप सुनना चाहते हैं और मुझे तो वह आपको सुनाना ही था; बात जो आगे नहीं बढ़ती बिना उसे आपको सुनाये, तो सुनिए वह वचन यह है :

"ख़ाली बैठे कुछ किया कर,
कुछ नहीं, तो कपड़े फाड़ा कर और सिया कर !"

"वाह साहब वाह ! यह अच्छा सन्त-वचन आपने सुनाया कि जब और कोई काम न हो, तो खाली मत बैठो। नये कपड़ोंको फाड़ो और उन्हें सियो। भला यह भी कोई अक़्लकी बात हुई ?"

मैं पहले ही जानता था कि आप यह वचन सुनकर भड़केंगे पर मैं जानता हूँ कि मेरी पूरी बात सुनकर आप यह मान लेंगे कि कर्मके महत्त्वपर इससे बड़ी बात न संसारके किसी साहित्यिकने कही और न सन्तने।

"तो सुनाइए आप अपनी पूरी बात !"

"जी हाँ, सुना रहा हूँ और सुना क्या रहा हूँ कुछ यों ही राज़ी-ख़ुशी, सुनानी पड़ रही है; क्योंकि न सुनाऊँ, तो आप देखते रहें बस मेरी तरफ़ और मेरी बढ़ती बात जाये थम – जैसे घन-घोर सर्दीमें पानी बरफ़ बनकर जम जाता है।

बात यह है कि आदमीके भीतर काम करनेकी शक्ति है, उनकी एक हद है, एक सीमा है। उससे ज्यादा बोझ हम उसपर लादें, तो वह टूट जाती है और उससे कम काम लें, तो बिना चलते पहियेकी तरह वह जंग खा जाती है – कमज़ोर हो जाती है। इसलिए ज़रूरी है कि हम अपनी शक्ति-भर काम करते रहें। यह ज़रूरी इतना जरूरी है कि हमारे पास कभी काम न हो, कामकी कमी हो, तो हम काम निकालें, काम करें; भले ही यह निकाला हुआ काम कपड़े फाड़कर सीनेका हो!

जिसने यह बात कही, वह कमसे कम हमसे ज्यादा नहीं, तो कम होशियार तो न था। वह मनुष्यके शरीरकी बनावटसे ही नहीं, मनकी बनावटसे भी परिचित था। वह जानता था कि कपड़ा तो मरम्मत किया हुआ भी काम दे सकता है, पर मनुष्यके भीतर अठखेलियाँ करती काम करनेकी शक्ति कमज़ोर हो जाये, तो फिर वह पूरी नहीं हो सकती। 'खाली बैठे बेगार भली' इस कहावतमें यही तो सत्य छिपा है!

और लीजिए, एक और बात बताऊँ आपको कि जब मैं बीमार पड़ता हूँ तो मुझे एक अन्दरूनी राहत मिलती है।

"वाह-वाह! अभीतक तो कपड़ोंको फाड़कर सीनेका विज्ञान ही आप बता रहे थे, अब बीमारीमें भी एक अन्दरूनी राहत आपको दिखने लगी; यानी सेरपर सवा सेर!"

आपमें यह बड़ी खराब आदत है कि न तो पूरी बात सुनते हैं, न समझते हैं, हाँ भड़क उठते हैं। पूरी बात सुन लीजिए और फिर देखिए कि कपड़ोंको फाड़कर सीनेकी तरह आपको बीमारीमे भी कोई राहत दिखाई देती है या नहीं।

मैंने कहा नहीं आपसे अभी कि जब हम अपने शरीरको उसकी शक्तिसे ज़्यादा या कम काम देते हैं, तो वह एक झटका खाता है और बीमारी इस झटकेके ख़िलाफ़ एक बग़ावत है।

बग़ावतके नामसे आप चौंक क्यों पड़े ? हमारे देशमें १८५७से १९४२ तक बग़ावतोंका ही दौर-दौरा रहा, पर हाँ, आपने तो उनमें कोई हिस्सा लिया नहीं, फिर क्या जानें आप, भला बग़ावतकी राहत !

हमारे देशमें एक यशस्वी धनपति हैं : श्री घनश्यामदास बिड़ला, धनपति और विद्वान् ! वे एक बार अँगरेज़ सरकारके किसी कमीशनका मेम्बर बनकर वियेना गये। वहाँ उन्होंने सरकारी कामके साथ एक काम यह किया कि डॉक्टरोंको अपना मेदा दिखाया। उनकी रायमें उनका मेदा कमज़ोर था, पर डॉक्टरोंने कहा : आपका मेदा तो सेठ साहब, बिलकुल ठीक है।

सेठ साहबकी अक़्ल परेशान कि यहाँ तो खट्टी डकारों, हँकारों और अफारोंसे नाकमें दम है और ये भले आदमी कहते हैं कि मेदा आपका ठीक है। अजीब विशेषज्ञ हैं ये ! सेठजीने लाख अपनी डकारोंके नारे लगाये, पर डॉक्टरोंने एक न सुनी।

अन्तमें उन्होंने कहा : "आप अगर एक मन बोझा उठा सकते हैं और आपपर लाद दिया जाये दो मन, तो क्या आप चल सकेंगे ?"

सेठजी बोले : "ना, मैं तो गिर पड़ूँगा !"

विशेषज्ञ बोले : "यह गिर पड़ना कोई बीमारी थोड़े ही है। यही हाल आपके मेदेका है। उसमें जितना खाना हजम करनेकी ताक़त है, आप उससे ज़्यादा खा लेते हैं, बस पेट उसे बरदाश्त नहीं करता और डकारों और अफारोंके रूपमें बग़ावत कर देता है !" बिड़लाजी यह बात मान गये।

अच्छा, आप जानते हैं कि मरना क्या होता है ?

मैं जानता हूँ कि आप इस प्रश्नपर भी भड़केंगे और कहेंगे बड़े तपाकसे कि वाह साहब, यह भी कोई प्रश्न है कि मरना क्या होता है ? इसे तो

बच्चे भी जानते हैं कि मरना होता है मर जाना। हमारे बाप-दादा, परदादा सब मर गये कि नहीं ?

जी हाँ, आपके बाप, दादा, परदादा मर गये और आपने भक्तिपूर्वक उन्हें ठिकाने लगा दिया, यह भी मैं जानता हूँ, पर इससे मेरे प्रश्नका तो हल हुआ नहीं। मेरे प्रश्नमें यह कहाँ था कि आपके कुनबेकी मरण-रिपोर्ट क्या है ? मैं तो सिर्फ़ यह पूछ रहा हूँ कि मरना आखिर होता क्या है ?

सुनिए, आप क्या बतायेंगे इस सवालका जवाब; मरनेका मतलब है शरीरमे बग़ावत करनेकी ताक़त न रहना !

आपकी समझ ज़रा सूक्ष्म है, इसलिए मैं अपनी बातको यों कहना चाहता हूँ आपका पैर काँटेपर पड़े, तो आप उछल पड़ते हैं। यह उछलना आपके शरीरकी बग़ावत है। अब अगर काँटा चुभे और शरीर न उछले तो समझिए कि आप मर गये या मर रहे हैं। तो मेरी सारी बातका सार यह है कि बीमारी शरीरपर होनेवाले बाहर-भीतरके आक्रमणोंके विरुद्ध एक बग़ावत है और इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि बीमारीमे भी एक राहत है; यानो यह विश्वास कि मैं बीमार हूँ, तो अभी जीवित हूँ, युद्ध कर रहा हूँ, मर नहीं रहा हूँ। जीवनके विश्वाससे बढ़कर भी क्या कोई और राहत हो सकती है !

कभी-कभी तो जीवनका विश्वास मनुष्यके लिए एक नये जीवनका मार्ग खोल देता है। आप तो जानते ही हैं भगत नन्दलालको। कौन है, जो आज उनका भगत नहीं। सभी उन्हें सिर आँखों लेते हैं, पर मालूम है आपको कि पन्द्रह साल पहले वे नम्बर एकके दुष्ट थे।

जाने कितनोंको जालसाज़ीमे फाँसकर उन्होंने लूट लिया, कितनोंकी इज़्ज़त ली और कितनोंकी जानें। पूरे ख़ूनी थे ख़ूनी, पर अब पूरे भगत हैं। भगत भी बगुला भगत नहीं, सच्चे भगत। वाक़ई ज़िन्दगी बदल गयी उनकी और वो भेड़ियेसे गाय बन गये। अपाहिज-आश्रम तो उनका मशहूर है ही, सेवाके और भी बहुत-से काम उनके हाथों चल रहे हैं।

यह इतना बड़ा परिवर्तन, तबदीली, उनमें कहाँसे आ गयी ? बात यह हुई कि वे एक बार बीमार पड़े और बीमार क्या पड़े, उनका तमाम शरीर फूट आया। कहीं सींक रखनेको भी जगह नहीं। फुन्सी-ही-फुन्सी; यों समझिए कि फुन्सियोंसे घिरे वे खुद एक फोड़ा बन गये। न करवटें ले सकें, न बैठ सकें। चारों ओर बदबू-ही-बदबू। ऐसी हालतमें तो कोई लोकप्रिय आदमी भी परेशान हो जाता है; फिर अपनी दुष्टताके कारण, वे तो सबके दुश्मन ही थे। तब कौन आता उनके पास इस हालतमें !

मनुष्यके मनकी यह बनावट है कि जब बाहरसे निराश हो जाता है, तो अपने भीतर झाँकता है। नन्दलालने भी बाहरसे निराश होकर भीतर झाँका और भीतर क्या झाँका उन्होंने एक नयी दुनिया देखी। उसने जीवन-भर जिन्हें सताया था, वे ही सब वहाँ खड़े दिखाई दिये और दिखाई क्या दिये, नन्दलालको लगा कि हर एक फुन्सीके रूपमें उनका पहले सताया हुआ कोई आदमी आज उनकी छातीपर सवार है। वे काँप उठे और अपने ऊपर उन्हें गहरी घृणा हो गयी।

उन्होंने चाहा कि वे मर जायें, पर चाहतेके पास मौत कहाँ आती है। मौत उन्हें छोड़ गयी और वे अच्छे हो गये। अच्छे क्या हुए, बस अच्छे ही हो गये। अब वे बीमारीसे पहलेके नन्दलाल न थे, नये नन्दलाल थे। अपना धन लगाकर उन्होंने एक अपाहिज-आश्रम खोल लिया था। वे उसके मालिक नहीं, सेवक थे। उनका चेहरा अब और तरहका हो गया था। उसपर क्रूरताकी जगह कोमलता आ गयी थी और गलेकी कड़क मिठासमें बदल गयी थी। अब वे राक्षस नन्दलाल नहीं, देवता नन्दलाल थे। कोई समझे तो क्या समझे ? अब बताइए आप ही कि आज उन्हें जो राहत नसीब थी, वह बीमारीकी राहत ही तो थी !

विश्वविख्यात लेखक श्री एच० जी० वेल्सका निर्माण भी तो बीमारीने ही किया था। वे पतले-दुबले बालक थे। अपने बचपनमें एक दिन उनके साथियोंने गेंदकी तरह उन्हें उछाल दिया। उत्साहमें उछाल तो दिया,

पर वे बोच न सके। नतीजा यह कि उनकी हड्डी टूट गयी और वे एक साल पलंगपर पड़े रहे। पड़े-पड़े और तो कुछ कर ही न सकते थे, पुस्तकें पढ़ते रहे और इस शान्त अध्ययनने ही उन्हें लिखनेकी ताज़गी दी।

एक बार वे फिर बीमार पड़े और इस बार तो ऐसे पड़े कि जीवनकी उम्मीद ही जाती रही। बात यह हुई कि वे फ़ुटबॉल खेल रहे थे और गिर पड़े। इस बीमारीसे उभरनेमें उन्हें बारह वर्ष लगे। उन बारह वर्षोंमें वे पड़े-पड़े पुस्तकें पढ़ते रहे और वे ख़ुद कहा करते थे कि मेरी बीमारियोंने ही मुझे विश्वविख्यात बनाया।

यों कहो तो यह एक मामूली बात है, पर ज़रा ग़ौर करो, तो इस बातमें एक बहुत बड़ी बात है। बड़ी बात यह है कि मनुष्य अपनेसे बाहर भटकता फिरता है, पर राहत, चैन और शान्ति स्वयं उसके भीतर है। अब इस मसलेपर मैं आपको गीताकी गम्भीरतामें उतारूँ या फिर योग-वाशिष्ठ या योगदर्शनमें ले चलूँ, तो शायद आप घबड़ा उठें; क्योंकि बात यह है कि आप इस वक़्त दिलचस्प बातचीतकी मूडमे है और बहुत हो, तो डॉक्टरकी चीनी-चढ़ी कुनैन भी ले सकते हैं – हकीम साहबका काढ़ा नहीं।

तो ख़ैर, रहने दीजिए, आज गीता और योगकी गहराइयाँ, पर पागलोंमें तो आपकी काफ़ी दिलचस्पी है। मुझे याद है उस दिन हम लोग बैठे बातें कर रहे थे, तो वह हैट-कोट-पतलूनधारी पागल आपके बैठक-खानेमें घुस आया था।

हाँ-हाँ, आपने उसमें काफ़ी दिलचस्पी ली थी और उसके साथ गप्पों-के ग़ुब्बारे ख़ूब उड़ाये थे।

"कहाँ गीता और योगकी गहराइयाँ और कहाँ पागलकी बात? आप भी ख़ूब बेपरकी उड़ाते हैं।"

जी, मैं ख़ूब बेपरकी उड़ाता हूँ। यह परवाली आपने ख़ूब उड़ायी, पर न आपसे बात कर रहा हूँ मैं गीताकी और न पागलोंकी, मैं तो बात कर

रहा हूँ बीमारीकी राहतपर और यक़ीन कीजिए कि इस पागलकी बातका भी उस बातसे एक सिलसिला है ही।

भारतके एक मनोवैज्ञानिकने पागलोंके सम्बन्धमें जो नयी खोज की है, उसमें उसने एक बड़ी मज़ेदार बात कही है कि जिन परिवारोंमे पागल होते हैं, उसमे ही ऊँचे दरजेकी विभूतियाँ भी पैदा होती है। वैज्ञानिकने इसकी छान-बीन करते हुए कहा है कि हमारे दैनिक जीवनकी कठोरताएँ जीवनमें इस तरहकी दुश्चिन्ताओंको जन्म दे देती हैं कि जीना एक बोझ हो जाता है। इस हालतमें पागलपन राहतकी एक महान् औषधि सिद्ध होता है, जो जीवनकी तमाम दुश्चिन्ताओं और असफलताओंका हरण कर आदमीको बिना मुकुटका राजा बना देता है।

"बिना मुकुटका राजा ?"

अजी, राजा क्या, राजाओंका भी राजा ! लीजिए दो पागलोंका एक दिलचस्प संवाद सुनिए, एक पागलने अपनी मस्तीमें झूमकर कहा : "ऐ दुनियाके लोगो, मैं तुम्हें ख़ुदाके क़हरसे बचानेके लिए ही धरतीपर भेजा गया हूँ। आओ, मेरे दामनके सायेमे आकर खड़े हो जाओ। मैं क़यामतके दिन तुम्हारे सब गुनाह बख़्शवा दूँगा।"

एक दूसरा पागल कुछ दूर घासपर पड़ा इन हज़रतकी बातें सुन रहा था। उसने अधउठे होकर, इनकी तरफ़ देखा और बहुत गम्भीरतासे कहा : "ऐ दुनियाके लोगो, यह झूठ बोलता है। मैंने इसे दुनियामे नहीं भेजा और न इसके कहनेसे मैं क़यामतके दिन एक भी आदमीको बख़्शूँगा।"

मतलब साफ़ कि पहले महाशय अपनी आँखोंमें पैग़म्बर थे, तो दूसरे महाशय उनसे भी ऊपर साक्षात् ख़ुदा ही थे। कहिए यह राहत, यह सन्तोष और यह मस्ती पागलपनकी बीमारीके सिवाय आपको या मुझे और कौन दे सकता है और यही राहत तो है, जो हमारे उस वैज्ञानिकके कहनेके अनुसार उन परिवारोंमें महापुरुषोंको जन्म देती है, जिनमें अकसर लोग पागल होते हैं।

"अच्छा आपने हमें एक बार लड़ाईका व्याकरण बताया था। हमारे मित्रों तकने उस व्याकरणमें बहुत रस लिया। क्या बीमारीकी राहतका भी कोई व्याकरण आप हमे बता सकते हैं ?"

तो यों कहिए कि सवाल पूछकर आप मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं, पर हज़रत, याद रखिए कि यह मज़ाक़ कुछ जमेगा नहीं, क्योंकि बीमारीकी राहतका एक व्याकरण सचमुच है।

"क्या कहा आपने कि बीमारीकी राहतका सचमुच एक व्याकरण है ? कहाँ है वह व्याकरण; हमने तो कभी पढ़ा नहीं उसे ?"

जी, आपने उसे सैकड़ों बार पढ़ा है, पर पढ़नेसे क्या होता है, समझा नहीं आपने। बीमारीकी राहतका व्याकरण उर्दूमे है और बरसों हुए छप भी चुका है।

"उर्दूमें बरसों हुए बीमारीकी राहतका व्याकरण छप चुका है, यह क्या कह रहे हैं आप ?"

जी, मैं ठीक कह रहा हूँ। लीजिए, आप भी देख लीजिए बीमारीकी राहतके व्याकरणका पहला सूत्र यह है कि आदमी मौतसे न डरे और उसे ज़िन्दगीकी ही एक क़िस्त समझता रहे। देखिए, किस सफ़ाई और सादगी-से यह बात कही गयी है :

"जिस पै एहबाब बहुत रोये, फ़क़त इतना था—
घर को वीरान किया, क़ब्र को आबाद किया।"

अरे भाई, मौत इतनी ही बात तो है कि एक ज़िन्दगी छोड़ दी और दूसरी शुरू की। फिर इसमें परेशानी क्या, हाय-हाय क्यों; यह भी जीवन है, वह भी जीवन ! मनुष्य अपने अमर जीवनकी एक लम्बी यात्रापर चला जा रहा है। यह आजका जीवन इस यात्राका एक स्टेशन है। स्टेशनपर भला, कब कौन बसा है। तो फिर स्टेशनसे उठनेका रंज क्या, बेचैनी कैसी ? सामान उठाया और उठ चले। देखिए न, यह बात इस व्याकरणमें किस सफ़ाईसे कही गयी है :

"हिर्सो हविसो ताबो तवाँ दाग़ जा चुके !
अब हम भी जानेवाले हैं सामान तो गया।"

भावनाएँ, वासनाएँ और आवेग चले गये। इनसानी ज़िन्दगीके यही तो असली सामान हैं। अनुभवी दाग़ कहते हैं, बस इस सामानके बाद हम भी जाने ही वाले हैं। ठीक भी है, सामान उठकर नयी गाड़ीमें रखा गया, तो कौन है, जो फिर स्टेशनपर ही जमा बैठा रहे ?

यह शान्ति, यह स्थिरता मनुष्यमें रहे, इसके लिए उसमे विश्वासकी ज़रूरत है। यह विश्वास या तो मृत्युकी अनिवार्यताका विश्वास हो, जैसा कि अभी मैंने कहा और या फिर जीवनकी अनिवार्यताका :

"मसरूफ़ कर लिया मुझे उसके ख़याल ने,
जा ऐ अजल कि मरने की फ़ुरसत नहीं मुझे।"

आप कितने भले हैं ?

हर मनुष्य भला आदमी, सज्जन पुरुष बनना चाहता है । न कोई दुर्जन होना चाहता है, न अपनेको दुर्जन कहलाना चाहता है, पर सज्जन वह हो सकता है, जो अपने हर कामको अपनी आँखकी तराज़ूमें तोलकर चले ।

क्या आपने कभी ऐसा किया है ? क्या कभी एकान्तमें बैठकर गहराई-से सोचा है कि आप सज्जन हैं या दुर्जन ? और यदि सज्जन हैं, तो कितने सज्जन ? मेरा विचार है कि ऐसा आपने कभी नहीं किया और आप भी उन्हीं लोगोंमे है, जो बिना यह जाने कि किधर जा रहे है, चले जा रहे हैं !

आप अपने कामोंमे स्वतन्त्र है, पर मुझे इतना कहनेका तो अधिकार है ही कि जीवनकी यात्रा कोई अन्धोंकी रैली नहीं है । यह तो एक सुव्यव-स्थित यात्रा है । अधिकांश लोगोके दुःखी होनेका कारण यही है कि उन्हें जो मिल गया, वे उसे ही ढोये चल रहे है और जो उन्हें मिलना चाहिए, उसे पानेका, अपने लिए उसके नव-निर्माणका, वे प्रयत्न नहीं करते ।

जीवनमे हर घड़ी ऐसे अवसर आते रहते हैं, जिनमे मनुष्य कुछ सीखे, कुछ पाये और अपनेको आजसे कल श्रेष्ठ बनाये, पर हम जीवनको आँख खोलकर नहीं देखते, अपने सामने अनायास आ पड़े रत्नोंको नहीं बटोरते । उर्दूके कविने दुःखी होकर एक दिन कहा था :

"य' इबरत को जा है, तमाशा नहीं है !"

अरे भाई, यह दुनिया, यह ज़िन्दगी, इबरतकी, सीखनेकी जगह है, कोई तमाशा नहीं है कि बस देख लिया, देख लिया, पर इबरतके लिए, सीखनेके लिए, तो साधनाकी, श्रमकी आवश्यकता है ।

आप भी चाहें, तो एक नयी इबरत, एक नयी शिक्षा ले सकते हैं और अपनेको भला आदमी, सत्पुरुष और श्रेष्ठ नागरिक बना सकते हैं । सुविधाके

लिए कुछ प्रश्न ये हैं। अपनेसे पूछिए और उत्तर दीजिए, तुरन्त परिणाम आपके सामने आ जायेगा।

१. आपके नौकरोंके वस्त्र, निवास और भोजनकी व्यवस्था कैसी है ?

२. क्या उनके गन्दे और फटे वस्त्रोंको देखकर आप विह्वल हो उठते हैं और उनके लिए अपेक्षाकृत अच्छे वस्त्रोंकी व्यवस्था किये बिना आपके मनको चैन नहीं पड़ती ?

३. जब वे कामसे निमटकर दोपहरको सोते है, तो उन्हें देखकर आपको सन्तोष मिलता है या झुँझलाहट आती है ?

४. क्या आप ध्यान रखते हैं कि जो कुछ आप खायें वह उन्हें भी अवश्य मिले ?

५. क्या आप उनमें पढ़ने-लिखनेकी प्रवृत्ति जगानेका प्रयत्न करते हैं ? संक्षेपमें क्या आपको इस बातकी चिन्ता है कि वे आजसे कल श्रेष्ठ हों ?

६. क्या रेलमे बैठनेपर आपको इस बातसे प्रसन्नता होती है कि दूसरे यात्री भी उस डिब्बेमें चढ़ें ?

७. क्या स्त्रियों और बूढ़ोंको खड़ा देखकर आप अपना स्थान उन्हें देकर कभी स्वयं खड़े रहे हैं ?

८. जब कोई संकटग्रस्त सहायताके लिए आपके पास आता है, तो आप अपने बुरे दिनोंको याद कर उसका हाथ बटाते है या झंझटोंसे बचनेके लिए उसे टाल देते है ?

९. जब आप अपने बच्चोंके साथ बैठे कोई बढ़िया चीज़ खाते हैं, तो पड़ोसियोंके बच्चे यदि उस समय वहाँ आ जायें, तो आपके मनपर क्या प्रभाव पड़ता है ?

१०. आप अपने साथ अपने मालिकों, अफ़सरों या बुज़ुर्गोंका जो व्यवहार चाहते हैं, क्या उसमें और आपका आपके नौकरों, मातहतों और छोटोंसे जो व्यवहार है, उसमें समानता है ?

११. जो बातें आप पूरी तरह नहीं जानते, क्या आप उनपर भी राय देते हैं और जिन मामलोंको आप पूरी तरह नहीं समझते, उनपर भी बहस करते हैं ?

१२. आप दूसरोंसे, समाजसे, शासनसे अपने लिए बहुत कुछ चाहते हैं, पर क्या कभी आपने सोचा है कि दूसरे लोग, समाज और शासन भी आपसे कुछ चाहते हैं ?

१३. आप उन सुखोंपर अधिक विचार करते हैं, जो आपको प्राप्त हैं या उनपर जो आपको प्राप्त नहीं हैं ?

१४. क्या आपके जीवनमें एकान्तके लिए स्थान है ?

१५. यदि आपके दो मित्रोंमें मतभेद हो, तो आप एकका पक्ष लेते हैं या दोनोंको मिलानेका प्रयत्न करते हैं ?

१६. आप सजावट-शृंगारकी चीज़ोंपर कितना ख़र्च करते हैं और स्वास्थ्यकी चीज़ोंपर कितना ?

१७. आपमें कुछ साल पहले जो बुरी आदतें थीं, वे घटी हैं, बढ़ी हैं या उतनी ही हैं ?

१८. आप अपने घरवालों, पड़ोसियों और मित्रोंके गुणोंपर ध्यान देते हैं या दोषोंपर ?

१९. क्या आपको अपनेमें अधिक दोष और दूसरोंमें अधिक गुण दिखाई देते हैं ?

२०. आप दोषोंसे घृणा करते हैं या दोषीसे ?

२१. आप ऐसे कितने काम करते हैं, जिनका आपके निजी या पारिवारिक स्वार्थोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं ?

ये इक्कीस प्रश्न हैं। यदि आप इनपर चिन्तन करें, तो इक्कीस मिनिटमें इनका उत्तर पा सकते हैं, पर बार-बार ये आपके सामने आने लगें, तो इसे आप अपनी विशेष मानसिक प्रगतिका ही मान-दण्ड मान लें।

जब वे मुशायरेके कन्वीनर थे !

हमारा देश कभी राजाओंका देश था और उनके मुकुटोंमे जगमगाती मणियोंके मापदण्डसे हमारे देशके वैभव और गौरवकी नाप हुआ करती थी ।

इन राजतन्त्रोंका फल देशको गुलामीके रूपमे मिला और लगभग एक शताब्दीके संघर्षके फलस्वरूप हमारे देशमें उस महान् प्रजातन्त्रकी स्थापना हुई, जिसमे कोई राजा राजा नहीं रहा और जनता ही राजा हो गयी ।

यह स्थिति ऐतिहासिक है और इसमे सन्देहकी गुंजाइश नहीं, पर यह कितने आश्चर्यकी बात है कि आज भी हमारे देशमें इतने राजा हैं कि हम जब चाहें, उन्हें किसी भी नगरमे, क़स्बेमे और यहाँतक कि छोटे-से गाँवमें भी पा सकते है ।

"आज-कल हमारे देशके हर नगर, क़स्बे और यहाँतक कि गाँवमें भी राजा पाये जा सकते हैं, यह कह क्या रहे हैं आप ? अरे भाई, राजा तो राजा अब तो ताल्लुक़ेदार और ज़मींदारोंका भी पता मिलना मुश्किल हो रहा है इस देशमें, यह सब आप कहीं नींदमें तो नहीं बड़बड़ा रहे हैं ?"

जी हाँ, ठीक है : 'चोर को चोर, सती को सती और साधु-जती को जती पहचाने' जैसे आप ख़ुद निन्दैल है, वैसे ही दूसरोंको समझते हैं । गरमियोंकी उस रातमें मकानकी ऊँची छतपर सोते-सोते उठे और जाने किधरको चल दिये । आँखें जनाबकी तब खुलीं, जब छतपर-से गलीमें अपने ही गिर पड़नेका धमाका ख़ुद आपके कानोंने सुना । घरके लोग उठाकर लाये, डॉक्टर दौड़े, हफ़्तों अस्पतालमें झूला झूलकर उठे भी, तो अब इस तरह ठुमकेके साथ चलते हैं, जैसे पहाड़ी लोग बिना बाजोंके नाचमें ताल दिया करते हैं ।

आप शायद दूसरोंको भी ऐसा ही समझते हैं । अरे भाई मेरे, यह

ऐतिहासिक सत्य है कि अब इस देशमें कोई राजा नहीं रहा और यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि इस देशकी गली-गलीमें राजा बसे हुए हैं। आपने वह पुराने ज़मानेकी कहानी तो सुनी ही होगी ?

"पुराने ज़मानेकी कौन-सी कहानी ? हज़ार कहानियाँ हैं आखिर पुराने ज़मानेकी तो !"

लीजिए, मैं सुनाता हूँ आपको वह कहानी : एक बुढ़िया थी। उसका एक बेटा था। वह बेटा भौंदू था। काम-धाम न करनेको वजहसे गाँवमें सब उसे भौंदू ही कहा करते थे। उसकी माँका नाम भी भौंदूकी माँ पड़ गया था। एक दिन किसी बातपर गाँवके लोगोंने उसका बहुत मज़ाक़ उड़ाया। भौंदूने अपनी माँसे कहा : "मैं परदेश जाऊँगा माँ।" माँने कहा, "परदेश जाकर तू क्या करेगा मेरे बेटे ?" भौंदू बोला : "माँ मैं रोज़गार करूँगा, धन कमाऊँगा।" हँसकर माँ बोली : "तू क्या रोज़गार करेगा मेरे लाल ?" भौंदूने कहा : "जो क़िस्मतमें होगा।"

भौंदू दूसरे दिन परदेशको चल पड़ा। चलते समय भी गाँववालोंने उसकी हँसी उड़ायी। किसीने कहा : "भौंदू राजा बनेगा।" किसीने कहा : "महल बनायेगा भौंदू।"

भौंदूने किसीको जवाब नहीं दिया और चल पड़ा। चलम-चल, चलम-चल वह एक बड़े नगरमें पहुँचा। यह राजाका नगर था। उसमें आज बड़ी चहल-पहल हो रही थी। भौंदूने एक आदमीसे पूछा : "भाई, आज क्या बात है ?"

उसने कहा : "इस नगरका राजा मर गया है। आज दूसरा राजा बनेगा। दोपहरको एक कबूतर राजमहलसे छोड़ा जायेगा। वह उड़ता-उड़ता जिसके सिरपर बैठ जायेगा, उससे राजाकी बेटी ब्याह कर लेगी और वही राजा बनेगा।"

भौंदूको कहीं कुछ काम तो था नहीं। वह भी एक चौराहेपर खड़ा होकर यह तमाशा देखने लगा। ठीक वक़्तपर प्रथाके अनुसार राजमहलसे

वह कबूतर छोड़ा गया। सब उसे देखने लगे। कबूतर उड़ता रहा और अचानक जब नीचे उतरा, तो उस भौंदूके ही सिरपर बैठ गया।

बस फिर क्या था, वज़ीरोंने उसे हाथों-हाथ उठा लिया और बाजे-गाजेके साथ महलमें ले गये। राजाकी बेटीने उसके गलेमें माला डाली और पण्डितोंने वेद-मन्त्र पढ़कर उसे गद्दीपर बैठाया। भौंदूकी सूरत ही नहीं बदली, अक़्ल भी पैनी हो गयी। बड़ी चतुरतासे वह राज-काज करने लगा। एक दिन वह अपनी रानीको लेकर अपने गाँवको चला। फ़ौज-फ़र्रा, वज़ीर-उमरा, नौकर-चाकर, बाजे-गाजे सब साथ थे। गाँवमें पहले ही अफ़सर पहुँच गये थे और सारा गाँव सजा हुआ था।

जब राजा हाथीसे उतरा, तो गाँवके लोगोंने कानाफूसी करी : "अरे भाई, यो तो हमारा भौंदू है।" उसकी माँने कहा : "जैसी भगवान्ने हमारी क़िस्मत बदली, ऐसी सबकी बदले।"

तो भाई साहब, जिस तरह कबूतरके सिरपर बैठनेसे भौंदू राजा हो गया था, वैसे ही ये राजा हैं, जो हमारे महान् देशकी गली-गलीमें फैले हुए हैं। बस इनमें और भौंदूमें एक ही फ़र्क़ है कि भौंदू तो हो गया था क़िस्मतसे सारी उमरका राजा और ये बेचारे अपने पुरुषार्थसे बस चार घड़ीके ही राजा हैं।

"तो भैया, ऐसे किसी राजासे हमारी भी मुलाक़ात कराओ। ज़रा हम भी तो देखें कि इन राजाओंमें क्या अदाएँ हैं ?"

वाह, भाई वाह, यह आपने भी एक ही कही। अरे भाई, आपसे इनकी मुलाक़ात करानेके लिए ही तो ये इतनी खरपंचकें इकट्ठी कर रहा हूँ।

हमारे ही नगरके एक सज्जन हैं बाबू नानकराम। बाप-दादा शहरमें चार मकान बना गये थे, आरामसे बैठे उनका किराया खाते हैं। किरायेदार भी सब नौकरीपेशा हैं। बस, दूसरी तारीख़को गये, नोट गिन लाये, फिर तीस दिनकी छुट्टी, पान चाबिए और बातें छौंकिए।

उनकी ज़िन्दगीका एक दृश्य मैंने देखा है और जब भी वे राह चलते कहीं मिल जाते हैं, तो और कुछ याद आये-न-आये, वह दृश्य ज़रूर आँखोंमे घूम जाता है।

दूसरा युद्ध चल रहा था और ब्रिटिश सरकार हारपर हार खा रही थी। हमारे ज़िलेके अँगरेज़ कलक्टरने जनताका ध्यान बटानेके लिए एक मुशायरा कराया। वह चाहता था कि जनताको यह मालूम न पड़े कि इसमें सरकारका हाथ है, इसलिए उसने कमेटीमें रख दिये कुछ शौक़ीन रईस और संयोजक बना दिया बाबू नानकरामको। यह ख़ानबहादुर नज़ीरख़ाँकी सिफ़ारिशका नतीजा था, क्योंकि नानक बाबू हमेशा ही उनके अँगूठा-छाप रहे हैं।

उसी दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये। देखते ही मुझे लगा कि आज कोई ख़ास बात है। बात यह हुई कि रोज़ उनका हुलिया एक फ़टीचरका तामझाम रहता है। पैरोंमे ऐसा सैण्डिल, जिसके तस्मे नदारद या फिर मुड़कर पंजोंमे दबे हुए, जो हर क़दमपर सैण्डिलकी सपरसट ध्वनिके साथ मँजीरेकी टुनक-सा ताल देते चलें। पैरोंमें एक पाजामा, जो साइकिलमे उलझनेके कारण पाँवचोंपर फटा हुआ और जिसमें कभी तो आलपीनसे जोड़ लगाया हुआ, कभी गाँठ बाँधकर और कभी यों ही लपर-सप्प; रास्तेकी मिट्टीसे हर हालतमें कृष्णमूर्ति। गलेमे एक क़मीज़, जिसमें पूरे बटन एक ही तरहके कभी किसीने नहीं देखे, इस बारेमे मैं क़सम खा सकता हूँ। उनके सिरपर चाहे उनके ही पड़बाबाकी ख़रीदी फ़ैल्ट कैप रहे या धोबीके घरसे भूलमें किसी दूसरेकी आयी गान्धी कैप, उसके चारों ओर तेलकी चिकनाईका काला घेरा आवश्यक है। बात यह है कि सरसोंके तेलकी उपयोगितामे बाबू नानकरामका अखण्ड विश्वास है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि उस दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये, तो मझे लगा कि आज जरूर कोई ख़ास बात है। पैरोंमें उन ऐतिहासिक

यानी अजायबघरी सैण्डिलोंकी जगह नया टैनिश शू, ऊपर सर्ज़की धारीदार पतलून, जिसकी क्रीज़ लैश-लब्बैक, ऊपर उसी सर्ज़का कोट, जिसपर ताज़ी अस्त्री बिना बोले ही बोल रही, जेबमें रूमाल, उसी रंगका, उसी रंगकी टाई और सिरपर क़रीनेसे बाहे गये बाल !

कहिए, क्या बात है बाबू नानकराम, आज तो यार, पूरे छैला हो रहे हो। आख़िर बात क्या है ? मैंने उन्हें देखते ही पूछा, तो बोले : "कलक्टर साहबने बुलाया था, उनके बँगलेसे आ रहा हूँ।"

क्यों क्या बात है, किसी चोरी-डकैतीकी तफ़तीशमें तुम्हें टटोला जा रहा है क्या? आज-कल डी० आई० आर० (डिफ़ैन्स आफ़ इण्डिया रूल्स) का जोर है, जिसे देखा धांग दिया ! मैंने उनसे सहानुभूति प्रकट की, तो गर्वसे बोले : "नहीं भाई साहब, ज़िलेमें किसको हिम्मत है, जो हमसे आँख मिलाये। सब जानते हैं कि कलक्टर साहबसे हमारे ख़ास ताल्लुक़ात हैं। आज सुबह ही उनका आदमी आया था, शानसे गये और मुलाक़ात की। एक मुशायरा हो रहा है। कहने लगे : "वेल नानकराम, हमने तुम्हें उसका कन्वीनर बनाया है। हमारे पास और बहुत-सा नाम था, पर खानबहादुरने भी तुम्हारा तारीफ़ किया और हमारा भी यही राय था। बस तुम कमेटीके मेम्बरोंसे मिलकर चन्दा करा लो और ऐसा मुशायरा करो कि पहले कभी न हुआ हो। भाई साहब, यह आपका आशीर्वाद है कि बराबर साहब इसी तरह मेरी तारीफ़ें करते रहें।"

बाबू नानकराम उठकर चल पड़े और फिर लौटकर आये। कुछ याद करते-से बोले : "हाँ भाई साहब, इस मुशायरेकी खबर ज़रा अखबारमें निकलवा देना और हाँ, उसमें यह भी निकलवा दीजिए कि आपका ख़ादिम उसका कन्वीनर बनायाग या है।"

इतना कहकर दीनताकी सीमा तक पहुँची नम्रतासे अभिभूत होकर वे हँसते-से बोले : "भाई साहब, कोई बात हो और दुनिया न जाने, तो उसका होना ही क्या, जंगलमें मोर नाचा, न नाचा !"

मैंने कहा : वाह, सारी उम्रमें तो एक बार आप संयोजक हुए हैं और उसकी भी ख़बर अखबारोंमें न निकले, यह कैसे हो सकता है ?

बहुत खुश हुए और चले गये। शामको फिर आये, उसी ठाठमें थे। बोले : "सुबहसे अबतक घर नहीं गया। कमेटीके सब मेम्बरोंसे मिलकर आया हूँ। भाई साहब, मेम्बर बननेको तो हरेकका दिल उछलता है, पर काम करनेको है बाबू नानकराम। और तो और, कलक्टर साहब भी कह रहे थे कि बाबू नानकराम सब ठीक-ठाक कर लेगा। ठीक है, मैं कन्वीनर हूँ, तो सब काम करूँगा ही, आख़िर अपनी नाक तो नहीं कटवा सकता !"

कुछ ठहरकर धीरेसे बाबू नानकराम बोले : "भाई साहब, एक नोटिस तो लिख दीजिए कि इस तरह एक शानदार मुशायरा होनेवाला है, सब लोग तशरीफ़ लायें।"

मैंने कहा : अभी तो तारीख़ दूर है, तीन दिन पहले छपाइएगा नोटिस। सुनकर बोले : "अजी, तीन दिन पहले दूसरा छप जायेगा। एक तो आप आज ही लिख दें।"

मैंने पूछा : छपाईका खर्चा तो पहले कमेटीसे पास करा लो, तभी तो छपाओगे नोटिस ?

सुनकर बोले : "अजी, कमेटीके सिरमें मारो झाड़ू ! मैं इसलिए तो कन्वीनर नहीं बना कि हरेक बात उनसे पूछकर करूँ और हरेक बात उनसे ही पूछनी पड़े, तो मैं कन्वीनर ही काहेका; मैं जो चाहूँगा, सो करूँगा।"

दूसरे दिन नोटिस छप गया, पर बाबू नानकराम नाराज़ थे। बात यह हुई कि नोटिस छपा था खानबहादुरकी देख-रेखमें, इसलिए कमेटीके प्रेज़ीडेण्डकी हैसियतसे उनका नाम तो छपा शानसे मोटे-मोटे अक्षरोंमें, पर बाबू नानकराम एक कोनेमें चिपका दिये गये — इस तरह कि जैसे, मकड़ीने कोई मक्खी दबोच ली हो।

फिर भी वह नोटिस बाबू नानकराम घर-घर देते फिरे। कुछ भी हो, उसपर उनका नाम तो था ही।

ख़ानबहादुर इस अखाड़ेके पुराने खिलाड़ी थे, इसलिए कोई भी संयोजक हो, वह उनका चपरासी ही रहेगा, यह वे जानते थे। उन्होंने सब शायरों-को ख़त लिख दिये और सबने आना भी मंज़ूर कर लिया, पर बाबू नानक-राम भी चूकनेवाले न थे। ख़त डालने डाकघर तो वे ही गये थे, सबके पते उतार लाये और उन्हे बहाने-बेबहाने ख़त लिखते रहे। किसीसे आनेकी गाड़ी पूछी, तो किसीसे कुछ और; सबतक अपना संयोजक पद और नाम उन्होंने पहुँचा ही दिया।

"हिन्दीमें एक पोस्टर छपा दीजिए, जिसमे मेरा नाम और संयोजक पद छपा हुआ हो।" बाबू नानकरामने मुशायरेसे दो दिन पहले आकर कहा, तो मैंने आश्चर्यसे पूछा : मुशायरेका पोस्टर हिन्दीमें क्यों छपा रहे हो भाई ? बोले : "ख़ानबहादुरकी अपनी दुनिया है, उसमें उनके पोस्टर काम करेंगे, पर मेरी दुनिया तो हिन्दीवालोंकी है, उसमें मेरे पोस्टर काम करेंगे। आप छपा दीजिए और भाई साहब, नीचे मेरा नाम और ओहदा ज़रा मोटे हरूफ़ोंमें लिख दीजिएगा।"

मैंने कहा : कमेटी इसका ख़र्चा न देगी, तो उभरकर बोले : "आपके चरणोंकी कृपासे मैं भी भूखा-नंगा नहीं हूँ।" ख़ैर पोस्टर छपा और बाबू नानकरामने रात-भर सड़कोंकी सर्वे करके ख़ुद वे पोस्टर चिपकवाये।

मुशायरेके दिन वे हरेक गाड़ीपर ख़ुद गये और छातीपर-से पल-भरको भी उन्होंने संयोजकका बिल्ला नहीं उतारा। मंचपर उन्होंने अपना प्रभाव प्रदर्शित करनेमें कोई कमी नहीं रखी; हालाँ कि वहाँ ख़ानबहादुर ही सब कुछ थे, पर माइकसे मुँह लगानेका कोई मौक़ा नानकरामने नहीं छोड़ा।

दूसरे दिन जाने क्या-क्या बघारते मुझे मिले। मैंने पूछा : आपने भी कोई नज़्म पढ़ी या नहीं, तो सम्पूर्ण गौरव अपनेमें समाये बोले : "वहाँ जो दूसरे लोग पढ़ रहे थे, वर्ना मैं ही तो पढ़ रहा था। भाई साहब, नज़्म पढ़ना आसान है, मुशायरेका इन्तज़ाम करना मुश्किल है।"

इस बातको बीते वर्षों हो गये, पर आज भी वह हैण्डविल, पोस्टर और निमन्त्रण पत्र उनकी फ़ाइलमें लगा है और अकसर वे अपने मिलनेवालोंसे उसका ज़िक्र किया करते हैं, उन्हें दिखाया करते है। जब-जब मेरे सामने वे अपने मुशायरेका घुमा-फिराकर ज़िक्र करते हैं, मैं सोचा करता हूँ कि कौन आदमी असलमें कितना ऊँचा और कितना नीचा है, इसकी एक कसौटी यह भी है कि जो अपनी जितनी छोटी बातको, जितना अधिक महत्त्व देता है, वह उतना ही छोटा है और जो जितनी बड़ी बातको, जितना कम महत्त्व देता है, वह उतना ही ऊँचा है।

बात यह है कि जो कुछ आपने किया है, उसकी क़ीमत दुनिया जानती है। अब आप यदि अपनी इकन्नीको गिन्नी बतायें, तो लोगोंकी निगाहमें गिन्नीवाले तो आप हो ही नहीं सकते, इकन्नीवाले भी न रहेंगे।

चार घड़ीके राजा, जलसेके संयोजकका संक्षेपमें सन्देश यह है कि डींग न मारो, क्योंकि उससे किसीपर नया प्रभाव तो पड़ता नहीं, पहलेसे पड़ा हुआ भी उखड़ जाता है; साथ ही अपने व्यवहारमें अहंकार और प्रदर्शनको मत उभरने दो, नहीं तो चार दिन तुम्हारे व्यक्तित्वको इस तरह घायल करेंगे कि तुम्हारे व्यक्तित्वका चेहरा चेचकके दाग़ोंसे भर उठेगा।

जमालो दूर खड़ी

संसारने उस दिन सभ्यताकी ओर एक बड़ा पग उठाया, जिस दिन उसे आग जलानेकी विद्याका पता लगा। आग न जलती, तो चूल्हा न होता, चूल्हा न होता तो भाप न बनती, भाप न होती तो इंजन न बनता, इंजन न बनता तो मशीन न बन पाती। मशीनें न बन पातीं, तो बिजलीका आविष्कार न होता और बिजलीका आविष्कार न होता, तो संसार हमें आज जैसा दिखाई देता है, वैसा दिखाई न देता।

इस सत्यकी छायामें हम कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि आग हमारी सभ्यताकी माँ है और हमारे देशमें ही नहीं, संसार-भरमे माँ पवित्रताका सर्वोत्तम प्रतीक है।

ठीक है, यह आग जलानेकी बात है और मुझे कहनी है आग लगानेकी बात, पर यह भी तो ठीक है कि बीज हो, तो पेड़ उगें। आग न जलती, तो वह लगती कैसे? कह तो रहा हूँ आपसे कि आग जली, चूल्हे बने, चूल्हे बने कि परिवार आये और परिवार आये कि समाज बना। बस समाज बना कि कलाओंने जन्म लिया और भाई साहब, इन्हीं कलाओंमे एक है आग लगाना।

अरे, यह क्या? आप यह नाक-भौं क्यों सिकोड़ रहे हैं। अच्छा, मैंने जो आग लगानेको कलाओंमें सम्मिलित कर लिया, तो आप गरमा गये, पर यह क्षेत्र है विवेचनाका और आरम्भमें ही समझ लीजिए कि विवेचना इस गरमीसे पिघल नहीं सकती। मैं फिरसे कहता हूँ, हाँ, हाँ, निश्चय ही आपको चिढ़ानेके लिए नहीं, सत्यकी घोषणाको बल देनेके लिए कि आग लगाना भी एक कला है और अत्यन्त पवित्र कला है।

यह लीजिए, आप फिर भड़कनेको हो रहे हैं कि मैं आग लगानेको

कला ही नहीं, बहुत पवित्र कला कह रहा हूँ। मालूम होता है आप यों न मानेंगे और मुझे आपको प्राचीन साहित्यमें उतारना पड़ेगा।

पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस कलाका आविष्कार किसी मामूली मनुष्यने नहीं, एक ऋषिने किया है।

"ऋषिने ?"

जी हाँ, ऋषिने और उनका नाम है नारद। महर्षि नारदने इस कला-का आविष्कार कर इसे राम भरोसे छोड़ ही नहीं दिया, बरसों इसका पालन-पोषण भी स्वयं ही किया। उन्होंने इस कलाके सम्बन्धमें जो परी-क्षण किये, उनके पात्र इस धरतीके मरते-जीते मनुष्योंको ही नहीं, अजर-अमर देवताओं तकको बनाया और कभी-कभी तो उन्होंने देवताओं और मनुष्यों दोनोंको एक ही चक्केपर रखकर घुमा दिया।

महाराजा भीमकी कन्या दमयन्तीका स्वयंवर होनेको था। स्वयंवर तो नामका ही था; क्योंकि वह नलको अपना पति बनानेका बहुत पहले निश्चय कर चुकी थी। दमयन्ती रूपका लच्छा, गुणोंका समुद्र और ज्ञानका स्तूप। अब महर्षि नारद बेचैन कि ऐसी असाधारण कन्याका स्वयंवर और इतनी साधारणताके साथ ? साधारणता, सरलता, इस कलाके उद्धारकके लिए असह्य। जप-तप छोड़ नारद बाबाने अपना इकतारा उठाया और पहुँचे स्वर्गपति इन्द्रके पास।

इन्द्र पूछने लगे कुशल-मंगल, पर नारद बाबाको कुशल-मंगलसे चिढ़। सोचने लगे दुनियासे दौड़े स्वर्गमें आये कि चलो यहीं कुछ चहल-पहल मिलेगी, पर यहाँ तो राख भी ठण्ढी है। अब क्या करें ? जिसे समयपर सूझ न हो, वह ऋषि क्या ? सूझ गयी तुरन्त एक बात और स्वर्गपति इन्द्रपर ही लगाया ऋषिने अपना निशाना, पर निशाना लगाते किसीने ताड़ लिया, तो निशाना क्या, बजरबट्टू है।

हज़ारों कोस घुमाकर बोले : महाराज, आपके स्वर्गमें आज-कल बड़ी बेरौनक़ी है। बात यह है कि संसारमें युद्ध छिड़े, तो लोगोंको वीरगति

प्राप्त हो और वे स्वर्गमें पहुँचें, पर आज-कल संसारमें एक ऐसी घटना घटित हो रही है कि सब क्षत्रिय राजा उसमें उलझे हुए हैं। उन्हें लड़नेकी आज-कल फ़ुरसत ही नहीं है।

इन्द्रके मनमें उस घटनाके सम्बन्धमें एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और नारदने जिज्ञासाकी उस आगको भड़का दिया अपनी चतुरतासे। उपसंहार यह कि इन्द्र अब स्वयंवरमें जानेको तैयार और नारद बाबाका काम सिद्ध। इन्द्र तीन अन्य देवताओंके साथ स्वयंवरमें गये और वहाँ नलको दूत बनानेमें जो गुल खिले, वह सब प्राचीन साहित्यमें आज भी सुरक्षित है।

इस कलाका कलाकार होना बहुत बड़ी बात है। इसमे यदि मनुष्य सफल हो, तो पूरी ऊँचाईपर पहुँचता है और असफल हो, तो बुरी तरह पिटता है। इस पिटाईका भी सबसे ऊँचा मानदण्ड (रेकॅर्ड) महर्षि नारद ही स्थापित कर गये हैं। बात यह हुई कि देवता और ऋृषि दोनों नारदसे तंग थे और नारद अपनी सफलताओंसे इतराये, किसीको कुछ समझते ही न थे। तय हुआ कि नारदको एक पाठ पढ़ाया जाये।

एक स्वयंवरकी रचना की गयी और नारदको बहलाकर उधर ले जाया गया। नारद उस कन्याको देखकर मुग्ध हो गये और दौड़े-दौड़े विष्णुके पास गये कि मेरा मुँह आप अपने वरदानसे ऐसा कर दें कि मेरा मंगल हो। विष्णु मन-ही-मन मुसकराये और उन्होंने नारदका मुँह बन्दरका बना दिया। अब नारद बाबा अपनेको संसारका सबसे सुन्दर जीव समझे हुए स्वयंवर पहुँचे और बार-बार उस लड़कीके सामने उचकने लगे। लड़की उन्हें देखती और डरकर पीछे हट जाती, पर नारद बाबा मानते कि लज्जाके कारण उसने अभी ठीक-ठीक हमें देखा नहीं है। उनका विश्वास था कि देखनेके बाद तो यह असम्भव ही है कि कन्या उन्हें वरमाला न पहनाये।

उन्हें बार-बार उचकते देख किसीने कहा कि अरे बन्दर, अपना मुँह तो देख। नारद बाबाने जाकर कुएँमें झाँका, तो तबीयत झक हो गयी। इस तरह महर्षि नारद इस कलाका उद्धार ही नहीं कर गये, अपने जीवन-भर-

के संस्मरणोंका इतिहास भी हमारे लिए छोड़ गये हैं। और ये नारद बाबा इस धरतीपर कब खिले थे इसे कमसे कम मैं नहीं जानता; हाँ, इतना जान्ता हूँ कि दो हज़ार वर्ष पहले जब मेरे वंशके पुण्य प्रवर्तक इस संसारमें थे, तब भी नारद चिर अतीतके काव्यका ही वैभव थे। इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि यह कला जुमा-जुमा आठ दिनकी पैदा हुई कोई टुटपूँजिया चीज़ नहीं है और इसके प्रवर्तक भी कोई ऐसे वैसे नहीं, स्वयं महामहिम महर्षि नारद हैं। इस दशामे यदि मैं इस कलाको बहुत पवित्र कहूँ, तो कुछ न दफ़ा चवालीस तोड़ता हूँ, न कोई वैसा काम करता हूँ, जैसा अकसर लोग रेलके टिकिटकी खिड़कीपर कर दिया करते हैं।

विश्वके कई विख्यात समालोचकोंका मत है कि कवि बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। कविताके सम्बन्धमे संसारमें हज़ारों ग्रन्थ है, इसलिए उसके बारेमें यह कहा जा सके या न कहा जा सके, पर इस कलाके सम्बन्धमें तो कहा ही जा सकता है कि इसके कलाकार बनते नहीं, जन्म लेते हैं; क्योंकि अभी-तक इसका न कोई व्याकरण ही बना, न छन्दशास्त्र, न परिभाषाशास्त्र, इसलिए इस कलामें निष्णात होना पूर्व जन्मके पुण्यका फल है।

कविता जीवनकी बहुत बड़ी निधि है, पर संसारमे बहुत कम लोग जानते हैं कि कविताका जन्म आग लगनेकी कलासे ही हुआ था। एक तरह-से काव्य-कला इस महान् कलाकी पुत्री है।

यह लीजिए, आप फिर भुन्नाये जा रहे हैं, जैसे मैंने कोई शेख़चिल्लीकी झक छौंक दी हो या जूता पहने वेदमन्त्र पढ़ दिया हो। अरे साहब, मैं पढ़ा-लिखा आदमी हूँ और पढ़े-लिखोंसे ही बात कर रहा हूँ। किसी दृढ़ आधारके विना मैं भला कोई बात कैसे कह सकता हूँ। देखिए, आदि कवि हैं वाल्मीकि और यशस्वी हुए राम-चरित्र लिखकर, पर यह भी तो सोचिए कि रामको इस लायक़ किसने बनाया कि कोई कवि उनका चरित्र लिखे ? सोचिए, इस प्रश्नके उत्तरमें ही मेरे सत्यका भाष्य है। न होती मन्थरा, जो इस कलाकी पण्डिता थी और न वह कैकेयीपर अपनी कलाका

प्रभाव डालती, तो न रामके सिरसे रखा-रखाया मुकुट उतरता, न वे वन जाते, न रावणको मारते, न काव्यका विषय बनते। अब आया आपकी समझमें कि कैसे यह कला काव्य-कलाकी जननी है।

इस कलाकी एक विशेषता यह है कि इसकी सफलता भूमिया माईके प्रसादकी तरह है कि जिसे मिल गया, मिल गया, जिसे न मिला, नहीं ही मिला—हज़ार सिर पटका, लाख मिन्नतें कीं, नहीं मिला, नहीं मिला।

जीवनका चमत्कार देखिए कि मामूली नौकरानी मन्थरा इस कलामें पारंगत हो गयी और ज्ञानी, अनुभव-वृद्ध महाराजाधिराज दशरथ इसकी बारहखड़ी न पढ़ पाये।

जी, क्या पूछ रहे है आप कि जब यह कला आर्ष यानी ऋषि-प्रणीत है, पवित्र है, तो इसे संसारके लोग हलकी दृष्टिसे क्यों देखते है ? प्रश्न ठीक है और मालूम होता है अब आप उसे गहराईसे समझनेके लिए चिन्तन-के चौराहेपर आ गये है। विश्वास रखिए, आप अब उसकी बारीकियोंको समझ लेंगे।

संसारमे भले-बुरेकी बहुत चर्चा है, पर ज्ञानकी बात यह है कि न कुछ भला है, न बुरा है; यह सब सापेक्ष्य है। कविता बहुत पवित्र वस्तु है, पर यदि कोई पापका प्रचार करनेके लिए उसका उपयोग करे, तो वह घृणित हो जायेगी। एक बात और समझने लायक़ है कि ज्ञानी लोग इस दुनिया-को अन्धी कहते हैं, पर मेरा विचार है कि इन ज्ञानियोंको सत्यके किनारे पहुँचकर भ्रम हो गया है और ये भटक गये हैं। मैंने अपने होश-हवासमें बार-बार देखा है कि यह दुनिया अन्धी नहीं, कानी है। यह प्रत्येक तथ्य और तत्त्वको एक ही तरफ़से देखती है। कानी, जी हाँ, कानी; यानी एकाक्षी ! कैसे ? आइए, समझ लीजिए।

आग लगानेकी कलामें आचार्या श्रीमती विदुषीरत्न मन्थरादेवीके सम्बन्धमें ही देखिए। यह महाभागी नारी इस देशमे जन्म न लेती, तो न वाल्मीकि होते, न तुलसीदास, पर यह दुनिया उसके कार्यमें रामकी माता-

के आँसू और रामकी पत्नीके पैरोंमें पड़े मामूली छालोंका ही दर्शन करती है। अच्छा कहिए, यह कानेपनकी बात है कि सुआँखेपनकी ? नयी बात है, पर भाई साहब, मान लीजिए कि दुनिया कानी है। इस कानी दुनियाने ही इस कलाको बदनाम कर दिया है।

क्या अब भी आप इस कलाके सामने सिर न झुकायेंगे ! ठीक है, इसका दुरुपयोग किया गया है, पर भाई साहब, दुरुपयोग करनेमें तो यह दुनिया ईश्वरका भी नहीं चूकी। मेरे एक मित्र हैं। वे रेलमें यदि भीड़ हो, तो इस कलाका उपयोग करते हैं और लोगोंको बहसमें उलझाकर जगह ले लेते हैं। संस्कृतके विश्व-विख्यात ग्रन्थ पंचतन्त्रमें एक भंगीकी कथा है। उसका एक राजमन्त्रीने जब अपमान कर दिया, तो उसने इस कलाका एक अद्भुत उपयोग किया। राजा और मन्त्रीकी मैत्रीको पल-भरमें छिन्न-भिन्न कर दिया। इस कलाके ऐसे चमत्कारोंकी अनन्त कथाओंसे हमारा साहित्य भरा पड़ा है।

"यह तो हृदयोंमें आग लगानेकी बातें हैं। आप इसे भुसमें आग लगानेकी कला क्यों कहते हैं ?" ख़ूब प्रश्न है आपका। सचमुच अब तो आप इस कलाकी गहराइयोंमें उतर रहे हैं। जी, बात यह है कि भुस एक मुलायम चीज़ है और उसके ढेरमें यदि एक तरफ़ आप ज़रा-सी चिनगारी रख दें, तो क्षण-भरमें वह सारे ढेरमें फैल जाती है। यही बात इस कला-की है। इसमें होलियाँ या मशालें नहीं जलायी जातीं, सिर्फ़ एक चिनगारी ख़र्च की जाती है।

क्या समझे आप ! आख़िर यह कला है। सभी कलाओंमें कलाकार-की अदृश्यताको महत्त्व दिया गया है। कवितामें कविके अतिरिक्त क्या होता है, पर यदि कवि उसमें दिखाई दे, तो कविता अपने आसनसे गिरकर प्रचार बन जाती है। चित्रमें चित्रकार न हो, तो क्या बचता है ? केवल रंग और काग़ज़, पर चित्रकार उसमें दिखाई कहाँ देता है। कलाकार भी ईश्वरकी तरह रहे और दिखाई न दे, यही कलाका चरम विकास है।

भुसमें आग लगानेकी कलामें इस चरम विकासका भी चरम विकास हुआ है, इसलिए यह कला कलाओंकी महारानी है।

जन-भाषामे इस कलाकी प्रतीक है जमालो, जिसका चरित्र संक्षेपमें इस प्रकार घर कर गया है कि भुसमें आग लगा, जमालो दूर खड़ी। इस दूर खड़ी होनेमें, इस अदृश्यतामें ही जमालोकी आचार्यता है। जमालोको अपना आदर्श मानकर आप मनोरंजन ही नहीं कर सकते, समाजसुधार भी कर सकते हैं।

कैसे ? अजी वाह, यह मोटी बात भी आप नहीं समझे ? मान लीजिए, कोई बूढ़ा आदमी किसी षोडशीसे विवाह करना चाहता है। अब आप उससे मिलिए और कहिए कि आप यह विवाह अवश्य करें। जीवन बिना साथीके नहीं कटता। वह आपको अपना हमदर्द समझेगा। अब विवाहसे एक दिन पहले घबराये, परेशान-से आप उसके पास जाइए और कहिए कि मुझे अभी पता चला है कि उस लड़कीके पिताने लड़कीको यह समझाया है कि आपको किसी दिन ज़हर दे दे, जिससे सारे मालपर उसका क़ब्ज़ा हो जाये। पता नहीं इसमें कितना सत्य है, पर वह आदमी अच्छा नहीं है इसलिए ऐसा हो तो सकता है। ख़ैर, आप अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लीजिए और तब सिरपर मौर रखिए।

यक़ीन कीजिए, वह आदमी अब चौकी नहीं चढ़ सकता। यह है इस कलाका चमत्कार ! भाई साहब, आख़िर यह महर्षि नारदका आविष्कार है, किसी ऐरे-ग़ैरे अनाड़ी कुम्हारकी बनायी हँड़िया नहीं।

आप कितने विश्वसनीय हैं ?

कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज़ है कि बालक हो या बूढ़ा; सबको भली लगती है। जीवनमें ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं, जब किसी कामको जी नहीं चाहता ! कौन जाने इस समय आप भी ऐसी ही घड़ियोंसे गुज़र रहे हों, पर हाँ, आप यह पूछना चाहेंगे कि हम चाहे ऐसी घड़ियोंसे गुज़र रहे हों, जब किसी कामको जी नहीं चाहता और चाहे ऐसी घड़ियोंसे कि जिनमें हरेक काम वार्षिक परीक्षाकी तरह आवश्यक दिखाई देता है; आप हमारी यह ग़ैर-सरकारी जाँच-पड़ताल क्यों कर रहे हैं ?

विश्वास कीजिए मुझे आपके इस प्रश्नसे खुशी होगी, क्योंकि मैं ऐसा तुनकमिज़ाज नहीं हूँ कि आपके प्रश्नसे कुछ इस तरह भड़क उठूँ, जैसे लाल कपड़ेसे हमारी गौशालाका बिजार भड़क उठता है। प्रश्न पूछनेका अर्थ होता है कि आप मेरी बात सुन तो रहे ही हैं, उसमे दिलचस्पी भी ले रहे हैं।

जी, तो मैं यह कह रहा था कि जब कोई आदमी ऐसी घड़ियोंसे गुज़र रहा हो कि उसका किसी काममें जी न लगे और उससे पूछनी हो कोई ज़रूरी बात, तो उसका तरीक़ा यह है कि उसे पहले कोई कहानी सुनाओ और फिर उससे यह बात पूछो। कहा नहीं अभी मैंने आपसे कि कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज़ है कि बालक हो या बूढ़ा, सबको भली लगती है। अब क्योंकि मुझे भी आपसे एक बात-चीत करनी है, इसलिए मैं आपको पहले एक कहानी सुनाता हूँ और कहानी क्या सुनाता हूँ यों कहिए कि कहानीसे ही अपनी बात-चीत आरम्भ करता हूँ।

एक थे ठाकुर साहब ! देहातके खाते-पीते चौधरी। घोड़ा रखनेका उन्हें शौक़ था और घोड़ा भी ऐसा कि उसके जोड़का गाँव-गवाँडमें न निकले।

सचमुच उनके घोड़ेकी धूम थी—लोग उसके बारेमें हुई-अनहुई बातें कहा करते थे। यह बात तो आँखों देखी-सी कही जाती थी कि ठाकुर साहब उसपर पानी-भरा कटोरा हाथपर धरे बैठ जाते हैं और वह ऐसी दुलकी नापता है कि हवा हो जाता है, पर कटोरेका पानी नहीं छलकता। एक दिन ठाकुर साहब अपने इसी घोड़ेपर चढ़े चले जा रहे थे कि एक लँगड़ाता, दीन-हीन साधु उन्हें रास्तेमें बैठा मिला। ठाकुर साहबको देखकर उसने कहा : मुझे अगले चौराहे तक अपने घोड़ेपर बिठा लीजिए। वहाँ मुझे कोई आती-जाती सवारी मिल जायेगी; नहीं तो यहीं पड़ा-पड़ा मैं रातमें मर जाऊँगा। ठाकुर साहबको दया आ गयी और वे घोड़ेकी पीठसे नीचे उतर आये। सहारा देकर उन्होंने बूढ़ेको घोड़ेपर बिठाया, पर यह क्या ? उन्होंने आश्चर्यसे देखा कि वह मरता-जीता बूढ़ा घोड़ेपर बैठते ही तगड़ा नौजवान हो गया और ठाकुर साहबको झटका दे, घोड़ा ले उड़ा—यह जा, वह जा !

उड़ते-उड़ते उसने कहा : "मैं आपका दोस्त विक्रम डाकू हूँ ठाकुर साहब ! आपके घोड़ेपर बहुत दिनसे मेरी निगाह थी।"

ठाकुर साहबने ज़ोरसे पुकारकर कहा : "विक्रम, मैं राजपूत हूँ और राजपूत अपनी जान दे देता है, पर बातसे नहीं हटता। मैं कह रहा हूँ कि घोड़ा तेरा हो चुका, पर मेरी एक बात सुनता जा !"

रासके इशारेपर घोड़ा खड़ा हो गया। ठाकुर साहबने शान्तभावसे कहा : "बात बस इतनी ही है कि यह बात तुम किसीसे कहना मत !" और ठाकुर साहब बिना विक्रमकी तरफ़ देखे गाँवकी ओर लौट पड़े। विक्रम अपनेमें खो-सा गया और तब ज़रा बढ़कर उसने कहा : "क्यों ठाकुर साहब, मैं यह बात किसीसे क्यों न कहूँ ? इसमें आपका क्या फ़ायदा है ?"

ठाकुर साहबने कहा : "अगर यह बात कहीं फैल गयी, तो लोग फिर ग़रीबोंका विश्वास नहीं करेंगे !" और ठाकुर साहब फिर अपनी राह चल पड़े। विक्रम भी घोड़ा दौड़ाता किसी ओरको चला गया, पर दूसरे दिन

प्रातःकाल ठाकुर साहबके साईसने उनसे कहा : "जाने कौन कब हमारा घोड़ा हमारे अस्तबलमें बाँध गया है !"

आप मेरी तरफ़ मुँह बाये क्या देख रहे हैं, मेरी कहानी पूरी हो गयी ।

"कहानी पूरी हो गयी ?" हाँ जी, कहानी पूरी हो गयी, पर उसका मतलब अभी बाक़ी है और मतलब यह है कि यदि समाजमें यह बात फैल जाये कि एक साधु, फ़क़ीर, दीन बनकर ठाकुर साहबका घोड़ा उड़ाकर ले गया, तो आज साधुताके प्रति, फ़क़ीरीके प्रति, दीनताके प्रति जो निष्कारण करुणाका भाव और विश्वास समाजमें है, उसका स्थान सन्देह यानी अवि-श्वास ले लेगा और इस तरह साधुता, फ़क़ीरी और दीनता समाजकी उन्मुक्त सेवाओंसे वंचित हो जायेगी ।

कहानी भी पूरी हो गयी और उसका मतलब भी, पर इस मतलबका भी एक मतलब है और वह अभी बाक़ी है । मतलबका मतलब यह है कि किसी वर्गका, किसी श्रेणीका, किसी गिरोहका, एक आदमी भी यदि अविश्वसनीय हो, तो वह समाजमें अपने सारे वर्ग, पूरी श्रेणी और गिरोहके प्रति अविश्वासका भाव पैदा कर सकता है ।

आप कहते हैं कि मेरी बात अभी साफ़ नहीं हुई । मैं एक नयी कहानी सुनाकर उसे साफ़ कर दूँगा और वह कहानी भी क्या है, इसी शताब्दीके आरम्भिक दिनोंकी एक घटना है । एक ग़ुलाम देशका विद्यार्थी जापानमें पढ़ने गया । एक दिन किसी म्यूज़ियमसे वह विद्यार्थी एक चीज़ चुरा लाया । यह बात किसी तरह खुल गयी । बस फिर क्या था । म्यूज़ियमके बाहर नोटिस लगा दिया गया कि उस ग़ुलाम देशका कोई भी मनुष्य अब म्यूज़ियम नहीं देख सकता ।

अब समझे आप, इस एक विद्यार्थीने अपनी अविश्वसनीयतासे, अपने सारे देशको अविश्वसनीय बना दिया । तभी तो मैं कहता हूँ कि किसी

समाजकी, संगठनकी, विश्वसनीयताके लिए यह आवश्यक है कि उसका हर सदस्य भी विश्वसनीय हो।

हमारे भीतर लाख गुण हों, पर यदि हम विश्वसनीय नहीं हैं, तो वे लाख गुण राख हैं। प्रसिद्ध समालोचक कार्लाइलने कहा है कि जिस आदमीके बारेमें आप यह कह सकते है कि वह विश्वसनीय नहीं है, उसके विरुद्ध और कुछ मत कहिए। दूसरे शब्दोंमें अविश्वसनीयतासे बढ़कर चरित्रका और कोई धब्बा हो ही नहीं सकता; क्योंकि कह तो रहा हूँ इतनी देरसे कि हमारी अविश्वसनीयता हमारी ही अविश्वसनीयता नहीं है, वह हमारे समाज और राष्ट्रकी भी अविश्वसनीयता है।

बस इतनी बड़ी भूमिकाकी छायामें मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने कभी सोचा है कि आप कितने विश्वसनीय हैं ?

"अपने दोष किसे दिखाई देते है ?" यह ठीक कह रहे है आप और आपकी यह बात भी मुझे जँचती है कि "आख़िर अपनी विश्वसनीयताको कसौटीपर रखनेके नियम क्या है ?" विश्वसनीयता जीवनका, हमारे चरित्रका, एक ऐसा गुण है कि हम उसे हिमालयसे भारी कह सकते है और समुद्रसे गहरा, पर वह इतना हलका भी है कि हम उसे इशारोंमें ही तोल लें।

महाराजा भर्तृहरिके जीवनमें एक घटना घटी और उनके मनमे बैठ गया कि यह दुनिया कुछ नहीं है। उन्हें ज्ञान हुआ, वैराग्य-भावना प्रबल हुई और अपना राज-पाट छोड़, वे वनोंकी ओर चल पड़े। वे जा रहे थे कि राहमें उन्होंने देखा – एक गिन्नी पड़ी है। उन्होंने सोचा, इसे उठा लें, किसी ग़रीबको ही दे देंगे। हाथ बढ़ाया तो अँगुलियाँ लाल हो गयीं; क्योंकि वह गिन्नी नहीं, पानकी पीक थी।

घटना साधारण है, पर इसने महाराजको अपनी विश्वसनीयता कसौटीपर रखनेका एक गम्भीर अवसर दिया। गिन्नी राहमें पड़ी है या तिजोरीमें रखी है, जो आदमी अपना राज-पाट छोड़े जा रहा है, उसे उधर ध्यान देनेसे मतलब ?

हज़रत मुहम्मदके संस्मरण संग्रह किये जा रहे थे। सुना गया कि अमुक आदमीके पास एक अच्छा संस्मरण है। संग्रहकर्ता लोग उसके पास गये, तो उन्होंने देखा कि वह मनुष्य अपने कुरतेके पल्लेमें ख़ाली हाथ छिपाये, दूर खड़ी अपनी बकरीको बुला रहा है। संग्रहकर्ता विद्वानोंने यह देखा और उससे बिना मिले ही वे लौट आये।

"क्यों भला ?" ठीक जगहपर भी है और ठीक भी है आपका यह प्रश्न। उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका यह उत्तर दिया था कि जो आदमी ख़ाली हाथको झूठ-मूठ बकरीके सामने भरा हाथ दिखा सकता है, वह मूल संस्मरणमें भी मिलावट कर सकता है, यह फिर प्रमादसे हो या स्वार्थसे !

वही बात कि इस छोटी-सी बातपर इस मनुष्यकी विश्वसनीयता कसी गयी और खोटी उतरी। इसलिए यही आवश्यक नहीं है कि आप यह सोचें कि आप कितने विश्वसनीय हैं, यह भी ज़रूरी है कि आप यह जानें कि आपकी विश्वसनीयता इतनी सुकुमार और नाजुक है कि ज़रा-सी ठेस पाकर ही टूट सकती है।

मैं मानता हूँ कि आप बहुत होशियार है, मुझे यह स्वीकार करनेमे भी कोई एतराज़ नहीं कि आप अपने विषयके पण्डित हैं, पर धीरेसे सुनिए। एक रहस्यकी बात आपको सुना दूँ कि आप अपनी तमाम होशियारी और पूरा पाण्डित्य ख़र्च करके भी नक़ली विश्वसनीयता धारण नहीं कर सकते।

"क्यों ?" आपकी जिज्ञासा ठीक है और मैं उसे शान्त करनेमें सुख अनुभव करूँगा। बात यह है कि विश्वसनीयता पुस्तकोंका ज्ञान नहीं है, मुक़दमेकी मिसिल नहीं है और राजनैतिक ऐग्रीमेण्ट नहीं है, जीवनका सत्य है और यह सत्य तब सत्य होता है, जब वह हमारे जीवनमें हो, चरित्रमें हो, स्वभावमें हो, कार्यमें हो !

हमारे देशकी एक लोकगाथामे यह सत्य बहुत शक्तिशाली रूपमें प्रकट हुआ है – एक बुढ़िया अपने ज़ेवर और दूसरे क़ीमती सामानकी पोटली कन्धेपर रखे चली जा रही थी। रास्तेमें उसे एक घुड़सवार

मिला। बुढ़ियाने सरल भावसे कहा : "भैया, मैं थक गयी हूँ। तू मेरी यह पोटली अपने घोड़ेपर रख ले। मैं शामको पड़ावपर पहुँच, तुझसे ले लूँगी।"

"क्या है इसमें बुढ़िया माँ ?" घुड़सवारने पूछा।

"इसमें मेरा ज़ेवर और ऐसा ही दूसरा सामान है बेटा !" बुढ़ियाने सरलतासे कहा।

"ना, बुढ़िया माँ, मैं तुझे पड़ावपर कहाँ तलाश करता फिरूँगा; तेरा जोखिमका मामला है।" घुड़सवारने कहा और वह आगे बढ़ गया। बढ़ते-बढ़ते उसने सोचा : "यह मड़चैल बुढ़िया ओर मैं हवा-से घोड़ेपर सवार; कहाँ यह, कहाँ मैं। इसकी पोटली ले लूँ और चलता बनूँ।"

सोचकर वह लौटा : "बुढ़िया माँ, ला तेरी पोटली अपने घोड़ेपर रख लूँ। नहीं तो तू कहेगी कि एक मदद माँगी थी, वह भी इस लड़केने नहीं दी !"

पर बुढ़िया अब उसे अपनी पोटली देनेको तैयार न हुई। झुँझलाकर घुड़सवारने कहा : "क्यों, इतनी देरमे क्या हो गया ? अभी तो तुम गिड़-गिड़ा रही थी ?"

बुढ़ियाने कहा : "हुआ तो कुछ नहीं बेटा, पर बात यह है कि जो तेरे कानमें कह गया, वही मेरे कानमें भी कह गया !" और बुढ़ियाने अपनी पोटली उसे नहीं दी !

इस लोक-गाथाकी साक्षी है कि विश्वसनीयता हमारे जीवनका कोई आवरण नहीं, आचरण है। हमे सुख हो या दुःख, हम बढ़ें या मिट जायें; दूसरोंका, परिवारवालोंका, पड़ोसियोंका, देशवासियोंका और संसारके समस्त नागरिकोंका हमारे प्रति जो सहज विश्वास है, हम उसे खण्डित न होने देंगे; हमारा यह निर्णय ही हमारी विश्वसनीयताका प्राण है। वह कोई अभिनय नहीं है कि हम उसे अभ्याससे प्रदर्शित कर सकें। वह हमारे जीवनका दीपक है, जो काग़ज़ों और दीवारोंपर चित्रित होकर नहीं, स्वयं जलकर ही रोशनी देता है।

आपके एक बड़े भाई है और एक भाभी। दोनोंमें मतभेद है, मन-मुटाव है। भाई आपसे भाभीके सम्बन्धमें कुछ कहता है और भाभी भाईके बारेमें कुछ कहती है। क्या आप इन दो 'कुछ'को अलग-अलग रख सकते है? यदि हाँ, तो आप विश्वसनीय है और नहीं तो अविश्वसनीय! क्या आपको दूसरोंके पत्र पढ़नेकी, छिपकर बातें सुन लेनेकी, बेचैनी होती है? यदि हाँ, तो यह आपकी अविश्वसनीयताका पक्का प्रमाण है।

अपने वादोंके सम्बन्धमे आपका क्या हाल है? क्या दावतोंमे, जलसोंमें, आप ठीक समयसे पहुँचते हैं? नियत समयपर आप मित्रोंको घर मिलते है? वादा विश्वसनीयताकी सबसे बड़ी कसौटी है!

आप अपने मित्रसे माँगकर एक पुस्तक लाये हैं? क्या कभी ऐसा हुआ है कि वह अपने घर नहीं लौट सकी? यदि हाँ, तो आप सौ प्रतिशत अविश्वसनीय है। आप एक लाख बहाने बनायें, सत्य यही है कि जब आपका एक पुस्तकके लिए भी विश्वास नहीं किया जा सकता, तो कोई राष्ट्रीय धरोहर आपको कैसे सौंपी जा सकती है?

आपने अपने किसी साथीका फ़ाउण्टेनपेन उड़ाया है? आपकी रायमें यह मामूली बात है, पर सच यह है कि जो आदमी फ़ाउण्टेनपेन चुरा सकता है, वह कोहनूरको कैसे छोड़ देगा?

मैं समझता हूँ कि मेरी बात-चीत पूरी हो गयी, पर लीजिए बात पूरी करते-करते भी आपको एक कहानी और सुनाये देता हूँ।

प्रेज़ीडेण्ट अब्राहम लिंकनको अपने लिए एक सहायककी आवश्यकता थी। प्रेज़ीडेण्टने सब उम्मीदवारोंको एक दिन अपने दफ़्तरमे बुलाया और दरवाज़ेके पास रास्तेमें एक पुस्तक डाल दी। कोई बीस उम्मीदवार थे। भड़भड़ीके साथ दफ़्तरमें वे आये और पुस्तकको कुचलते हुए प्रेज़ीडेण्टकी मेज़ तक पहुँचे। हरेक अपनी बात कहनेको बेचैन था और कह रहा था।

इनमें एक उम्मीदवार, जो उम्र और ज्ञान दोनोंमें ही सबसे कम था, सबके बाद दफ़्तरमें आया। उसने उस पुस्तकको उठाकर रूमालसे साफ़

किया और प्रेज़ीडेण्टकी मेज़पर रख, एक तरफ़ खड़ा हो गया। जब सब अपनी-अपनी बात कह चुके, तो प्रेज़ीडेण्टसे पूछकर, संक्षेपमें, धीरेसे उसने अपनी बात कही। बात सुनकर प्रेज़ीडेण्टने हाथों-हाथ उसे अपना सहायक बना लिया।

दूसरे उम्मीदवारोंने इसपर एतराज़ किया कि आप एक कम-उम्र, कम-अनुभव, कम-योग्य आदमीको रख रहे हैं! प्रेज़ीडेण्टने कहा : "मै आपकी उम्र, आपके अनुभव और आपके प्रमाणपत्रोंको लेकर क्या करूँ; मुझे तो एक सहायककी आवश्यकता है। इस युवकने अपने व्यवहारसे सिद्ध कर दिया है कि इसे अपनेसे ज़्यादा मेरी चिन्ता है और मैं इसका पूरी तरह विश्वास कर सकता हूँ।"

विश्वास दिलाया नहीं जाता, उत्पन्न किया जाता है। वह क़समोंसे उत्पन्न नहीं होता, आचरण और व्यवहारसे पनपता है। विश्वसनीय होना ही विश्वास दिलानेकी सबसे बड़ी तरकीब है!

वे घटनाएँ और यह घटना

बहुत दिनकी बात है। कूर्मांचल प्रदेशकी यात्रामें मैं एक अवसर-प्राप्त तहसीलदारके घर अतिथि हुआ। उनका परिवार तो ऊपर पहाड़ी गाँवमें था, पर वे अकेले नीचे क़स्बेमें रहते थे। मेरी नस-नसमे पारिवारिक रस-की भावना है, इसलिए मुझे यह अद्‌भुत-सा लगा, पर भोजनके समय जो कुछ हुआ, उसने मेरे लिए इस अद्‌भुतको करुण कर दिया।

"आइए भोजन कर लें, फिर गप-शप करेंगे!" मै उनके साथ भोजन-के कमरेमें गया, तो देखा: मेरा थाल एक छोटी मेज़पर रखा है और उनका नीचे ज़मीनपर। उनके दोनों तरफ़ दो छोटी थालियोंमे भी खाना है, पर हमारे-जैसा नहीं। मनमें प्रश्न उमड़े, पर प्रतीक्षा ही मैंने ठीक समझी। अपने आसनपर बैठते ही तहसीलदारने ज़ोरसे पुकारा: पार्टनर, कमौन! मैंने देखा, झपटा-झपटा, दुम हिलाता एक सुन्दर कुत्ता आकर उनके दायें हाथ बैठ गया। उन्होंने दूसरी पुकार दी: कमौन कामरेड! मैंने देखा, अपनेमें सिमटा-सा एक शिकारी कुत्ता आकर उनके बायें हाथ बैठ गया और ज्यों ही तहसीलदारने खाना शुरू किया कि वे दोनों भी खाने लगे।

मेरे मनमें इस सम्बन्धमें भावनाकी कुछ काली-गोरी, भली-बुरी रेखाएँ खिचीं, पर उनसे कोई चित्र न बन पाया। रातकी गप-शपमे जब हम अधिक परिचित हो गये, तो भीतरकी वे रेखाएँ ज़रा उभर आयीं: "तह-सीलदार साहब, आपके ये पार्टनर और कामरेड तो खूब हैं!" हँसीमें आरम्भ हुई यह बात, कुछ पलोंमें ही, वेदनामें डूब गयी, जब उन्होंने कहा: "भाई साहब, मेरी देहपर जितने रोम हैं, मनुष्योंके विश्वासघातोंसे हुए, उतने ही

घाव मेरे मनपर हैं। ये कुत्ते हैं, खाते-पीते हैं, पर कमसे कम विश्वासघात तो नहीं करते!" यह सुनकर मैं इतना स्तब्ध हो गया कि कुछ घड़ियों तक उनकी ओर न देख सका।

तहसीलदार अपने कमरेमें सोने गये और मैं अपने विचारोंमें खो गया। ओह! क्या सचमुच मानवके लिए मानव अविश्वसनीय है? यह बूढ़ा आदमी, घरसे दूर यहाँ रहता है और समाजमें हर तरह साधन-सम्पन्न होकर भी इतना दीन कि इन कुत्तोंसे ही अपनी सामाजिकताकी प्यास बुझाता है! जाने कितनी घटनाएँ हैं, जिनका कड़वा विष, इस मानवके मनकी परिधिको घेरकर बैठ गया है। यह जिधर देखता है, विष-ही-विष है। तो क्या मानवमें देवत्व केवल कवियोंकी कल्पना ही है और असलमें वह शुद्ध शैतान है – सबके लिए ख़तरनाक और अविश्वसनीय? ओह, तब यह जो मानवमें विश्वासकी देव-भावना है, यह एक मृग-तृष्णा ही है; और कुछ नहीं – बस और कुछ भी नहीं!

मुझे लगा कि मैं काँटोंमें घिर गया हूँ। यह अनुभूति इतनी उग्र थी कि मैं अपने पलंगपर उठ बैठा। चाँदनी रात, खुली खिड़की और शान्त पहाड़। मैं वहाँ हूँ भी और नहीं भी। खिड़कीपर कोहनियाँ टेके, मैं बैठा हूँ, मेरे सिरपर ठण्डी चाँदनी है, घरों, सड़कों, पर्वतोंपर चाँदनी है; मैं उसे देख रहा हूँ; पर क्या सचमुच मैं उसे देख रहा हूँ।

मैं तो असलमें इस समय अपने भीतर देख रहा हूँ जहाँ बिखरे पड़े हैं, मेरे ही जीवनके कई पन्ने; जिनपर लिखी हैं कई बीती घटनाएँ और वे कह रही हैं मुझसे कि यह देवत्व तेरे मनका भूत है; और कुछ नहीं, अरे और कुछ भी तो नहीं!

एक ग़रीब मुसलमान साथी मेरे पास आया और मनपर बोझ इतना कि कुछ भी कहनेसे पहले रो पड़ा। बात यह हुई कि उसके लड़केकी

शादी, पर उसके पास कुछ नहीं । भाईने सब कुछ करनेका भरोसा दे रखा था; किसी बातपर नाराज हो, वह हट गया । विवाह सिरपर और बहूके लिए जोड़ा नहीं; बिरादरीमे नाक कटनेका सवाल; क्या करे बेचारा ?

मेरी हालत यह कि मैं उसे एक भी पैसा देनेमे असमर्थ, पर उसकी माँग इतनी उचित कि इनकार करनेकी मुझमें ताक़त नहीं । साथ गया और पैंतीस रुपयेका कपड़ा एक मित्र दूकानदारके यहाँसे उसे ले दिया । महीने तीन बीत गये, पर रुपये न दे पाया । दूकानदारने नालिश कर दी, अदालतने निर्णय दिया कि चार रुपये मासिककी किश्तोंमे मै रुपया दे दूँ । मै खुश हुआ उस समय, पर वे किश्तें भी न दे पाया । उन दिनों एक सार्वजनिक संस्थाकी रक्षाके प्रणपर मै खूनका फाग खेल रहा था । एक दिन गया और बज़ाज़ बन्धुसे अपनी स्थिति कह आया, पर दूसरे ही दिन उन्होंने मेरा दीवानी वारण्ट निकलवा दिया । अब मैं अपने ही घरमे क़ैद और परिस्थितियाँ यह कि मैं हर समय हवाके घोड़ेपर सवार रहूँ । कई मित्रोंको पास बुलाकर प्रार्थना की कि वे मेरी ओरसे पैतीस रुपये दे दें या मुझे तीन-चार मासका समय दिला दें, पर कोई लौटकर न आया; यद्यपि सभीने आश्वासन दिया था । इन सभीके लिए एक सार्वजनिक कार्यकर्ता साथीकी सम्पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठाका मूल्य पैंतीस रुपयेसे कम था । इनमें कई ऐसे थे, जो चिड़ीमारोंसे चिड़ियें छुड़ानेमें इससे अधिक रुपये कई बार दे चुके थे !

इस घटनामें हमारी समाज-व्यवस्थाके दो अत्यन्त मर्मस्पर्शी व्यंग्य-चित्र हैं । पहला यह कि ये बज़ाज़ बन्धु मुझे जेल भेजकर मेरे ख़र्चेके तौरपर और पैंतीस रुपये देनेको तैयार थे, पर उन पैंतीस रुपयोंको छोड़ने या कुछ दिन बाद वसूल कर लेनेको तैयार न थे ! दूसरा यह कि जो मित्र उस दिन मेरी प्रार्थनापर पैंतीस रुपये अपनी जेबसे बाहर न कर पाये, वे बादमें मेरे इशारेपर पैंतीस सौ रुपये देनेको प्रस्तुत रहे; क्योंकि मैं तब उन घड़ियोंको पार कर चुका था ।

शामको जेबके सब रुपये समाप्त हुए और रातमें पत्नीका हार्टफ़ेल हो गया। दाह-संस्कारके लिए भी जेबमें पैसा नहीं। आदमीको अपने एक मित्रके यहाँ भेजा कि पचीस रुपये ले आये।

मेरे आदमीको मित्रने उत्तर दिया : "मैं इस समय मजबूर हूँ। रुपयोंका प्रबन्ध कहीं औरसे कर लें!" ये मित्र रईस, बैंकर, मजिस्ट्रेट, ज़मींदार और देश-भक्त और वह पत्नी, जो अब एक शवके रूपमे पृथ्वीपर सो रही है, इनकी प्रतिष्ठाके लिए एक दिन कचहरीमें झूठी गवाही दे आयी!

पत्नीकी चिताका प्रबन्ध तो हो ही गया, पर मुझे लगा कि हम मनुष्यताको चिताका ही प्रबन्ध कर रहे हैं।

"बस एक ही रास्ता है पण्डितजी! कि आपके जामिन उस दिन ग़ैर-हाज़िर रहें।"

एक राष्ट्रीय संस्थाकी सम्पत्तिको एक साहूकारने नीलाम करानेके लिए कुड़क करा रखा था और इसी संस्थाके एक वैतनिक कार्यकर्ता, इस कुड़कीके जामिन (सुपुर्दगीदार) थे। नीलामकी तारीख़ आ गयी थी, पर रुपयोंका अभी प्रबन्ध न था! ये ज़ामिन महोदय, मेरे उस समयके शिष्य थे, जब मैं अध्यापक था और आजके कर्मचारी थे; जब मैं संस्थाका संचालक था—किसी भी आर्थिक कारणसे नहीं, सार्वजनिक सेवाकी उग्र भावनाका शिकार होकर ही! उन्हें ग़ैर-हाज़िर करना एक साधारण बात थी, इसलिए जब वकीलने उनकी ग़ैर-हाजिरीको ही एक रास्ता बताया, तो मुझे लगा कि यह रास्ता काफ़ी चौड़ा भी है और सरल भी।

मैंने काग़जी तौरपर उन्हें संस्थासे छुट्टी दे दी और उनके गाँवके पासवाले अस्पतालमें डॉक्टरसे मिलकर उन्हें बीमार लिखवा दिया। बिना वहाँ गये ही एक सप्ताह पहलेसे उनकी हाज़िरी बीमारोंमें लिखी जाती और दवा बनती। कचहरीके चपरासीसे मिलकर नीलामकी सूचनापर लिखा

दिया था कि जामिन छुट्टीपर है और उसका कोई पता नहीं चलता ! अब वे क़ानूनी तौरपर सुरक्षित थे और मैं निश्चिन्त था, पर नीलामसे पहली रातमें ठीक साढ़े बारह बजे वे मेरे पास आये; यह सूचना देनेको कि वे कल ग़ैर-हाज़िर न होंगे और यहीं रहेंगे। यह सूचना बारह घण्टे बाद संस्थाके सर्वनाशकी घोषणा थी ! इसका स्पष्ट अर्थ था कि वे साहूकारसे मिल गये थे और कल ही संस्थाके कर्मचारीसे स्वामी हो जानेका स्वप्न उनकी आंखोंमें था ! एक साथ वे मेरी गुरुदक्षिणा और संस्थाके सद्भावका प्रतिदान देनेको प्रस्तुत थे !

खेद है कि दूसरे दिन सब कुछ करके भी वे सफल न हुए, पर सुना है शैतानने उस दिन स्वर्गमें अपनी विजय-घोषणा करके देवताओंको दहला दिया था !

सड़कों, घरों और पहाड़ोंपर चाँदनी फैली हुई है और मैं खिड़कीपर कुहनियाँ टेके बाहरकी ओर देख रहा हूँ, पर दीख कुछ नहीं रहा है। देखनेवाला ही कहीं और है, तो दीखे क्या ? मैं जीवनके पुराने पन्ने पढ़ रहा हूँ। ये पन्ने इतने कड़वे हैं कि चाँदनी भी कड़वी हो गयी है। मैं सोच रहा हूँ कौन है यहाँ अपना ? कोई नहीं है, तो क्या हम तहसीलदार-की तरह कुत्तोंको अपना साथी बनायें ? अनुभूतिकी कड़वाहटसे मेरा रोम-रोम कड़वा हो चला है और मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ : आख़िर इन घड़ियोंमें ज़रूरत ही क्या है कि हम जियें ? जिनके साथ हम जीते हैं, जब वे भी विश्वसनीय नहीं, तो फिर जीवनका सुख क्या है ? तब जीवन धन कहाँ है कि हम उसे सँजोकर रखें। तब तो जीवन एक ज़हर है, जिसे हम जब भी नष्ट कर दें, तभी ठीक है।

. .

मुझे लगा कि सामने ही पहाड़पर खड़ा है जूलियस सीज़र। एक दिन उससे किसीने कहा : "अमुक अशुभ दिन आ रहा है।" उसने कहा :

"हिस्त !" इस एक ही शब्दमें उसके आत्मविश्वासकी आदमक़द मूर्ति है। फिर एक दिन उससे कहा गया : "आज वही अशुभ दिन है।" सीज़रने सिर्फ़ उसकी ओर तिरछी आँखसे देख-भर लिया, ओह, यह तिरछी आँख !

उसी दिन वह अपनी पार्लामेण्टकी ओर चला, तो किसीने उसके हाथमें परचा दिया। बिना पढ़े ही उसने उसे जेबमें डाल लिया – इस परचेमें उसके वधके लिए रचे गये षड्यन्त्रकी सूचना थी ! वह पार्लामेण्टमें पहुँचा कि लोग उसपर चारों ओरसे टूट पड़े, पर सीज़रके लिए यह एक खेल था। उसने किसीकी तलवार छीन ली और खेलने-सा लगा। तभी उसपर किसीने पीछेसे वार किया। मुड़कर जो सीज़रने देखा, तो उसका पुराना मित्र ब्रूटस !

एक हायकी तरह सीज़रके मुँहसे निकला : "ओह, ब्रूटस, तुम भी !" तभी उसने कन्धोंसे ज़मीन तक लटकते शाही चोग़ेको दायें हाथके एक झटकेसे अपने सिर तक लपेट दिया और धम्मसे वह ज़मीनपर गिर पड़ा। ठीक है, जब मित्र ब्रूटस भी षड्यन्त्रमें शामिल है, तो सीज़र क्यों लड़े ? लड़नेका अर्थ है जीवन और जीवनकी अब ज़रूरत ही क्या है ?

मेरा मन हुआ कि सीज़रकी तरह ही मैं भी इस खिड़कीसे नीचे गिर पड़ूँ ! ठीक तो है; जब वे अपने नहीं, जिनके उद्धारके लिए अपनी जवानी धूलमें मिला दी और बच्चोंको भूखा मारा, जब वह अपना नहीं, जिसके लिए जीवन-भरके संचित पुण्यकी ढेरीमें अपने हाथों आग लगा दी और जब वह अपना नहीं, जिसे पढ़ाया-लिखाया और प्यारसे अपने पास रखा, तो जीकर क्या करूँ मैं ?

मन इतना थक गया कि खिड़कीसे पलंगपर आ गिरा मैं। अब मैं जाग रहा था, पर गहरी नींदसे भी अधिक निश्चेष्ट ! सब इन्द्रियोंपर शून्यताका परदा-सा पड़ गया था ! अचानक एक फुरहरी-सी आयी और

जीवनका एक पुराना पन्ना आँखोंके सामने खुल गया; जैसे टेलेफ़ोन एक्स-चेंज बत्तीस नम्बरकी जगह बासठ नम्बर दे दे !

उसी राष्ट्रीय संस्थाके नीलामकी तारीख़ थी उस दिन भी। कई साहूकार उसपर आक्रमण कर रहे थे – कभी कोई चढ़ता, तो कभी कोई। परम्परा यह थी कि नीलामकी तारीख़से एक दिन पहले क़र्ज़का एक अंश दाख़िल कर अदालतसे कुछ दिनकी मोहलत मिल जाती, पर उस बार यह नयी बात हुई कि क़र्ज़के उस छोटे अंशका भी प्रबन्ध न हो पाया। ओह, कितने हाथ-पैर मारे मैंने इसके लिए !

नियत तारीख़से पहली सन्ध्याको, मैं पूरी तरह निराश हो गया कि अब रुपया नहीं जुट सकता और इसका अर्थ था कि जिस नीलामको मैं दो सालोंसे टाल रहा हूँ, कल उससे भेंट करनी ही पड़ेगी। नीलामके बाद भी मैं रुपया देकर उसे वापस ले सकता था, पर तब मेरे पैरोंमें यह ताक़त ही कहाँ रहेगी कि मैं शहरकी सड़कोंपर घूम सकूँ ?

मेरी घबराहटकी दवा है प्रार्थना। उठकर मन्दिरमें गया और लौटा, तो मन शान्त था। अब मेरी दशा यह थी : भगवान्‌की यदि यही इच्छा है कि दुनिया एक बार डोण्डी सुन ले, तो उसे तू कौन है कि रोके ? और तब मैंने अपनेसे कहा : मेरे भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो।

रातमें पूरी नींद आयी। सुबह उठकर नहाया, प्रार्थना की और दफ़्तर-में आ बैठा। सब कर्मचारी मेरी दृढ़तापर स्तब्ध थे। नीलामका समय हो गया – बारह बज गये। अब आ रहा होगा ताँगा, जिसमें पीछेकी तरफ़ होंगे अमीन साहब और साहूकारका कारिन्दा और आगेकी तरफ़ अमीनका चपरासी और साहूकारका चौकीदार। वे आकर खड़े होंगे। भीड़ जुड़ जायेगी और नीलामकी बोलियाँ आरम्भ होंगी। कितने रुपये देने हैं इस साहूकारके ? छह-सौ अस्सी रुपये। जिस संस्थाने देशमें जागृति फैलानेके अपराध-में विदेशी सरकारसे त्रास सहा, देशके एक लखपतिकी दृष्टिमें उसका इतना

भी मूल्य नहीं कि अपने छह-सौ अस्सी रुपयोंकी वसूली वह एक सालके लिए रोक दे? यह प्रश्न आजकी समाज-व्यवस्थापर कितनी तेज रोशनी है!

एकका घण्टा बजा, पर ताँगा नहीं आया। पाँच बजे तक कभी भी आ सकता है। मैं अपने काममें जुटा हूँ और कर्मचारी मुझे घूर रहे हैं। एक-दोने चाहा कि यदि यह दुर्भाग्य सिरपर आ ही गया है, तो मैं यहाँसे हट जाऊँ। उनकी करुणाका तक़ाज़ा था कि मैं अपना सर्वनाश अपनी आँखों न देखूँ, पर मैं अपनी जगह था और मुझे अपनी ही जगह रहना था। कर्मचारी आज भी कामपर थे, पर काम उनसे हो न रहा था। उनकी सबसे बड़ी परेशानी मैं था। वे दो सालसे एक 'धुन'के लिए अपनेको झोंक देनेकी मेरी पागल भावुकताको देखते आ रहे थे। उन्हें आजका नीलाम मेरी आत्महत्याका प्राक्कथन दीख रहा था।

चार बज गये। मैंने चपरासीको पैसे दिये कि आठ-दस पान ले आये और पत्नीसे कहलाया कि चायका पानी रख दे। अब ताँगा आनेमे देर ही कितनी थी! पान आ गये, चाय तैयार हो गयी और पाँच बज गये, पर ताँगा नहीं आया। घड़ी शायद ग़लत है, पर बैंककी घड़ीमें भी पाँच बज गये।

तो फिर? कर्मचारियोंके चेहरेपर न ख़ुशी, न रंज। वे साक्षात् एक प्रश्न-चिह्न। ये दस-बारह प्रश्न-चिह्न मेरे सामने, पर मै स्वयं एक प्रश्न-चिह्न: "आख़िर यह हुआ क्या?" दस-बारह मिनिट और निकल गये — ताँगा अब नहीं आ सकता! मेरे रोम-रोमपर गम्भीरता छा गयी। पत्नीने हम सबको चाय पिलायी, पान दिये। दफ़्तरकी छुट्टी हुई। कल रविवार है, परसों होगा, जो होना है, पर आज यह क्या हुआ? डायरी देखी, नीलामकी तारीख़ आज ही है।

उठकर अपने वकीलके घर गया, पर वे किसी बारातमें चले गये थे। अमीनके यहाँ पहुँचा, तो और भी उलझ गया। उन्होंने कहा: "कचहरीसे ग्यारह बजे दस्ती परवाना आ गया था कि नीलाम मुल्तबी कर दिया गया

है ।" यह और भी बड़ा प्रश्न-चिह्न है कि नीलाम किसने मुल्तबी कराया और बिना रुपये जमा किये वह हो ही कैसे गया ?

"नीलाम मुल्तबी कैसे हो गया अमीन साहब ?" मैने पूछा तो बोले : "अरे साहब, आपने पचास रुपये जो दाखिल किये थे !"

मैं ग़ारेसे निकला, तो चबच्चेमें धँस गया – मैंने कब किये थे पचास रुपये दाखिल ? बहस बेकार थी, घर चला आया । अब मैं बेचैन था – बेचैन यानी उत्सुक ! रात-भर अजीब-अजीब सपने दीखे और रविवारको किसी काममे जी न लगा ।

सोमवारको कचहरी पहुँचा, तो एक अजीब बात कि हरेक अहलकार हॅसकर पूछता है : "कहिए, कल आपका नीलाम हो गया ?" सबके चेहरों-पर वही हँसी और सबका यही सवाल ? जाला हरेक बुन रहा है, पर रास्ता कोई नहीं देता !

अन्तमें यह तुरुप खुली : जब आप कल सुबह भी मोहलत लेने नहीं आये, तो हमने समझा कि आप भूल गये या फिर आप यहाँ हैं ही नहीं ! हम जानते हैं बिना स्वार्थ आप इस संस्थाको बचानेमें खप रहे हैं । हमने आपसमें पाँच-पाँच, सात-सात रुपये जमा करके आपके वकीलसे मोहलतकी दरख़्वास्त दिला दी और चपरासीके हाथ दस्ती परवाना अमीनके घर भेज दिया ।"

हमारे देशकी कचहरियोंके इतिहासमें यह असाधारण और अपूर्व घटना है, पर मेरे लिए तो जीवनका यह सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न थी ! हम राज-नीतिक कार्यकर्ता, जिन्हें कचहरीका कुत्ता कहकर सदैव सभाओं और पत्रोंमें अपमानित करते रहे हैं और हमारी रायमें आठ आनेसे सवा रुपये तककी रिश्वत ही जिनका धर्म-ईमान है, कचहरीके उन छोटे अहलकारोंमें यह देवत्व कैसे जाग उठा ?

पलंगसे मैं फिर खिड़कीपर आ गया। घरों, रास्तों, सड़कों और पहाड़ोंपर चाँदनी छिटकी हुई थी। मुझे लगा कि उसमें ठण्डक है, मिठास है, शान्ति है – कड़वाहट तो कहीं दूर-पास भी नहीं है !

तभी जैसे चाँदने मुझसे कहा : "मनुष्यमें देवता भी रहता है और दानव भी। देवताकी प्राण-प्रतिष्ठा और दानवका दलन करनेके लिए संघर्ष करना ही मानव-जीवन है।"

चाँद हँस रहा था। मैं भी हँस पड़ा। पलंगपर लेटते-लेटते मैंने अपनेसे कहा : "तहसीलदारके कुत्ते दुनियाके एक कोनेके खण्ड-चित्र हैं, सम्पूर्ण संसारके पूर्ण चित्र नहीं !" और मैं ऐसा सोया कि मौत भी झेंप गयी !

वे खुश हैं; मैं खुश हूँ !

उगती पीढ़ीके उपन्यासकार हैं श्री योगेश गुप्त। वाणी और क़लम दोनोंमें काँटेदार। हाँ, काँटे पैने और मज़बूत कि चुभें, तो यों उधेड़ें कि लहू-लुहान हो जाये, पर मक़सद यह कि ठहरो मत, चले चलो, तो चलतों-को रोकते नहीं, रुकतोंको चलाते हैं ये काँटे !

उन्हींके उपन्यास 'थकी साँसें'का विज्ञापन पढ़ा, तो गद्दीपर बैठे-बैठे ही काँटे देहमें चुभ गये। कितना बड़ा काँटा है यह, कितना पैना, खूनी-खूँख्वार : "हर आदमी किसी-न-किसीके सिरपर पैर रखे खड़ा है और जी रहा है। जीनेकी उसे भी कुछ खुशी नहीं है, खुशी है, तो इस बातकी कि कोई उसके पैरोंके नीचे है। कोई भी उसके पैरोंके नीचे न होता, तो वह मर जाता। यही अमानुषिक आनन्द आज जीवन और जगत्का अभि-शाप है।"

काँटा बड़ा पैना है, पर कलेजेमें कुछ इस अदासे घुसा है कि दर्द तो गहरा है, पर कराह नहीं है – एक मीठी-भीनी सिहरन है; यों कहूँ कि शब्द तो नहीं है, पर गूंज है, गीत तो नहीं है, पर आलाप है, ताल तो नहीं है, पर सम है, धूप तो नहीं है, पर धूप-छाँह है, रंगीनी नहीं है, पर एक झिल-मिलाहट है। ओह रे, यह काँटा !

मीठी चुभनमें एक भाव-भीनी धुन उठ रही है, उसमें तीन शब्द हैं : सत्, चित्, आनन्द ! सत् है अस्तित्व, चित् है कृतित्व और आनन्द है व्यक्तित्व; यों सच्चिदानन्द–यानी नर-नारायणके स्वरूपकी पूरी झाँकी, तो आनन्द ही मनुष्यकी मूल-वृत्ति है। भोजनसे वह जीता है, वस्त्रसे सजता है, पर खिलता है आनन्दसे–जीवनमें आनन्द न हो, तो जीवनका विकास

रुक जाये कि वह बिना गन्धका फूल, कि वह बिना वाणीका कण्ठ, कि वह बिना फूलका वृक्ष, कि वह बिना पानीका ताल – शिव नहीं शव !

उफ़ ! तेज़ दर्द कि कलेजा फट जायेगा – लगता है, चुभा काँटा गहरे उतर गया है और उसने पसलियाँ काट दी है : "कोई भी उसके पैरोंके नीचे न होता तो वह मर जाता। यही अमानुषिक आनन्द आज जीवन और जगत्‌का अभिशाप है।"

अमानुषिक आनन्द ! आनन्द और अमानुषिक ? अमानुषिक आनन्द क्या ? जो मानुषिक न हो ! जो मानुषिक नहीं, वह आसुरी, पाशविक, तो हम जी रहे हैं एक पाशविक आनन्दके मायाचक्रमे ? पाशविक आनन्द, तो पाशविक व्यक्तित्व कि हम नरसे नारायण बनते-बनते पशु हो गये ? कितनी भयानक स्वीकृति चाहता है मुझसे यह प्रश्न ?

यह किसकी चीख़-चिल्लाहट है, जो कानोंको फाड़े डाल रही है ? यह है मेरे बचपनकी पड़ौसन मंगला चाची। ग़ुस्सा तो सभीमे होता है, पर चाचीका ग़ुस्सा तो ज्वालामुखी। उसका छोटा बेटा नन्दू – पाँच वर्षका सुकुमार, सलोना, होनहार। एक दिन चाचीने कुछ कहा, तो नन्दू न माना। वह चीख़ी-चिल्लायी, पर नन्दू अड़ा सो अड़ा – आख़िर बालहठ ! चाची तड़ककर उठी और धमाकसे उसने नन्दूकी कमरपर धौल धर दी ! कहाँ नन्दू, कहाँ चाची; वह धम्मसे धरतीपर औंधा गिर पड़ा।

चाची गरजी : "बोल, फिर कहेगा : ना।"

चाची दहाड़ी : "तो ले बोल, देखूँ कैसे कहता है तू नहीं।" और औंधे पड़े नन्दूकी कमरपर अपने दोनों पैर पूरे रख खड़ी हो गयी। नन्दू एक बार चीख़ा और चुप हो गया। चाचीने उसे मसला : "कहता क्यों नहीं अब ना।" नन्दू नहीं बोला। बोलनेवाली हवा उसमें थी ही कहाँ अब ?

दहाड़ती चाचीके पास यह लाल-लाल कौन है ? यह सिन्दूर-लिप्त हनुमान्की मूर्ति है । और यह इनके पैरोंमें कौन है ? यह है सुरसा राक्षसी, जिसने लंका जाते समय उनका मार्ग रोकनेकी कोशिश की थी ।

मंगला चाची अपने बेटेको पैरों तले दबाये खड़ी और हनुमान्जी सुरसाको पैरों दबाये खड़े । चाची क्रोधके आवेगमें अभिभूत, तो हनुमान्जी अजेय संकल्पसे सन्नद्ध; चाची क्षम्य, तो हनुमान्जी पूज्य, पर हम क्या हैं कि हमारा सिर किसीके पैरों दबा, तो किसीका सिर हमारे पैरोंके नीचे ?

१९३२ की जेल-यात्रासे छूटकर आया, तो मन गान्धीजीके हरिजन उपवासके वातावरणसे ओतप्रोत । दो-चार दिन प्रयत्न करके एक हरिजन पाठशाला खोली और चमारोंके मुहल्लेमे चार दिन घूमकर साठ लड़के इकट्ठे किये । पाठशाला चहक उठी, जीको सुख मिला और तब एक दिन भंगियोंके मुहल्लेमें जा बैठा : बाबूजी, बड़े बच्चोंको पढ़ने भेज दें, तो छोटे बच्चोंको कौन सँभाले और छोटे बच्चोंको वे न सँभालें, तो उनके माँ-बाप अपने घरोंमें कमाने कैसे जायें ?" चौधरी घसीटाकी यह बात सुनी, तो उस दिन पहली बार जाना कि समाजमे वे भी हैं, जिनके लिए पढ़ना लाभदायक है, पर वे भी हैं जिनके लिए न पढ़ना ही लाभदायक है । फिर भी सात बालक निकले, जो पाठशाला आया करेंगे । शुभस्य शीघ्रम्, मैं उन्हें साथ ले आया और पाठशालामें उनका नाम लिखा दिया ।

"आज पाठशालामे सात ही लड़के आये हैं ।" अध्यापकजीने आकर सूचना दी दूसरे दिन ।

"सात या साठ ?" आश्चर्यसे मैंने पूछा, तो उत्तर मिला : "साठ नहीं, सात ! चमारोंका तो आज कोई बालक आया नहीं ।"

दूसरे दिन भी जब यही बात रही, तो मैं पहुँचा उनके मुहल्लेमें और पकड़ा चौधरी रामस्वरूपको – "चौधरी साहब, दो दिनसे बच्चे पाठशाला क्यों नहीं गये ?"

"अजी, इन सुसरोंसे पढ़ा जा क्या, पण्डितजी ।" पहले तो वे मुझे

टालते रहे, पर जब मैंने पीछा न छोड़ा, तो झल्लाकर बोले : "हमें ऐसी पढ़ाईकी ज़रूरत नहीं, जिसमें अपनी जात खोनी पड़े ।"

"यह आप क्या कह रहे हैं चौधरी साहब ? पढ़ाईसे तो जात बनती है ।" मैंने कहा, तो वे भड़ककर बोले : "हमें ऐसी पढ़ाईकी ज़रूरत नहीं है, जिसके लिए भंगियोंमें बैठना पड़े ।"

ओह, यह बात है ! सुना-समझा, तो खूनमे उबाल आ गया और सिर गरम हो उठा, पर सुधारका काम न उबालसे चलता है, न गरमीसे । घण्टों सिर मारकर यह फ़ैसला हुआ कि भंगियोंके बालक चमार बालकोंसे अलग, दूसरी चटाईपर बैठें और उनके पीनेके लिए पानीका घड़ा भी अलग हो ! मेरे लिए यह पकते तेलमें नहाना था, पर नहाना था, तो नहाना ही था ।

और यह है १९३९ ईसवी !

घाड़, हमारे ज़िलेका अर्ध पहाड़ी इलाक़ा । भाई बहादुर सिंहके साथ मैंने वहाँके हरिजनोंके पानीका मसला अपने हाथमें लिया । बाप रे यह पानीका मसला ! गाँवमे कुआँ, पर उसपर क्षत्रियोंका अधिकार और उनका ज़मींदारी रौब अपनी पूरी जौलानियोंपर, चमारोंमें यह भी हिम्मत नहीं कि कुएँपर चढ़नेकी बात सोच सकें, इसलिए वे पीते है नालों-खालों-का पानी और ये नाले-खाले कहीं-कहीं घरोसे तीन-तोन मील दूर ।

प्रार्थनासे हमने अपना आन्दोलन आरम्भ किया और इस घोषणा तक हम आ गये कि "शीघ्र ही पानी-सत्याग्रह आरम्भ किया जायेगा, जिसमें बलपूर्वक चमार लोग इन कुओंसे पानी भरेंगे, भले ही उनपर मार पड़े ।"

राजपूतोंने इस घोषणाके जवाबमें हमें लाठियाँ दिखायीं और साफ़-साफ़ कह दिया कि जो चमार कुएँको 'मन'को छुएगा, उसका सिर फोड़ दिया जायेगा । हम सब जानते थे कि यह घोषणा बन्दर-घुड़की नहीं है, क्योंकि उस युगमें पुलिस और मैजिस्ट्रेट अँगरेज़-नीतिके अनुसार ज़मींदारोंसे पूछकर मुक़दमे-मामले किया करते थे ।

इस घोषणासे चमार घबराये और उनकी घबराहटसे हम दोनों भी परेशानीमें पड़े, पर उसी दिन एक दैवी घटना हो गयी कि डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट श्री जॉस्टनने शामको अपने बँगलेपर हमें बुलाया। हम समझ गये कि इसका अर्थ हमारी गिरफ़्तारी है और बँगलेसे हम सीधे जेल जायेंगे, इसलिए हम कुछ ऐसी मुद्रामें गये कि जैसे आगसे पंजा लड़ाने जा रहे हों, पर हमने देखा जॉस्टन साहबके चेहरेपर खिंचावकी एक रेखा नहीं है – वह है एकदम मीठा-मुलायम मनोरम।

बोले : "प्रभुके राज्यमें यह अन्याय है कि किसीको पानी लेनेसे रोका जाये। मुझे ख़ुशी है कि आप उस अन्यायका विरोध कर रहे हैं। अपने पदके कारण मैं खुले आम आपका साथ नहीं दे सकता, पर आप मेरी बात मानें, तो यह अन्याय दूर हो सकता है।"

हमने उनकी बात मानना मान लिया, तो बोले : "डरो मत और धमकीका जवाब धमकियोंसे दो कि हम यह कर देंगे, वह कर देंगे। इसके बाद मैं उन लोगोंको और आपको बुलाऊँगा। मीटिंगमें मैं आपको धमकी दूँगा, पर आप दबें नहीं और ख़ूब ज़ोरसे बोलें।."

इलाक़ेमें घूमकर हमने क़ानाफूसीमें लोगोंको समझाया कि सत्याग्रहके लिए स्वयंसेवक बाहरसे आयेंगे, तुम लोग डरो मत, सिर्फ़ साथ लगे रहो। इस तरह भयके वातावरणको दूर कर हमने गाँव-गाँवमें सत्याग्रहकी डोंडी पीटी और छापकर नोटिस बाँट दिया – पानी-सत्याग्रहके लिए पाँच हज़ार स्वयंसेवक तैयार। सारे इलाक़ेमें इससे सनसनी फैल गयी और तब एक दिन हमारी बुलाव हुई कलक्टरके बँगलेपर !

एक तरफ़ पाँच-सात बड़े लोग – शहरके, गाँवके – दूसरी तरफ़ हम दोनों और बीचमें कलक्टर साहब। उन्होंने बड़ोंका प्रतिनिधित्व आरम्भ किया : "आप लोगोंने घाड़के इलाक़ेमें बहुत गड़बड़ मचायी है। ज़मींदार लोगोंने जो कुएँ अपने रुपयेसे बनाये, वे उनके मालिक हैं, फिर चमार लोग ज़बरदस्ती उनपर कैसे चढ़ना माँगता ?"

मैंने ज़ोरसे चिल्लाकर कहा : "झूठ, बिलकुल झूठ !" और तब धीरेसे कहा : "इन कुओंमें ईंट-चूना ज़मींदारोंका लगा है और मेहनत-मज़दूरी चमारोंकी, इसलिए कुएँ साझेके हैं – ज़मींदारोंको कोई हक़ नहीं कि वे उन्हें पानी भरनेसे रोकें !"

कलक्टर साहबने पैंतरा बदला : "यह सिर्फ़ मिल्कियतका ही सवाल नहीं है, धर्मका भी सवाल है। देहातोंके राजपूत-ब्राह्मण लोग समझते हैं कि चमारोंके कुएँपर चढ़नेसे उनका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा।"

भाई बहादुरसिंह बोले : "कलक्टर साहब, ये बातें तो हम पहले ही सुन चुके हैं इन लोगोंसे, अब तो हम आपकी बात सुननेको आये हैं।"

कलक्टर साहब बोले : "हम अमनको ख़तरेमें नहीं पड़ने देंगे। आप लोग ज़बरदस्ती कुओंपर चढ़ेंगे, तो हमारा सिपाही गोली चलायेगा।"

मैंने पूरी तेज़ीसे कहा : "बस तो फिर बात ख़त्म हुई। ये लोग लाठी चलायेंगे, आप गोली मारेंगे और हम छातियाँ खोलेंगे और तब इस बातका फ़ैसला होगा कि गोलियाँ पहले ख़त्म होती हैं या छातियाँ।"

भाई बहादुरसिंह उछलकर खड़े हो गये और अपनी छातीको दम-दमाकर बोले : "कलक्टर साहब, पहली गोली इस छातीपर पड़ेगी।" हम दोनों नमस्कार कर चल दिये, पर तभी कलक्टर साहबने कहा : "अच्छा, आप लोग अभी बाहर बैठेगा।"

हम बरामदेमें बैठ गये। कलक्टर साहबने उन्हें समझाया कि ये लोग तो मरनेपर उतारू हैं और इनकी बात न मानी गयी तो बड़ा तूफ़ान हो जायेगा। थोड़ी देर बाद फिर हमें बुलाया गया और कलक्टर साहबने कहा : "कुएँ ज़मींदार लोगोंके हैं और चमारोंको उनपर चढ़नेका कोई हक़ नहीं है, फिर भी ये लोग चमारोंको पानी देना चाहते हैं, इसलिए हमने फ़ैसला दिया है कि कुएँके तीन तरफ़ ऊँची क़ौमका लोग पानी भरेगा और एक तरफ़ चमार लोग भरेगा। चमार लोग तीन तरफ़में चढ़ेगा, तो हम गोली चलायेगा; जाओ !"

हम चले आये। बाहर आते ही भाई बहादुरसिंह बोले : "पण्डितजी, आजकी रामलीला ख़ूब रही !" मैंने कहा : "हाँ, तुम्हारा अंगदका पार्ट बहुत शानदार रहा।" और हम दोनों खूब हँसे और हम क्या हँसे, वह सारा इलाक़ा ही हँस पड़ा !

दोनों घटनाओंके बीचमें बरसोंका अन्तर है और इन्हें हुए भी बरसों हो गये, पर मेरे सामने वे दोनों बराबर खड़ी हैं और मैं सोच रहा हूँ कि हमारी उस पाठशालामें भंगी बालकोंके लिए अलग रखे उस घड़ेमें और चमार बन्धुओंके लिए सुरक्षित कुएँके उस एक भागमें क्या अन्तर है ?

लो, यह रामलीलाके रावणसे भी लम्बा कौन आदमी मेरे सामने आ खड़ा हुआ ? आठ पैर, आठ हाथ, चार मुँह, राम रे राम ! ग़ौरसे देखता हूँ, तो पाता हूँ, यह एक आदमी नहीं है, ये तो कई आदमी ऊपर-नीचे खड़े हैं – नीचे भंगी है, ऊपर चमार है, ऊपर ज़मींदार है, ऊपर कलक्टर है। इनमें कोई भी अपने सिरपर ध्यान नहीं दे रहा, क्योंकि सिर दूसरेके पैरों-की बोझिल मसलसे सुन्न हो गया है। हाँ, अपने पैरोंके नीचे दबे सिरका सुख हरेक अनुभव कर रहा है–हाय रे, मनुष्यके सुख !

"चल बे उल्लूके पट्ठे।" और ठेलेवालेने भैंसेकी कमरपर एक हण्टर कसाकस फटकार दिया।

कौन है यह ठेलेवाला ? दिल्लीके मुग़ल बादशाहका वंशधर है और सरकारसे अब भी पाँच रुपये महीना पेन्शन पाता है।

ख्वाजा हसन निज़ामीने एक दिन इससे पूछा : शाहज़ादे, तुमने बिगड़े वक़्तमें यह ठेलेका काम क्यों अपनाया ?"

जवाब मिला : "ज़िस्ममें शाही ख़ानदानका ख़ून है। ख़ुश हों, तो इनाम और नाराज़ हों, तो सज़ा देनेकी तबीयत है। इस ठेलेसे रोटी तो मिलती ही है, पर तबीयत भी पूरी हो जाती है कि खुश हुए, तो इस भैंसे-को आटेका एक पेड़ा दे दिया और नाराज़ हुए, तो हण्टर फटकार दिया !"

क्या बात हुई यह ? यही कि शाहज़ादेसे ठेलेवाले रह गये, पर उसका

दुःख नहीं। नतीजा यह कि खोई प्रतिष्ठा पानेका कोई उद्योग भी नहीं है; क्योंकि शाहज़ादे साहबके सिरपर जो कीलदार बूट ठुके हुए हैं, वे उधर नहीं देखते; उनकी नज़र है अपने पैरोंपर, जिनके नीचे भैसेका सिर है !

मनुष्यका वास्तविक सुख क्या है ? यही कि उसका जीवन ऊँचा हो !

मनुष्यका जीवन ऊँचा कैसे होता है ? सत्कर्मोंसे !

जीवनकी यह कैसी विडम्बना है कि हम अपने जीवनकी ऊँचाईका ध्यान ही न करें, उसके लिए सत्कर्मोंकी साधना उपेक्षित पड़ी रहे और हमारे जीवनका सुख केवल इस बातपर निर्भर हो जाये कि दूसरे भी ऊँचे नहीं, नीचे ही हैं। दूसरे शब्दोंमें हमें अपनी उच्चतापर गर्व नहीं, दूसरोंकी नीचतापर सन्तोष हो !

पिताजीने एकबार कहा था: "बेटा, लौकिक सम्पत्तिमें हमेशा अपनेसे नीचे देखना चाहिए और पारलौकिक सम्पत्तिमें अपनेसे ऊपर !"

मैंने जब इस सूत्रकी व्याख्या पूछी, तो बोले : "यदि हमारे पास सौ रुपये हैं और हम देखें उस पुरुषकी तरफ़, जिसके पास दो-सौ रुपये हैं, तो हम एक ओर तो उसकी स्थितिसे ईर्ष्या करेंगे और दूसरी ओर अपनी स्थितिपर दुःखी होंगे। इसके विरुद्ध यदि हम उस दो-सौ रुपयेवालेकी तरफ़ न देखकर, उसकी तरफ़ देखें, जिसके पास पचास ही रुपये हैं, तो हम एक ओर तो अपनी स्थितिपर सन्तोष करेंगे और दूसरी तरफ़ उस पचासवाले पड़ोसीको समयपर सहायता देनेकी सद्भावना हमारे मनमें उपजेगी।

यह है लौकिक सम्पत्तिकी बात, पर पारलौकिक सम्पदामें दूसरी दृष्टिकी आवश्यकता है। हम यदि ईमानदारीका जीवन व्यतीत करते हैं, तो अपनेसे नीचे उस आदमीकी तरफ़ न देखें, जो बेईमानीका जीवन व्यतीत करता है, पर अपनेसे ऊँचे उस आदमीकी तरफ़ देखें, जो ईमानदारीका जीवन तो व्यतीत करता ही है, पर दानी भी है ! इसका फल यह होगा कि हम अपनी उच्चतापर गर्व करनेके अभिशापसे बच जायेंगे !"

पिताजीके इस सूत्र और उसकी व्याख्यामें देखनेकी कलाका पूरा

व्याकरण समाया हुआ है। व्याकरणको भूलनेसे भाषा अशुद्ध हो जाती है। इस व्याकरणको भूलनेसे देखनेकी कला अशुद्ध हो गयी है। फलस्वरूप व्यक्ति व्यक्तिको, जाति जातिको, सम्प्रदाय सम्प्रदायको और राष्ट्र राष्ट्रको हीन करके खड़ा है और नक़्शा वही है कि हरेकके सिरपर किसीके पैर हैं, तो हरेकके पैरों तले किसीका सिर है!

यह मायाचक्र कैसे खण्डित हो?

यह अस्वाभाविक स्थिति कैसे बदले?

इसके दो उपाय हैं: उतरें या गिरा दिये जायें!

जो सबसे ऊपर है, वह स्वेच्छासे, अपने कर्मको अनुचित समझ, स्वयं नीचे उतर आये और दूसरोंको भी वैसा करनेमें सहयोग-प्रेरणा दे। ऐसा न हो, तो फिर सबसे नीचेवाला एक बार हिम्मत बाँधकर अपना सिर इतने ज़ोरसे हिलाये कि सब ऊपरवाले आँधीके आम-से धड़ामसे टपक पड़ें!

विश्वके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण युग-प्रश्न ही यह है कि ऊपरवाले स्वेच्छासे नीचे उतर, समताके स्रष्टा बननेका सुयश लेंगे या अपनी ही रची विषमताका शिकार हो, धमाका-धड़ाका देखेंगे?

एक कार्ड, तीन पत्र

यह आया है फटे कोनेका कार्ड कि वे मर गये और अमुक तिथिको होनेवाले उनके अन्त्येष्टि-संस्कारमे मैं सम्मिलित होऊँ, क्योंकि मैं भी उनका एक अपना था। यह कार्ड एक सूचना है।

कार्ड पढ़कर मनमे विचारोंकी एक लहर-सी आ गयी। सोचा यह कार्ड एक सूचना है कि वे मर गये और सूचना है कि एक दिन मेरा भी ऐसा ही अन्त्येष्टि-संस्कार होगा और मेरे अपनोंको भी ऐसे ही फटे कोनेके कार्ड भेजे जायेंगे।

मैंने उस कार्डको फाड़कर रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिया। ऐसे अशुभ कार्डोके साथ व्यवहारकी यही परम्परा है। सोचा : मेरे मरनेके कार्डोकी भी यही हालत होगी और उन्हे भी मेरे अपने इसी तरह फाड़कर फेंक देंगे।

कई आवश्यक काम सामने थे। मैं उनमें लग गया और लगते-लगते सोचा कि मेरे मरनेका कार्ड पढ़-फाड़कर दूसरे भी इसी तरह अपने-अपने कामोंमे लग जायेंगे।

तन-मनमें बिजलीका एक झन्नाटा-सा निकल गया – क्या मेरी मृत्यु इतनी नगण्य है ?

तन-मनमे मलय पवनका एक झोंका-सा खेल गया – जीवनमें मृत्युका स्थान इतना नगण्य न होता, तो लाखों साल बीत गये कि मृत्यु अपने भयंकर जबड़ोंमें जीवनको चबा रही है, फिर भी जीवन-ही-जीवन चारों ओर क्यों लहराता ?

जीवनकी यह कितनी बड़ी सचाई है कि विध्वंससे निर्माण महत्त्वपूर्ण है और संसारमें भले ही जगह-जगह श्मशान हों, पर उसकी उल्लेखनीय और

स्मरणीय चीज़ तो उपवन ही हैं। बंजर धरतीपर है, रहेंगे भी, पर लह-लहाते खेतोंको छोड़कर उनके गीत कौन गायेगा ?

कौन है जो इस प्रश्नका उत्तर हाँमें दे ? ठीक है, कोई नहीं है, पर यह भीतरमें उभरता आ रहा है एक पैना-पैना प्रश्न : तब क्या मृत्यु इतनी नगण्य है कि उसपर मनुष्यके मनमें कोई भाव ही न उठे ? कौन है, जो इस प्रश्नका उत्तर हाँमें दे ?

समवेदना मनुष्यका एक सर्वोत्तम गुण है; क्योंकि इसीके गर्भसे सेवा और सहयोगका जन्म होता है। सेवा मनुष्यकी उच्चताका माप-दण्ड है, तो सहयोग स्वस्थताका और ये सब मिलकर ही मनुष्यके पूर्ण व्यक्तित्वका निर्माण करते हैं। समवेदनाका सर्वोत्तम प्रस्फुटन मनुष्यमें किसीकी मृत्युके क्षणोंमें ही होता है, तो क्या हम मानें कि मृत्यु जीवनका एक महान् दुःख है और कहें कि वह नगण्य नहीं; एक अग्रगण्य तत्त्व है ?

लगता है हम उलझ रहे हैं, पर सुलझनेकी राह यह है कि हम यह जाने रहें कि मृत्युके समय सारे वातावरणपर जिस दुःखका धुआँ छा जाता है, वह दुःख असलमें है क्या ? वह दुःख यह है कि जीवनका एक दीप बुझ गया – एक व्यक्ति जीवनके आनन्दका उपभोग करनेसे वंचित हो गया; तो मुख्य है जीवन – मृत्यु तो एक दुर्घटना है और हमारी समवेदना उस दुर्घटनासे पाठ लेकर जीवनको आनन्दमय एवं स्वस्थ बनानेके प्रयत्नोंकी भाव-भूमि है।

मेरे पुत्र अखिलेशकी होनहार पुत्री अर्चनाकी अचानक मृत्यु हो गयी, तो मुझे बहुत-से बन्धुओंके पत्र मिले। उनमें तीन पत्र समवेदनाके तीन रूप अपनेमें समाये हुए हैं। वयोज्ञानवृद्ध श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजकने लिखा : "जब कोई बच्चा मर जाता है, तो उसके लिए बड़ी प्रसन्नता मनानी चाहिए; क्योंकि प्रभु बोझ हलका कर देते हैं, माता-पिताकी ज़िम्मे-दारी कम हो जाती है। आनन्दका मूल्य अनासक्ति है।"

वीरता, बलिदान और आदर्शके चारण श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी'ने

लिखा : "अखिलेशके दुःखकी कल्पना करता हूँ, पर कृपया उसे स्मरण करा दें कि वह 'प्रभाकर'की सन्तान है और 'महारथी'का बच्चा। उसके जीवनमें दुःख और निराशाके लिए स्थान कहाँ ?"

दैनिक 'नवभारत टाइम्स'के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैनने लिखा : "अजीब-सी बात है कि आज सुबह जब मैं घरसे दफ़्तरके लिए चला, तो मेरे बड़े पुत्र विजयके देहावसानकी चर्चा अनायास ही पत्नीने कर डाली और दफ़्तरसे आकर पता चला कि आयुष्मान् अखिलेशकी मुन्नीके साथ भी इसी प्रकारकी घटना घटी।

ऐसे अवसरोंपर प्रायः दार्शनिक रूपसे चर्चा करनेकी परिपाटी है, पर मेरा तो अनुभव और धारणा है कि ऐसे अवसरोंपर ही मानवके अन्तःकरण-के संवेदन-शील तत्त्व प्रकट हो सकते है और उन्हें दबानेकी कोई कोशिश नहीं होनी चाहिए। इसीलिए समवेदनाके दो शब्द मैं आपको लिखनेका साहस कर रहा हूँ।"

तीनों पत्र-लेखक मेरे अपने हैं और तीनोंकी भावना है कि मेरा दुःख हलका हो, मैं उस दुःखसे बचकर जीवनका आनन्द लेनेके काममें लगूँ, पर तीनोंकी प्रक्रिया भिन्न है। यह दृष्टिकोणकी भिन्नता है। स्वामीजीका दृष्टि-कोण धार्मिक है कि भगवान्ने एक उत्तरदायित्व दिया था, उसे वापस ले लिया, तो कामका बोझ हलका हुआ, इसमें रोनेकी क्या बात है ? सृष्टिका संचालन भगवान्के हाथ है और वे जो भी करते है, वह शुभ ही होता है, तो मनुष्य शुभमें अशुभकी कल्पना क्यों करे ? दो-तीन पंक्तियोंमें स्वामीजीने मृत्युका यथार्थ दे दिया और जो इस यथार्थको पा लेगा वह दुःखी हो ही नहीं सकता – उसके लिए दुःखकी कोई बात है ही नहीं !

ठीक है मृत्युमें दुःखकी कोई बात नहीं है; गीताके अनुसार जैसे हम पुराने वस्त्र बदलकर नये पहनते हैं, वैसे ही पुरानी देह छोड़कर नयी ले लेते हैं, पर इस यथार्थका ज्ञान तो सुगम है, अनुभव कठिन – बहुत कठिन। इस स्थितिमें आत्मीयकी मृत्युको हम दुःखहीन मानें, यह हर एकके लिए

सम्भव नहीं है । तब महारथीजीके दृष्टिकोणका उपयोग है । यह दृष्टिकोण एक बहादुर आदमीका दृष्टिकोण है, जो जीवनको तपोभूमि नहीं, युद्धभूमि मानता है : अरे भाई, जीवन एक युद्ध है; इसमें हाथ-पैर भी टूटते हैं, सिर भी कटते हैं । चोटपर मरहम-पट्टी करना नर्सोंका काम है और मुरदोंको श्मशान पहुँचाना मज़दूरोंका, योद्धाका काम लड़ना और लड़ते रहना है । कौन गिर गया और कौन नहीं, इसपर ध्यान देनेकी उसे कहाँ फ़ुरसत है ? द्रोणाचार्य युद्धके बीच बेटेकी मृत्युका लेखा-जोखा देखने लगा, तभी तो मारा गया !

बात ठीक है कि स्वयं जिसके सिरपर मौत मँडरा रही है, जिसे स्वयं जाने कब मृत्युका ग्रास हो जाना है, वह दूसरेकी मृत्युपर मुँह लटकाये या आँसू बहाये, तो एक मज़ाक़ ही है । इस मज़ाक़का समर्थन न तत्त्वज्ञानी कर सकता है, न योद्धा—वीर, पर एक मार्मिक प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य तत्त्वज्ञानी और योद्धा ही है कि वह अपने चारों ओरके वातावरणसे निर्लिप्त होकर जिये ?

इस प्रश्नका उत्तर हर समय हमें देना कठिन है और कठिनताके इन्हीं क्षणोंमें श्री अक्षयकुमार जैनके दृष्टिकोणका उपयोग है । अपने आदमीकी मृत्यु होनेसे आज 'क' दुःखी है । कल 'ख' भी यह दुःख भोग चुका है, इसलिए वह 'क' के दुःखको समझता है और उसका मानवीय कर्तव्य है कि वह 'क' के दुःखमें सम्मिलित हो, उसका दुःख अपनी समवेदना देकर घटाये-बढ़ाये और अपने व्यवहारसे सिद्ध करे कि वह दुःखकी इन घड़ियोंमें अकेला नहीं है — उसके पड़ोसी, उसके मित्र, उसके साथ हैं ।

यह जीवनका मध्यम मार्ग है : तू मेरा, मैं तेराका यह समझौता है, दुःखके बोझसे मनुष्यको टूट-गिरनेसे बचानेवाला यह आपसी सहयोग है । इसकी सफलता यह है कि इसमें तत्त्वज्ञानी और योद्धाके दृष्टिकोणका समन्वय कर हम आगे बढ़ें, जिससे हमारी समवेदना दुःखीके दुःखमें सहायक तो हो, पर एक नया बोझ न बन बैठे ! दूसरे शब्दोंमें हम स्वयं दुःखके बोझसे

इतने न दब जायें कि अपने हाहाकारसे दुःखीके मनको और भी घने दुःखसे भर दें और उसे उद्‌बोधनका सहारा भी न दे पायें !!

इसमें एक ख़तरा भी है कि हमारी निःस्पृहता इतनी बौद्धिक हो जाये कि वह हमारी समवेदनाकी हार्दिकता ही ख़त्म कर दे और हमारा उद्-बोधन एक पेशेवर प्रचारककी टाँय-टाँय रह जाये या एक अभिनय ही। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शीने अपनी आत्मकथामें समवेदनाके अभिनयका जो चित्र दिया है, वह शायद संसारके साहित्यमें अनुपम है। उनके बुज़ुर्ग थे श्री अधुभाई काका। सब उन्हें सरकार कहा करते थे। बड़े प्रतापी पुरुष थे। उन्हींकी गाथा है :

"किसीके यहाँ मृत्यु होनेपर समवेदना प्रकट करनेके लिए यदि सरकार चले जाते, तो बड़ी कृपा समझी जाती। श्मशानसे आदमी लौटते और ख़बर मिलती कि सरकार आ रहे हैं, तो नौकर हाज़िर हो जाता; चबूतरेपर चौकी डाली जाती और सब लोग प्रतीक्षामें खड़े हो जाते। सरकार स्वच्छ धोता पहन-ओढ़कर रोते-रोते आते। उनका मुँह लाल हो जाता। आँखोंसे अश्रु-धारा बह निकलती। वे सुन्दर शब्दोंमें मृत व्यक्तिकी प्रशंसा करते। शंकरा-चार्यके वचनों-द्वारा वैराग्यका बोध देते और जैसे नाटकमें राजा आकर चला जाता है, वैसे ही तत्काल चले जाते।

एक बार मैं साथ गया था और साथ ही वापस आया था। अधुभाई काकाकी लगन देखकर मैं दंग हो गया। सामने ही उनका अपना घर था। उसमें पैर रखा कि उनका मुँह बदल गया, आँखोंके आँसू सूख गये और वे तिरस्कारपूर्वक बोले : ऊँह, एक बड़ा लड़का मर गया, तो जैसे पृथ्वी रसा-तल चली गयी ! सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया।"

जीवनमें वेदनाका भाव है, सुखकी फुहार है, तो दुःखकी कचोट भी है और यह है तो समवेदना भी है ही, पर समवेदनाकी कसौटी क्या है ? असली समवेदना वह है कि जिससे दुःखीका दुःख हलका हो, वह उसे कुछ देरके लिए भूले !

इसे समझनेकी आवश्यकता है। वेदनाके घावको भरनेकी शक्ति केवल समयमें है – समयका प्रवाह धीरे-धीरे वेदनाको हलकी और सहज बना देता है, पर समय अपना काम धीरे-धीरे करता है, तो दुःखकी चोट और समय-की चिकित्साके बीचकी कड़ी (एक रिलीफ़ – सान्त्वना) है यह समवेदना, जो दुःखीको प्रतीक्षाका धीरज देती है।

इसके लिए जहाँ यह आवश्यक है कि हमारी समवेदना बौद्धिक या नक़ली न हो, यह भी आवश्यक है कि वह फूहड़ न हो ! फूहड़ समवेदना क्या-कैसी ? रहमानका बेटा गफ़्फ़ार छतसे गिरकर मर गया, तो श्यामसिंह समवेदनाके लिए पहुँचा। रहमान बिलखकर रो चुका था और दो दिन बाद आज बड़ी मुश्किलसे उसकी पत्नी और बेटीने उसे थोड़ी-सी चाय पिलायी थी। श्यामसिंहने आते ही गफ़्फ़ारकी चर्चा छेड़ दी और खोद-खोदकर उसके छतसे गिरने, घायल होने, तड़पने और मरनेकी कहानी सुनी। रह-मानके दुःखका बाँध फिर टूट गया और उसके घाव फिरसे हरे हो आये। यह श्यामसिंहकी फूहड़ समवेदनाका फल था।

समवेदनाका काम दुःखको दबाना है, दबे दुःखको उभारना नहीं। हम घावको सहलायें, उसपर मरहम लगायें, उसे टंकोरें नहीं, उधेड़ें नहीं, पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि वहाँ बैठे हम बार-बार पान चबाया करें और महफ़िली फुलझड़ियाँ छोड़ा करें। हमारी सीमा वहाँतक है कि जहाँतक हम दुःखीको अपने साथ ले सकें – हम दुःखीको समवेदना दें, पर हमारी सम-वेदना नक़ली न हो, फूहड़ न हो !

श्रम-जीवियोंको प्रणाम

उस दिन मैं देहलीमें था। तीसरे पहर ज़रा भूख लगी, तो भाई श्याम-लाल जैन बोले : "चलो, तुम्हें एक बहुत बढ़िया चीज़ खिलाकर लाऊँगा।" चाँदनी चौकमें उनके दफ़्तरके सामने सेण्ट्रल बैंककी सीढ़ियोंके कोनेपर, एक मटकेवाला बैठता है, वहाँ वे रुके। इस मटकेमें दही थी, पकौड़ियाँ थीं और मटका बहुत बड़ा था। अभी पाँच बजे थे, पर मटका ख़ाली हो चला था। मेरे मित्रने बताया कि यह एक-दो मटके रोज़ बेचता है। हम चाट खाने लगे। सामने दूसरी ओर मुँह किये दो युवतियाँ भी चाट खा रही थीं। बात-चीतसे दोनों कॉलेज-गर्ल-सी दिखाई दीं। एक ओर साहबी ठाठके दो मित्र चाट खा रहे थे। एक चन्दनधारी पण्डितजी आये, उन्होंने भी एक पत्ता लिया। ज़रा देर बाद एक झाबेवाला मज़दूर आया और उसने भी एक पत्ता लिया। पता नहीं, कितनी मेहनतोंका फल थे ये दो आने!

मैं देखता रहा सब कुछ, पर मेरा ध्यान केन्द्रित था, उस चाटवाले-पर – उसके हाथोंमें तेज़ी, मस्तिष्कमे शान्ति, चेहरेपर सन्तोष, आँखोंमें आनन्द और मुँहमें मिश्री-सी वाणी। मुझपर इस वातावरणका गहरा प्रभाव पड़ा और मनमें एक नया भाव आया, पर उसे ठीक भाषा न मिली।

"आओ, अच्छा एक और चीज़ तुम्हें खिलाऊँ।"

मेरे मित्र बोले और हम दोनों कुछ दूर आगे जाकर, एक आलूकी टिकियावालेके सामने रुके। यहाँ भी वही हाल था। टिकिया सिकती न थी, ग्राहक तैयार रहता। इस दूकानदारके चेहरेपर भी सन्तोषकी आभा थी। मेरे भीतर जो भाव घूम रहा था निराकार-सा, वह अब भाषा भी पा गया।

हम अपनी शक्तिका माप लिये बिना, बड़े-बड़े हवाई महल खड़े करते हैं और हमारा प्रयत्न होता है कि हमें वे महल ज़मीनपर खड़े दिखाई दें। इस उद्योगमें हम अपना तन, मन, धन, जीवन, यौवन और सुख-शान्ति सब फूँक डालते हैं, पर वे महल नहीं बनते, आसमानसे ज़मीनपर नहीं उतरते और यों ही रोते-रोते हमारा अन्त हो जाता है। उन ऊँचे महलोंका मिथ्या आकर्षण हमे हमारे चारों ओर बिखरी छोटी-छोटी, पर निश्चित और सुख-भरी सफलताओंकी ओर नहीं देखने देता।

आज यह सट्टेका बाज़ार क्यों गरम है ? लाटरीके नामपर लाखों रुपये हर साल देश क्यों लुटाता है ? राजनीतिमें यह नेतागिरीकी दौड़-धूप क्यों है ? और साहित्यमें जिसे देखिए, वही अपना युग चलानेके लिए क्यों आकुल है ? काश, ये बड़े स्वप्न इन आँखोंमें न बसे होते, तो आज अन्धकारमें भटकनेवाले हज़ारों युवक शान्तिका जीवन व्यतीत करते होते। ऊँचे महलोंका यह आकर्षण इतना उग्र है कि हमें भटका देता है और हम एक अच्छा सुखदायक घर बनानेसे वंचित रह जाते हैं !

एक पुरानी याद मेरी आँखोंमें घूम गयी। यों ही एक बार हँसी-हँसीमें मेरे मित्र श्री अलगूराय शास्त्रीने कहा : "मैं तो राष्ट्रपति (उन दिनोंका काँग्रेस-प्रधान) होना चाहता हूँ।" मैंने पूछा : क्यों ? तो बोले : "मुझे अपना शानदार जलूस निकलवानेकी इच्छा है।"

इसके कुछ साल बाद मैंने उन्हें तहसीली राजनैतिक कान्फ्रेन्सके सभापति रूपमें देवबन्द बुलाया। मास्टर काशीरामजीके उद्योगसे जलूस इतना शानदार निकला कि क्या कहने ! स्वागताध्यक्षके रूपमें मैं शास्त्रीजीकी गाड़ीमें था। बाज़ारमें पहुँचकर जब जलूस अपने पूरे रंगपर आया, तो अपनी सहज मस्तीमें झूमकर शास्त्रीजी बोले : "बस भाई, अब राष्ट्रपति बननेकी मेरी इच्छा नहीं रही।"

मैंने पूछा : क्यों ? तो बोले : "बस इससे सुन्दर, व्यवस्थित और शान-

दार जलूस वहीं क्या निकलेगा ? हाँ, कुछ बड़ा हो सकता है, पर जैसा छोटा मैं, वैसा ही मेरा जलूस। बस, भर गया मन और हो गया मैं राष्ट्रपति। इस समय मुझे लग रहा है कि कलकत्तेमें पण्डित मोतीलाल नेहरूकी जगह मेरा ही जलूस निकला था !!"

बात हँसीकी थी, हँसीमें टल गयी, पर उनकी बातमें जो गहराई थी, उसे मैं आज समझा। दूसरोंकी सफलताका बाहरी रूप देखकर, हम जो अपनेको बिना देखे, बिना तोले, नक़्शे बनाते हैं, वे तो पूरे होते नहीं—हो सकते ही नहीं, पर जो पूरे हो सकते थे, वे भी रह जाते हैं। अगर शास्त्रीजी राष्ट्रपति होनेका प्रोग्राम बनाकर दौड़ पड़ते, तो जो सम्मान उन्हें प्राप्त है, वह न होता और उनकी दशा बेचारे एम० एन० रायसे भी गयी बीती हो जाती !

मन-ही-मन मैंने कहा : सफल श्रम-जीवियोंको प्रणाम।